



सच्चं लोगम्भि सारभूयं

महाकविहाल विरचित

# गाथासप्तशती

२४५

अनुवादक

पं. विश्वनाथ पाठक



पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी - ५

PĀRŚVANĀTHA ŚODHAPĪṬHA, VĀRĀṄASĪ-5

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला-७७

प्रधान सम्पादक-डॉ० सागरमल जैन

महाकविहालविरचित

# गाथासप्तशती

अनुवादक

पं० विश्वनाथ पाठक

प्रकाशक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

वाराणसी-५

१९९५

प्रकाशक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

आई० टी० आई० रोड,

पो० आ०-बी० एच० यू०

वाराणसी-५

दूरभाष ३११४६२

प्रथम संस्करण : १९९५

मूल्य-एक सौ बीस रुपये

मुद्रक :

वर्द्धमान मुद्रणालय

जवाहरनगर, वाराणसी

## प्रकाशकीय

प्राकृत भाषा की अपनी स्वाभाविक मधुरिमा के साथ शील और अश्लील की मर्यादा से ऊपर उठकर यथार्थ लोक जीवन का सहज चित्रण गाथासप्तशती की अपनी विशिष्टता है और यही कारण है कि प्रस्तुत ग्रन्थ प्राकृत साहित्य के कुछ शीर्षस्थ ग्रन्थों में अपना स्थान रखता है। वास्तव में श्रृंगार की अभिव्यक्ति के माध्यम से लोकजीवन के यथार्थ के प्रस्तुतीकरण में इस ग्रन्थ की कोई तुलना नहीं है। प्राकृत काव्य ग्रन्थों की यह विशिष्टता होती है कि वे अकृतिम रूप से जितने सौष्ठव के साथ यथार्थ जीवन को सहज अभिव्यक्ति दे देते हैं, वैसी अभिव्यक्ति-सामर्थ्य संस्कृत काव्य साहित्य में नहीं पायी जाती। संस्कृत काव्य साहित्य में कवि के द्वारा अपने वैदुष्य के प्रकटन की भावना के कारण जो कुछ दुरूहता एवं कृत्रिमता आ जाती है उससे प्राकृत साहित्य प्रायः मुक्त रहता है और यही कारण है कि वह सीधा पाठक के हृदय को संस्पर्श करता है। कुछ लोगों को यह आपत्ति हो सकती है कि 'पार्ष्वनाथ विद्यापीठ' जैसी मूल्यनिष्ठ संस्था के लिये इस प्रकार के काम-प्रधान साहित्य का प्रकाशन उचित नहीं है किन्तु इसके प्रकाशन में हमारा जो उद्देश्य है वह महाराष्ट्री के इस प्राचीनतम महत्त्वपूर्ण ग्रंथ को प्राकृत भाषा की प्रकृति के अनुरूप एक मर्यादा में प्रस्तुत करना है। क्योंकि अभी तक 'गाथासप्तशती' की जो अनेक व्याख्याएँ प्रकाशित हैं, उनमें उसके अश्लोल पक्ष को इतना अधिक उभारा गया है कि उसके काव्य सौन्दर्य पर स्पष्टतः आघात हुआ है। इसी दृष्टि से हमने उसकी अति व्याख्या में न जाकर गाथाओं का मात्र शब्दानुसारी अनुवाद ही प्रस्तुत किया है।

यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि 'गाथासप्तशती' में शील और चारित्र्य को सम्पुष्ट करने वाली भी अनेक गाथाएँ हैं जिन्हें नजर-अंदाज कर केवल एक पक्ष को महत्त्व देना, काव्य भावना के साथ न्याय नहीं होगा। इस अनुवाद को प्रकाशित करने की आवश्यकता इसलिये भी थी कि पूर्व की व्याख्याओं में इसकी अनेक गाथाओं को अस्पष्ट कहकर छोड़ दिया गया था। आज जब प्राकृत का पठन-पाठन समाप्त-

प्रायः सा है, इन अस्पष्ट गाथाओं की व्याख्याएँ प्रस्तुत कर देना एक महत्त्वपूर्ण कार्य है और यही इस अनुवाद की विशिष्टता है।

हम पं० विश्वनाथ पाठक के अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने संस्थान के अपने सीमित कार्यकाल में इन दुरूह गाथाओं का बोधगम्य अर्थ स्पष्ट करके यह कृति हमें प्रकाशनार्थ दी।

विद्यापीठ के निदेशक प्रो० सागरमल जैन, शोधाधिकारी डा० अशोक कुमार सिंह एवं डा० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने प्रस्तुत कृति के प्रकाशन सम्बन्धी सारी व्यवस्थाओं को सम्पन्न किया, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं।

ग्रन्थ के प्रूफरीडिंग का कार्य श्री असीम कुमार मिश्र एवं डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी ने सम्पन्न किया एतदर्थ वे दोनों धन्यवाद के पात्र हैं।

ग्रन्थ के सजीव मुद्रण कार्य हेतु वर्द्धमान मुद्रणालय के श्री राजू भाई भी धन्यवाद के पात्र हैं।

भवदीय  
भूपेन्द्रनाथ जैन  
मंत्री

# गाथासप्तशती की अस्पष्ट अतिरिक्त गाथाओं का अर्थ निरूपण

—विश्वनाथ पाठक

पौरस्त्य और पाश्चात्य विद्वानों ने गाथासप्तशती पर पुष्कल टीकायें रची हैं। डॉ० जगन्नाथ पाठक ने सभी उपलब्ध टीका-साहित्य का अवलोकन कर विमर्श के साथ प्रकाश नामक अभिनव व्याख्या प्रस्तुत की है। वह चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी से १९६९ ई० में प्रकाशित हुई है। व्याख्याकार ने गाथासप्तशती की सभी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में समान रूप से उपलब्ध होने वाली गाथाओं को ही प्रामाणिक माना है। जो गाथायें सभी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में नहीं मिलतीं, किसी-किसी में ही संगृहीत हैं उन्हें ग्रन्थ के उत्तरार्ध में स्थान देकर हिन्दी में अनूदित किया है। गाथासप्तशती के उक्त चौखम्बा-संस्करण के उत्तरार्ध में मुद्रित अनेक अतिरिक्त गाथाओं का प्राकृतपाठ भ्रष्ट एवं खंडित है। अतः उनकी व्याख्या नहीं की जा सकी है, वे अस्पष्टार्थ खंडित और अशुद्ध कहकर छोड़ दी गई हैं। इसके अतिरिक्त कतिपय ऐसी रसपेशल श्रेष्ठ गाथायें भी हैं जिनका साहित्यिक-स्तर ही भ्रामक और अनर्गल व्याख्या के कारण नीचे गिर गया है।

जिन अनुपम काव्यामृतनिष्पन्दभूत गाथाओं की रचना में कभी अनेक प्रतिभामण्डित महाकवियों ने सुयश की मधुर कल्पना से समाहित होकर अपना मानसिक भ्रम और अमूल्य समय लगाया था वे ही आज प्रमत्तप्रलापवत् निरर्थक बन गई हैं, इससे अधिक दुर्भाग्य और क्या हो सकता है? अतः संग्रह-ग्रन्थों में कूड़े की तरह उपेक्षित पड़ी हुई, लिपिकर्ताओं के प्रमाद से अभिशप्त, अशुद्ध एवं खण्डित गाथाओं के स्वरूप और अर्थ का समुचित संघटन नितान्त आवश्यक कार्य है। यद्यपि किसी प्राचीन कवि की उपलब्ध रचना में अपनी ओर से कुछ घटाना-बढ़ाना अथवा अन्यथा करना अनधिकार-चेष्टा है तथापि उसे निरर्थकता के अभिशाप से मुक्त कर देने में कोई दोष नहीं है। मैंने अर्थसंघटन के लिये गाथाओं के उपलब्ध पदों का ही यथासंभव उपयोग करने का प्रयास किया है। छन्द की दृष्टि से मात्राओं की अधिकता या न्यूनता की स्थिति में किञ्चित् परिवर्तन करना पड़ा है। विकृत एवं निरर्थक पदों को सार्थक बनाने के लिये लुप्त मात्राओं या वर्णों का अनुसन्धान, अनर्गल अनुप्रविष्ट अक्षरों का परिहार, अन्यथाभूत वर्णों अथवा मात्राओं के वास्तविक स्वरूप का अवधारण और अपने

स्थान से परिच्युत होकर अन्यत्र सन्निविष्ट वर्णों का समुचित स्थान पर संस्थापन अनिवार्य था ।

अब आगे गाथाओं का अर्थनिरूपण प्रस्तुत है । प्रत्येक गाथा के दक्षिण पार्श्व में चौखम्बा-संस्करणानुसार गाथांक दे दिया गया है । नीचे उसकी सदोष व्याख्या और टिप्पणी उद्धृत है ।

## १. एत्तीमत्तम्मि थवा पुत्तीमत्तम्मि लअणा भत्तो ।

अगईअ अवत्थाए दिअहाइं भित्तरं तरइ ॥ ७०८ ॥

“अर्थअस्पष्ट”

प्रस्तुत गाथा का पाठ छन्द और व्याकरण की दृष्टि से भ्रष्ट है । द्वितीय पाद में एक मात्रा कम है । यदि लअणा के आदि में ख और जोड़ दिया जाये तो एक मात्रा की पूर्ति के साथ-साथ सार्थक पद ‘खलअणा’ ( खलजनाः ) बन जायेगा । इस बहुवचनान्त पद को एक वचन में ‘खलअणो’ पढ़ें तो पादान्त में अवस्थित ‘भत्तो’ और छन्द के अन्त में प्रयुक्त ‘तरइ’ क्रिया से अन्वय संभव हो जायेगा । प्रथम पाद के प्रारम्भ में ‘एत्तीमत्तम्मि’ पाठ है और द्वितीय पाद के प्रारम्भ में पुत्तीमत्तम्मि । गाथा की भंगिमा को देखते हुये दोनों स्थलों पर एक ही पद उचित प्रतीत होता है । हम अर्थानुरोध से पुत्तीमत्तम्मि को मुत्तीमत्तम्मि पढ़ते हैं क्योंकि लिपि-दोष से मु का पु हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है । एत्ती-मत्तम्मि के सम्बन्ध में भी वही बात है । ए का उपरितन भाग तो म के समान है ही, अघस्तन भाग भी उकार की मात्रा-विकृति का परिणाम है । अतएव उभयत्र मुत्तीमत्तम्मि पाठ स्वीकार्य है । थवो को थवा भी पढ़ना संभव है । इससे अर्थावगति बाधित नहीं होगी । अब सम्पूर्ण गाथा की निम्नलिखित सार्थक आकृति बनती है—

मुत्तीमत्तम्मि थवो मुत्तीमत्तम्मि खलअणो भक्तो ।

अगईअ अवत्थाए दिअहाइं भित्तरं तरइ ॥

इसकी संस्कृतच्छाया यों होगी—

मुक्तिमात्रे स्तवो मुक्तिमात्रे खलजनो भक्तः ।

अगत्या अवस्थाया दिवसानभ्यन्तरं तरति ॥

गाथा में मोक्ष के अभिलाषुक किसी ऐसे तरुण का वर्णन है जो सतत स्तोत्र का पाठ करता रहता है और अपने प्रति प्रणयोच्छ्वसित कामिनी की ओर दृष्टि-पात भी नहीं करता । वह तरुणी परोक्ष मोक्ष के लिये उपस्थित प्रत्यक्ष विषय-

सुख का परित्याग कर दुराग्रह पूर्वक कठोरतपःक्लेश भोगने वाले तरुण को दुष्ट समझती हुई कुढ़ कर कहती है—

( उसका ) स्तोत्र मुक्तिमात्र है, मुक्तिमात्र में भक्त खल मनुष्य असहाय ( अगति ) अवस्था के भीतर दिवस व्यतीत करता है । उक्त तरुणी अपनी ही स्तुति ( प्रशंसा ) और अपनी ही भक्ति ( अनुराग ) चाहती थी किन्तु तरुण उसके अनुकूल व्यवहार नहीं कर रहा था, और विषयसुख का परित्याग कर तपस्या का कष्ट भोग रहा था, अतः वह चिढ़ कर उसे दुष्ट कह रही है । गाथा में प्रयुक्त मात्र और खल शब्द तरुणी के प्रति तरुण की अनासक्ति एवं तरुण के प्रति तरुणी के आक्रोश की अभिव्यक्ति करते हैं ।

## २. सोवि जुआ माणहणो तुमं वि माणस्सअसहणा पुत्ति ।

मत्तच्छलेण गम्मउ सुराइ उवर्णि पुससु हत्थं ॥७१०॥

सोऽपि युवा मानधनस्त्वमपि मानस्यासहना पुत्रि !

मत्तच्छलेन गच्छ सुराया उपरि स्पृश हस्तम् ॥

इस गाथा के उत्तरार्ध के अर्थ को अस्पष्ट कहकर पूर्वार्ध का अनुवाद इस प्रकार दिया गया है—

“वह तरुण भी मानी प्रकृति का है और हे पुत्रि ! तू भी किसी का मान ( शान ) बर्दाश्त नहीं करती ।”

उत्तरार्ध का भाव हृदयंगम करने के लिये गाथा का प्रसंग-निर्देश अनिवार्य है । मानी नायक और मानिनी नायिका एक दूसरे से पृथक् रहने लगे हैं, कोई किसी से संपर्क नहीं कर रहा है । कोमल-हृदया नायिका अधिक समय तक मान का निर्वाह न कर सकने के कारण अधीर हो गई है । वह नायक से मिलने के लिये अकुला रही है परन्तु अपने मान की प्रतिष्ठा बचाने के लिये लज्जावश उसके निकट नहीं जा रही है । कुशल दूती यह रहस्य जान लेती है । वह उसे परामर्श देती है कि तुम मदिरा से मतवाली हो जाने का छल ( बहाना ) करो और नायक के निकट चली जाओ । वह बेचारा तो यही समझेगा कि तुम नशे में अपनी सुध-बुध खोकर संयोगवश यहाँ आ गई हो । इस प्रकार प्रतिष्ठा भी बच जायेगी और प्रियतम का सुखद संयोग भी सुलभ हो जायेगा । इसके पश्चात् तुम मदिरा से हाथ पोंछ लेना ( अर्थात् मदिरा कभी मत पीना । ) अब गाथा के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध का सम्मिलित अर्थ यह होगा—

हे पुत्रि ! वह युवक भी मान का धनी है और तुम भी मान को नहीं सह सकती हो । अतः मतवाली होने का छल करके उसके निकट चली जाओ । उसके पश्चात् ( उवर्णि ) मदिरा से हाथ पोंछ लेना । ( मदिरा कभी मत पीना । )



प्रकरणानुसार पुस क्रिया का अर्थ पोंछना है, स्पर्श करना नहीं। गम्मड की संस्कृतच्छाया गम्यताम् है, गच्छ नहीं।

**केअइगन्धहगन्धिवरअरंजिआद्दणेहि ।**

**कंठअसवलितणुतव छड्डिअभवलाणं ॥ ७११ ॥**

प्रस्तुत पद्य में गाथा के लक्षणों का अभाव है। इसकी भाषा भी अपभ्रंश से प्रभावित है। अनेक अक्षर लिपिकर्ताओं के प्रमाद से छूट गये हैं और अनेक अक्षर अन्यथा लिख दिये गये हैं। इन दोनों दोषों के कारण छन्द की स्वाभाविक लय और अर्थावगति में अवरोध उत्पन्न हो गया है। यदि प्रथम पाद के अन्त में 'णि' और जोड़ दें तो उसका पाठ इस प्रकार हो जायेगा—

केअइ गंधह गन्धिणि,

परन्तु इसे हम छन्द के अनुरोध से 'गन्धिणी' पढ़ेंगे। चतुर्थपाद में प्रयुक्त द्दणेहि निरर्थक है, यह संभवतः छणेहि का विकृत रूप है। तृतीय पाद में 'ठ' के स्थान पर 'ट' होना चाहिये। कंठअ नहीं कंठअ (कण्टक) शब्द है। स का अनुस्वारच्युत हो गया है तथा शब्द का अन्तिम अकार भी नहीं रह गया है। यहाँ संवलित होना चाहिये। तणु को लय की दृष्टि से तणू पढ़ना होगा क्योंकि छन्द का पादान्तवर्ती वर्ण दीर्घ हो जाता है। कंठअ और संवलित शब्दों के मध्य में गण शब्द का निवेश कर देने पर यह पाद भी छन्द की दृष्टि से शुद्ध हो जायेगा। चतुर्थपाद में 'भ' के स्थान पर 'म' लिखना उचित है। अब सम्पूर्ण छन्द का संशोधित पाठ यह होगा—

**३. केअइ गंधह गन्धिणि, रअरंजिआ छणेहि ।**

**कंठअगणसंवलिततणु तव छड्डिअभवलाण ॥**

केतकि ! गन्धेण गन्धिणि रजोरञ्जिता क्षणैः ।

कण्टकगणसंवलिततनुस्तव त्यक्ताऽबलाभिः ॥

अबलाणं पद में 'क्वचिद् द्वितीयादेः' इस हैम सूत्र से तृतीया के स्थान पर षष्ठी हो गई है। तणु शब्द प्राकृत में स्त्रीलिंग और पुंल्लिंग—दोनों है। उपयुक्त छन्द के प्रथम और तृतीय पादों में १३ मात्रायें हैं। द्वितीय और चतुर्थ पादों में ग्यारह मात्रायें हैं। इस प्रकार यह लय और मात्राओं की दृष्टि से दोहा है। अन्तर केवल इतना है कि दोहे के द्वितीय और चतुर्थ पादों के अन्त में अन्त्यानु-प्रास (तुक) होता है, इसमें नहीं है। संभव है, प्रारम्भ में ऐसे दोहे भी लिखे जाते रहे हों। अर्थ—हे केतकि ! तुम पराग से रंजित होकर क्षण भर में गन्धिणी बन गई हो। अरे ! तेरा कंठकणों से भरा शरीर अबलाओं (बलहीन या निर्बल

स्त्रियों) के द्वारा परित्यक्त हो चुका है। (अर्थात् वे भी श्रृंगार के लिये तेरे पुष्पों का उपयोग नहीं करती हैं।)

आशय यह है कि सुगन्ध की उत्कटता के कारण तुझे गवित नहीं होना चाहिये। तुझमें दोष भी है। निर्बल सनझी जाने वाली स्त्रियों की भी दृष्टि में तुम महत्त्वहीन हो। वे तुम्हारे पुष्पों का उपयोग नहीं करतीं। अथवा तुम इतनी अभागिन हो कि कमनीय कामिनियों के भी साहचर्य से वंचित हो चुकी हो।

#### ४. निर्मलगगनतडागे तारागणकुसुमभिते तिमिरे ।

भिकरवोबालं चरति मृगाङ्को मराल इव ॥ ७१४ ॥

“भिकरवोबालं यह पद बिलकुल अस्पष्ट है।”

उपर्युक्त गाथा की भाषा न तो शुद्ध संस्कृत है और न विशुद्ध प्राकृत। पाठ नितान्त अशुद्ध और खंडित है। मूल प्राकृत-पाठ नष्ट हो गया है। अतः उपलब्ध विकृत संस्कृत-पाठ का परिमार्जन करने के पश्चात् ही प्राकृत-पाठ की अवतारणा हो सकेगी। तृतीय पाद में तीन मात्राओं की न्यूनता है। अक्षरों का लोप और मात्राओं के इधर उधर हो जाने के कारण सम्पूर्ण वर्णन निरर्थक बन गया है। यदि ‘भि’ को सप्तमी विभक्ति ‘म्मि’ का अवशेष भाग मानकर उसके पूर्व ‘जल’ शब्द और जोड़ देते हैं तो सार्थक पद ‘जलम्मि’ बन जाता है। करवो पद अर्थ हीन है। गाथा में मृगाङ्क (चन्द्रमा) का वर्णन है। अतः वह उसी से सम्बद्ध किसी पदार्थ का वाचक होगा। चन्द्रमा और कुमुद का सम्बन्ध साहित्य में प्रसिद्ध है। कुमुद का पर्याय कैरव है। अतः यहाँ प्राकृत शब्द केरव होना चाहिये। ‘वो’ में ‘ओ’ की मात्रा की कोई सार्थकता नहीं है। उसका उचित स्थान ‘बालं’ का लकार है जहाँ बिन्दु के रूप में मात्रा का शिरोभाग शेष रह गया है। इस प्रकार हम पाठ संशोधन के प्रयास में ‘केरव’ बालो तक पहुँचते हैं। यदि केरव-बालो को केरव बालो (कैरवपालः) पढ़ लेते हैं तो आधिक जटिलता का निवारण हो जाता है। तृतीय पाद का सम्पूर्ण संशोधित पाठ यह है—

जलम्मि कैरवपाल, जले कैरवपालः ?

गाथा के पूर्वार्ध में ‘भिते’ का परिमार्जित रूप ‘भूते’ होगा। अब उपलब्ध संस्कृत गाथा का जो स्वरूप निर्णत होता है वह इस प्रकार है—

निर्मलगगनतडागे तारागणकुसुमभूते तिमिरे ।

जले कैरवपालश्चरति मृगाङ्को मराल इव ॥

यह तो रही संस्कृतच्छाया अब इसी के आधार पर मूल प्राकृत पाठ यह होगा—

णिम्मल गअणतलाए ताराअणकुसुमभिअम्मि तिमिरम्मि ।

जलम्मि केरववालो चरइ मिअंको मरालो व्व ॥

अर्थ—तडाग (तालाब) के समान आकाश में फूलों के समान तारागणों से भरे अन्धकार में कुमुदों का पालक चन्द्रमा यों विचरता है जैसे जल में मराल ।

इसकी व्याख्या रूपक मान कर नहीं की जा सकती क्योंकि उस स्थिति में तडाग का प्राधान्य हो जायेगा जो अप्रस्तुत मराल के अनुकूल तो है परन्तु प्रस्तुत चन्द्र के प्रतिकूल है । वर्णन प्रस्तुत के ही अनुकूल होना चाहिये ।

#### ५. विट्ठोइ जं ण विट्ठो, सरलसहावाइ जं च णालविओ ।

उवआरो जं ण कओ, तं चिअ कलिअं छइल्लोहं ॥ ७१५ ॥

दृष्ट्या यन्न दृष्टः सरलस्वभावया यच्च नालपितः ।

उपकारो यन्न कृतस्तदेव कलितं विदग्धैः ॥

“जो कि दृष्टि से न देखा, सरल स्वभाव वाली ने जो कि उपकार न किया उसे छैलों ने जान लिया ।” उपयुक्त अनुवाद के पश्चात् अनुवादक ने विमर्श में यह टिप्पणी दी है—

“स्नेह जाहिर करने का यह भी एक ढंग है ।” यद्यपि इस गाथा की व्याख्या मेरे द्वारा अनूदित वज्जालग में की जा चुकी है, फिर भी चौखम्बा संस्करण में विद्यमान भ्रान्तियों का निवारण आवश्यक समझता हूँ ।

प्रसंगानुसार ‘उवआर’ का संस्कृत रूपान्तर ‘उपचार’ होगा, उपकार नहीं । यह शब्द गाथा में सामान्य शिष्टाचार के अर्थ में प्रयुक्त है । उपयुक्त हिन्दी अनुवाद में “उपकार न किया” के स्थान पर “उपचार न किया” कर देने पर अर्थ शुद्ध हो जायेगा । अनुवादक के अनुसार गाथा में वर्णित नायिका का नायक के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार भी स्नेह जाहिर करने का एक ढंग है । यह उनका भ्रममात्र है । वस्तुतः यह स्नेह प्रकट करने की पद्धति ही नहीं है, यह तो स्नेह-निगूहन की पद्धति है । गाथा की नायिका विदग्धों से अपना और नायक का प्रच्छन्न प्रणय-सम्बन्ध छिपाना चाहती है । अतः उसके प्रति उपेक्षा का बाह्य प्रदर्शन करती है, परन्तु विदग्ध तो विदग्ध ही हैं । उपेक्षा में भी छिपे प्रणय को ताड़ लेते हैं । ‘तं चिअ कलिअं’ का भाव यह है कि विदग्धों ने उस उपेक्षात्मक व्यवहार को ही विशेष रूप से लक्षित किया और प्रणय का रहस्य समझ लिया ।

#### ६. सेउल्लणिअम्बालगसण्हसिचअस्स मग्गमलहन्ता ।

सहि मोहघोलिरो अज्जतस्स हसिओ मए हत्थो ॥ ७१६ ॥

सेकार्द्रनितम्बालगनश्लक्ष्ण सिचयस्य मार्गमलभमानः ।

सखि ! मोहघूर्णनशीलोऽद्य तस्य हसितोमया हस्तः ॥

“हे सखी, आज स्नान से भीगे नितम्ब पर चिपके महीन कपड़े के बीच रास्ता न पाने से उनका हाथ मोह में पड़ गया तो मुझे हँसी आ गई।”

उपर्युक्त अनुवाद में घोलिर (घूर्णनशील) का कोई अर्थ नहीं दिया गया है। हाथ का मोह में पड़ जाना असंगत है क्योंकि मोह चैतन्य को होता है, जड़ शरीर को नहीं। हाथ शरीर का ही एक अंग है। वस्तुतः मूल प्राकृतपाठ में प्रयुक्त ‘मोह’ शब्द संस्कृत ‘मोघ’ का रूपान्तर है। मोघ का अर्थ है, व्यर्थ। ‘मोघघूर्णनशील’ का अर्थ है, व्यर्थ इधर-उधर फिरने या भटकने वाला। मार्ग (मग्न) का अर्थ रास्ता नहीं, अन्वेषण (खोज) है।

गाथा की संस्कृतच्छाया इस प्रकार होनी चाहिये—

सेकाद्रं नितम्बालग्नश्लक्ष्णसिचयस्य मार्गमलभमानः।

सखि ! मोघघूर्णनशीलोऽघ तस्य हसितो मया हस्तः ॥

अब गाथा का अर्थ इस प्रकार करना उचित है—

हे सखि। आज स्नान से भीगे नितम्ब पर चिपके महीन कपड़े को खोज न पाने के कारण जब उनका हाथ इधर-उधर फिरने लगा तब मुझे उन पर हँसी आ गई।

## ७. विअलिअकलाकलावो चंदो मित्तस्स मंडलं विसइ ।

णिस्सरइ तादिसो च्चिअ गअविहवं को समुद्धरइ ॥७३३॥

विगलितकलाकलापश्चन्द्रो मित्रस्य मण्डलं विशति ।

निःसरति तादृश एव गतविभवं कः समुद्धरति ॥

“चन्द्र कलासमूह समाप्त हो जाने पर मित्र (सूर्य) के मण्डल में प्रवेश कर जाता है और उस प्रकार (कलापूर्ण) होकर ही (उसे) निकाल देता है, विभवरहित का उद्धार कौन करता है।”

“विमर्श—मित्र सूर्य ने तो चन्द्र पर विपत्ति पड़ने पर आश्रय में रखा पर स्वयं चन्द्र सम्पन्न होकर विपन्न सूर्य का उद्धार न कर सका। संसार में अकृतज्ञ प्रायः मिल जाते हैं।”

उपर्युक्त अर्थ और विमर्श—दोनों नितान्त अनर्गल है। सूर्य के मंडल में प्रविष्ट चन्द्र उसे ही (सूर्य को ही) बाहर निकाल देता है, यह निरर्थक बात किसी बुद्धिमान् व्यक्ति के मस्तिष्क बैठ नहीं सकती है।

‘मित्तस्स’ में षष्ठी विभक्ति है। यदि वह निकालने की क्रिया का कर्म होता तो उसमें द्वितीया होती। षष्ठी होने पर भी यदि ‘तादिस’ में द्वितीया होती और उसके साथ द्वितीयान्त ‘त’ सर्वनाम होता तब भी निकालने की क्रिया का कर्म सूर्य हो जाता। परन्तु यह तो तब संभव था जब ‘णिस्सर’ का अर्थ निकालना होता।

यह क्रिया तो निकालने का अर्थ देती है। 'तादिसो' की प्रथमा विभक्ति उसे प्रथमान्त चन्द्र से ही अन्वित करती है।

विमर्श में लिखा है—“चन्द्र सम्पन्न होने पर सूर्य का उद्धार न कर सका।” यहाँ प्रश्न उठता है कि जब मूल गाथा में 'विगलितकलाकलापः' के द्वारा चन्द्र के ही विपत्ति-ग्रस्त होने का वर्णन है तब सूर्य के उद्धार की समस्या कहाँ से आ गई ?

प्रस्तुत गाथा को समझने के लिये सम्बन्धित पौराणिक सन्दर्भ का ज्ञान आवश्यक है। पुराणों के अनुसार कलाओं का उपक्षय हो जाने पर चन्द्रमा अमावस्या के दिन पुनः कला-संचय के लिये सूर्यमंडल में अनुप्रविष्ट हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक दिन क्रमशः एक-एक कला ग्रहण करते-करते प्रतिपत् से लेकर पूर्णिमा तक उसका परिक्षीण मण्डल पुनः पूर्ववत् परिपूर्ण हो जाता है। परन्तु गाथा का कवि इस सम्पूर्ण सन्दर्भ को नहीं ग्रहण कर रहा है। उसकी दृष्टि प्रवेश और निष्क्रमण के दिन व चन्द्रमा की एक जैसी अवस्था पर केन्द्रित है। कवि का आशय यह है कि चन्द्रमा अमावस्या को क्षीण होकर मित्र सूर्य के मंडल में आश्रय लेता है परन्तु जब उससे बाहर निकलता है तब भी वह क्षीण ही रहता है। अमावस्या और प्रतिपदा को चन्द्रमा की समान स्थिति रहती है। दोनों तिथियों में वह नितान्त क्षीण होने के कारण दिखाई नहीं देता। सूर्य-मण्डल में प्रवेश का कोई लाभ प्रतिपदा को दिखाई नहीं पड़ता, जिसका वैभव नष्ट हो चुका है, उसका उद्धार कौन कर सकता है ?

प्राकृतगाथा में प्रयुक्त मित्त ( मित्र ) शब्द में श्लेष है उससे सूर्य और मित्र दोनों अर्थ उक्त एवं अभिव्यक्त होते हैं।

**द. जो होइ रसाइसओ सुविणट्टाणं वि पुंङ्इच्छूणं ।**

**कत्तो सो होइ रसो मोहासाणं आणिच्छूणं ॥ ७३४ ॥**

यो भवति रसातिशयः सुविणष्टानामपि पुण्ड्रकेक्षूणाम् ।

कुतः स भवति रसो मोहासानामनिच्छूणाम् ॥

“खूब तोड़ने पर भी पोढ़ इक्षु का जो अधिक रस होता है वह अन्य-अन्य इक्षुओं का रस कहाँ से हो सकता है।”

उपर्युक्त अर्थ अपूर्ण है क्योंकि एक तो 'मोहासानां' का उसमें उपयोग ही नहीं किया गया है, दूसरे गाथा में स्थित सूक्ष्म श्लेष की बिलकुल उपेक्षा कर दी गई है। श्लेषानुरोध से संस्कृतच्छाया के उत्तरार्ध का स्वरूप यह होना चाहिये—

कुतः स भवति रसो मोहासानामन्येक्षूणाम् ( अनिच्छूणाम् ।

( अन्येच्छूणाम् )

शब्दार्थ

मोघासानाम् = १. जिनके लिये आशा करना व्यर्थ है ।

( मोघा आशा येभ्यः । )

२. जिनका भक्षण निष्फल है ।

( मोघा निष्फलं अतिशय भक्षणं येषाम् )

३. जिनकी आशा व्यर्थ है ।

( मोघा निष्फला आशा येषाम् )

रस = १. द्रवरूप रस

२. आनन्द, सुख

अणिच्छूणं = १. ( अन्येक्षूणाम् ) अन्य इक्षुओं का

२. ( अनिच्छूनाम् ) अनिच्छुकों का

३. ( अन्येच्छुकानाम् ) अन्य के प्रति इच्छुकों का । पूर्वार्ध के 'सुविणट्ठाणं' पद में भी श्लेष है । इक्षुपक्ष में उसकी संस्कृतच्छाया ऊपर दी गई है । श्रृंगार-पक्ष में उसका संस्कृत रूपान्तर 'स्वप्नस्थानाम्' होगा । उभयपक्ष में अर्थ इस प्रकार होंगे—

सुविणट्ठाणं = १. ( सुविण्टानाम् ) अच्छी तरह टूटे हुएों का ।

२. ( स्वप्नस्थानाम् ) स्वप्न में स्थित पुरुषों का अर्थात् सपने में क्षण भर के लिये मिले हुये मिथ्या पुरुषों का ।

गाथा में समासोक्ति के द्वारा कोई तरुणी किसी ऐसे तरुण को उपालम्भ दे रही है, जो उस ( तरुणी ) के प्रणय का अनिच्छुक है और अन्य प्रेमिका की इच्छा करता है ।

अर्थ—( इक्षुपक्ष ) पुंङ्ग नामक इक्षु ( श्वेत ईख ) के टूट जाने पर भी जो रसाधिवय होता है वह उन अन्य इक्षुओं में कहाँ हो सकता है जिनकी आशा ही चिरर्थक है, या जिनका भक्षण ही निरर्थक है ।

( श्रृंगार-पक्ष ) सपने के पुरुष से भी जो आनन्द मिलता है वह उन अनिच्छुक अथवा अन्य के इच्छुक पुरुषों से कहाँ हो सकता है, जिनकी आशा करना ही व्यर्थ है ।

९. जइ वि हु दिंल्लिदिलिया तह वि हु मा पुत्ति ! णगिआ भमसु ।

द्देआ णअरजुवाणो माअं धूमाइ लक्खंति ॥ ७३५ ॥

अनुवादक ने अस्पष्टता का उल्लेख करके इसे छोड़ दिया है, अनूदित नहीं किया है । गाथा के तृतीय चरण का पाठ अष्ट है । द्देआ के स्थान पर छेआ पाठ होना चाहिये । दिंल्लिदिलिया देशी शब्द है, उसका अर्थ है, बालिका । इसकी संस्कृतच्छाया यों होंगी—

यद्यपि खलु बालिका तथापि खलु मा पुत्रि नग्निका भ्रम ।

छेका नगरयुवानो मातरं दुहितरि लक्षयन्ति ॥

नग्न घूमने वाली किसी बालिका को मना करनेवाली प्रौढा महिला की परिहासोक्ति है ।

अर्थ—हे पुत्रि ! यद्यपि बालिका हो तथापि तुम नग्न होकर मत फिरा करो । नगर के विदग्ध (चतुर एवं रसिकों) पुत्री में माता को लक्षित कर लेते हैं । ( अर्थात् अविकसित अंगों वाली बालिका को भी नवयुवती के रूप में देखते हैं । )

**१०. दइए दुमसु तुमं चिअ मा परिहर पुत्ति ! पढमदुमिअं ति ।**

**किं कुड्डं णिअमुहअंदकंतिदुमिअं ण लक्खेसि ॥७४१॥**

अनुवादक ने इसकी संस्कृतच्छाया लिखने में असमर्थता व्यक्त की है । गाथा का अनुवाद इस प्रकार किया है—

“दयित के लिये तू ही सफेदी कर, हे पुत्रि ! पहले की सफेदी को मत छोड़ ! क्या अपने मुखचन्द्र की कान्ति से सफेद दीवार को नहीं देखती ।”

यह अनुवाद ठीक नहीं है । दइए शब्द संस्कृत ले दयित शब्द का सप्तम्यन्त रूप नहीं, स्त्री लिंग में सम्बोधन का रूप है । यदि वह दयित ( प्रिय ) का सप्तम्यन्त रूप भी हो तब भी उसका चतुर्थ्यन्त अर्थ संभव नहीं है । यहाँ सम्बोधन कारक का रूप दयिते ( प्रिये ) सम्बोध्य के प्रति हादिक स्नेह का अभिव्यंजक है ।

गाथा की संस्कृतच्छाया यह होगी—

दयिते धवलय त्वमेव मा परिहर पुत्रि प्रथमधवलितमिति ।

किं कुड्यं निजमुखचन्द्रकान्तिधवलितं न लक्षयसि ॥

नायिका घर में सफेदी कर रही थी । दीवार के जिस भाग में अभी सफेदी करना शेष था वह भाग भी नायिका की मुखचन्द्रचन्द्रिका से शुभ्र होकर ऐसा लग रहा था जैसे इसमें भी सफेदी कर दी गई है । अतः नायिका उस भाग को बिना सफेदी किये ही छोड़ दे रही थी । यह देखकर उसकी सास कहती है—

हे प्रिय ( दयिते ) पुत्रि ! सफेदी करो । उस भित्ति-भाग में सफेदी की जा चुकी है—यह सोचकर तुम उसे छोड़ मत देना । क्या तुम यह लक्षित नहीं कर पा रही हो कि तुम्हारे मुखचन्द्र की कान्ति से दीवार सफेद हो गई है ।

यहाँ 'तंच्चेअ' ( तुम्हीं ) शब्द में यह व्यंग्य है कि दीवार के किसी भाग को बिना सफेदी किये ही छोड़ देना तो कामचोर नौकर का काम है । तुम तो गृहस्वामिनी हो, तुम उसे मत छोड़ देना ।

११. रअणाअररस्स साहेमि नम्मए ! अज्ज विमुक्कदक्खिणा ।

वेडिसलआहरंतेणं मिलिया जं सि पूरेण ॥ ७५४ ॥

रत्नाकरस्य साधयामि नर्मदे ! अद्य मुक्तदाक्षिण्या ।

वेतसलता गृहान्तेन मिलिता यदसि पूरेण ॥

प्रस्तुत गाथा में 'घरंतेण' एक पद नहीं है । 'घरंते' के पश्चात् स्वीकार या निश्चय द्योतक 'ण' अव्यय है । अतः 'घरंते ण' यह पाठ करना होगा । इसका संस्कृत रूपान्तर 'गृहान्ते ननु' है ।

इसका अनुवाद यह किया गया है—

“री नर्मदे, जो कि तूने वेतस के लतागृह में प्रवाह के साथ संगम किया, आज मैं शिष्टाचार छोड़कर ( तेरे पति ) समुद्र से कह दूँगा ।”

यह अनुवाद ऊपर से तो ठीक लगता है परन्तु ध्यान देने पर इसकी असंगति स्पष्ट हो जाती है ।

स्त्रीलिंग पद विमुक्क दक्खिणा पुल्लिंग में ( वक्ता ) का विशेषण नहीं हो सकता है । 'विमुक्कदक्खिणो' होने पर ही वह किसी पुल्लिंग से अन्वित हो सकेगा । अतः उक्त स्त्रीलिंग यद स्त्रीलिंग नर्मदा का ही विशेषण है । नर्मदा में समासोक्ति-साधक श्लेष है ।

अर्थ यह होगा—

हे नर्मदे ! ( नदीविशेष, सुखदे ) तू दाक्षिण्य (पति के प्रति अनुकूलता) का परित्याग कर वेतसलता के गृह में जो प्लावन ( जल की बाढ़ ) से मिल चुकी है ( संगम कर चुकी है )—यह बात मैं ( तेरे पति ) रत्नाकर ( समुद्र ) से कह दूँगा ।

यदि वक्त्री महिला होगी तो अर्थ का स्वरूप यह होगा—

हे नर्मदे ! तू वेतलता गृह के भीतर प्लावन से जो संगम ( मिलन, संभोग ) कर चुकी है उसे मैं तेरी अनुकूलता ( दाक्षिण्य ) छोड़कर रत्नाकर ( समुद्र ) से बता दूँगी ।

यहाँ समासोक्ति के माध्यम से प्रस्तुत रत्नाकर और नर्मदा पर नायक और नायिका के व्यवहार का समारोप है ।

१२. सुहया सुहं चिय कुडलि व्व पेहुणो णिग्गयस्स चडुवस्स ।

जणरंजणिग्गहो ते घरम्मि सुणहो अतिहिवंतो ॥७५९॥

इसके नीचे आर्य के अस्पष्टता की टिप्पणी दी गई है । अनुवाद नहीं किया गया है ।



पूर्वार्धगत मयूर-शिखण्ड वाचक 'पेहुणो' से उत्तरार्धगत श्वान वाचक 'सुणहो' का अन्वय नहीं हो सकता क्योंकि इन दोनों प्रथमान्त पदों का सामानाधिकरण्य लोकविरुद्ध है। प्रथमान्त होने के कारण उक्त पद षष्ठ्यन्त 'णिग्गयस्स' से भी अन्वित नहीं हो सकता। अन्वय के लिये उस स्थान पर कोई षष्ठ्यन्त शब्द अपेक्षित है। यदि 'णो' को षष्ठी का सूचक मानें तो प्रातिपदिक ( मूलशब्द ) पेहि ( प्रेक्षिन् ) ठहरता है, क्योंकि 'पेहु' कोई सार्थक शब्द नहीं है। यह 'पेहि' शब्द भी कर्म के अभाव में निरर्थक है। अतः उसके पूर्व विकृत रूप में जो वर्णन उपलब्ध है उसी में कर्म को ढूँढ़ने का प्रयास करना है। यदि 'कुडलिब्ब' को मिलाकर 'कुडलिब्ब' पढ़ें और 'पेहिणो' से जोड़कर एक समस्तपद बना लें तो खोया हुआ कर्म मिल जायेगा। इस प्रकार एक सार्थक शब्द 'कुडलिब्बपेहिणो' ( कुटलेप्यप्रेक्षिणः—कुटस्य गृहस्य लेप्यं<sup>१</sup> भित्तिं प्रेक्षते पश्यतीति कुटलेप्यप्रेक्षी तस्य ) बन जायेगा। इसका अर्थ है—घर की दीवार ( भित्ति ) को देखने वाले का। 'चडुवस्स' में चतुर्थ्यर्थक षष्ठी है। चडुव ( चटुक ) का अर्थ पेट है, परन्तु वह प्रकरणानुसार जीविका के अर्थ में प्रयुक्त है।

जणरंजणिग्गहो में 'णि' का इकार अनावश्यक है। सार्थक पद जणरंजणग्गहो ( जनरञ्जनाग्रहः = जनस्य जनानां वा रञ्जने प्रीडने आग्रहो यस्य, अर्थात् लोगों को प्रसन्न रखने का आग्रह ) है।

गाथा का परिमार्जित पाठ यह होगा—

सुहय ! सुहं चिय कुडलिब्बपेहिणो णिग्गयस्स चडुवस्स ।

जणरञ्जणग्गहो ते घरम्मि सुणहो अतिहिवंतो ॥

और संस्कृतच्छाया यों होगी—

सुभग ! शुभमेव कुटलेप्यप्रेक्षिणो निर्गतस्योदराय ।

जनरञ्जनाग्रहस्ते गृहे शुनकोऽतिथिवान् ॥

गाथा में जिस गृहपति को सम्बोधित किया गया है उसे प्रत्येक दिन घर पर पत्नी को अकेली छोड़कर जीविकोपार्जन के लिये बाहर जाना पड़ता था। स्त्री के दुश्चरित्र हो जाने की आशंका से उसने एक कुत्ता पाल रखा था। वह किसी भी अपरिचित मनुष्य को घर में नहीं घुसने देता था। फिर भी गृहपति की स्त्री किसी तरुण के चंगुल में फँस गई। तरुण ने खूब खिला-पिला कर दुष्ट कुत्ते को अपने अनुकूल बना लिया। अब वह उक्त तरुण के आने पर दुम हिला कर उसका भरपूर स्वागत करने लगा। एक दिन जब गृहपति काम से लौट कर घर की दीवारों की ओर देख रहा था, तभी उसकी पड़ोसिन कह पड़ी—

१. लिब्ब का अर्थ लेप्य ( भित्ति ) ।—पाइयसद्महण्यव

पेट के लिये ( जीविकोपार्जन के लिये ) बाहर निकले हुये तथा घर की दीवार देखने वाले का कल्याण ही है। तुम्हारे घर में लोगों को प्रसन्न रखने का आग्रही कुत्ता अतिथिवान् है। ( अर्थात् अतिथिसत्कार का दायित्व वहन कर रहा है। )

गाथा का तात्पर्य यह है, तुम प्रायः बाहर ही रहते हो। इससे यह मत समझो कि तुम्हारे घर में कोई धार्मिक कार्य नहीं होता। अतिथि पूजा भी गृहस्थ का धर्म है। तुम्हारी अनुपस्थिति में वह कार्य पालतू कुत्ता करता है और जिस घर का पालतू कुत्ता भी इतना धार्मिक है, उस गृहस्थ का कल्याण अवश्य होगा।

इससे यह ध्वनि निकलती है, अरे, तुझे तो केवल पेट की चिन्ता रह गई है, सामाजिक प्रतिष्ठा और लोकलज्जा को तूने तिलांजलि दे दी है। तेरी अनुपस्थिति में कोई युवक घर के भीतर घुस जाया करता है। यह विश्वासघाती कुत्ता भूकता भी नहीं। अतः बाहरी गृहभित्तियों के भीतर सुरक्षित समझ कर स्त्री पर विश्वास मत कर, घर के भीतर जो कुछ हो रहा है उसे भी जानने का प्रयत्न कर।

इस उत्कृष्ट गाथा का प्रत्येक पद साभिप्राय एवं ध्वनिगर्भित है।

**१३. णिवडिहिसि सुण्णहिअए ! जलहरजलपंकिलम्मि मग्गम्मि ।**

**उप्पेक्खागयपिययमहत्थे हत्थं पसारंती ॥ ७६० ॥**

निपतिष्यसि शून्यहृदये ! जलधरजलपङ्किले मार्गं ।

उत्प्रेक्षागतप्रियतमहस्ते हस्तं प्रसारयन्ती ॥

इस गाथा का अनुवाद यों है—

“री शून्यहृदये ! देखभाल के लिये आये प्रियतम के हाथ में हाथ फँलाती हुई तू मेघ के जल से पंकिल मार्ग में गिरेगी ।”

उपयुक्त अनुवाद असंगत है क्योंकि प्रियतम के हाथ में हाथ डालने पर न गिरने की ही सम्भावना अधिक है। अबलम्ब मिल जाने पर गिरता हुआ व्यक्ति भी सँभल जाता है। अतः प्रियतम के हाथ में हाथ फँलाना पतन का हेतु नहीं हो सकता। जब पंकिल मार्ग पर दृष्टि नहीं रहती और किसी का सहारा भी नहीं रहता है तभी गिरने की सम्भावना होती है। अतः गाथा में ऐसी ही किसी परिस्थिति का वर्णन होना चाहिये। ‘उप्पेक्खागयपिययम’ का तात्पर्य अनुवादक की समझ में नहीं आया है। यहाँ उप्पेक्खा ( उत्प्रेक्षा ) का अर्थ कल्पना है। विरहिणी नायिका प्रियतम के संयोग की मधुर कल्पना में तल्लीन है। पंकिल मार्ग में चलते-चलते वह ध्यानावस्थित होकर कल्पना की आँखों से देखती है कि

प्रियतम सम्मुख खड़े हैं। वह अपना एकाकीपन भूल जाती है प्रेम की विह्वलता में पंकिल मार्ग की दुर्गमता से डर कर कल्पनागत प्रियतम को अपना हाथ पकड़ाने लगती है। ऐसी परिस्थिति में उसके गिर पड़ने की सम्भावना को लक्षित कर सहेली उसे सतर्क कर रही है।

### १४. उच्छंगिआए पइणा अहिसारणपंकमलितपेरंते ।

आसण्णपरिअणो विअ सेअ च्चिअ धुवइ से पाए ॥७६१॥

उत्सङ्गिकया (?) पत्याऽभिसारणपङ्कमलिनपर्यन्तौ ।

आसन्नपरिजन इव सेक एव धाव्यति तस्याः पादौ ॥

“अभिसार के समय पंक से ( पैर के ) मलिन होने के कारण पति द्वारा गोद में उठा ली गई उसके पैर को स्वेदजल ने समीप के परिजन की भाँति धो दिया ।”

इसकी संस्कृतच्छाया शुद्ध नहीं है। प्रश्नचिह्नान्कित तृतीयान्त ‘उत्सङ्गिकया’ के स्थान पर षष्ठ्यन्त ‘उत्सङ्गितायाः’ होना चाहिये, तभी ‘तस्याः’ से अन्वय सम्भव हो सकेगा। ‘धुवइ’ का संस्कृत रूपान्तर ‘धावति’ है, धाव्यति नहीं।

अनुवाद की अपरिमाजित भाषा अनुवादक का अभिप्रेत अर्थ व्यक्त करने में अक्षम है। “गोद में उठा ली गई” का अन्वय पैर से हो रहा है। ‘पैर’ के लिये ‘उठा ली गई’—यह लिखना व्याकरण-विरुद्ध है। ‘उठा ली गई’ का अन्वय ‘उस’ से भी सम्भव नहीं है क्योंकि उक्त सर्वनाम में षष्ठी विभक्ति ‘के’ विद्यमान है। गुणीभूत षष्ठ्यन्त पद जिससे स्व-सम्बन्ध सूचित करता है उसके अतिरिक्त किसी अन्य से अन्वित नहीं हो सकता। यदि ‘उस’ के स्थान पर ‘वह’ रहता तो ‘उठा ली गई’ का अन्वय नायिका से हो जाता, परन्तु उस दशा में एक अन्य समस्या खड़ी हो जाती, नायिका से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने के कारण बेचारे पैर कहीं के न रह जाते। समाज में गृह सेवक द्वारा नवागत अतिथि का पैर धोने की परम्परा प्रचलित है। अभिसारिका तरुणी पंकपूर्ण मार्ग में चलती हुई संकेतस्थल पर प्रेमी से मिलने आई है। इस निर्जन में न गृह है, न गृहसेवक। अतः उसके पंकिल चरणों को उसी का प्रस्वेद निकटस्थ सेवक के समान धो देता है। स्वेदोद्गम प्रणय का एक सात्त्विकभाव है। यहाँ तात्पर्य यह है—प्रेमी का आंगिक संस्पर्श पाकर तरुणी पसीने से इतना तर हो गई कि उसके चरणों का पंक स्वयमेव धुल गया।

यहाँ अभिसारिका के प्रसंग में नायक के लिये पतिशब्द का प्रयोग अनुचित है क्योंकि, उससे मिलने के लिये न संकेतस्थल की आवश्यकता है, न अभिसार की। पति तो गृह में ही सुलभ रहता है। तरुणियाँ प्रच्छन्न-कामुकों से मिलने

के निमित्त ही अभिसार करती हैं (घर से बाहर किसी पूर्व निश्चित स्थान पर जाती हैं।)

अतः उक्त अनौचित्य-दोष का परिहार करने के लिये गाथा को निम्न-लिखित प्रसंग में पढ़ना चाहिए—

उक्त तरुणो का पति एक प्रेमान्ध युवक था। वह अपनी पत्नी से अत्यधिक प्रेम करता था। परन्तु पत्नी किसी अन्य से प्रेम करती थी और छिप कर उससे मिलने जाया करती थी। उक्त प्रेमान्ध युवक इस रहस्य को नहीं जानता था। एक दिन उसकी पत्नी अपने गुप्त प्रेमी से मिल कर लौटो तो संयोग से बाहर गया हुआ उसका पति लौट चुका था। उसने प्रिया को देखते ही प्रेम-विह्वल होकर गोद में उठा लिया। पत्नी के पैरों में पंक लगा था। वह रहस्य खुल जाने से भयभीत हो गई। मारे डर के पसीना आ गया। उसी पसीने से पैरों का पंक धुल गया।

प्रस्वेदातिरेक प्रणय और भय—दोनों में होता है।

### १५. ओवालभम्मि सीआलुआण वड्ढमूलमुल्लिहंताणं ।

डिभाण कलिचयवावडाण सुण्णोजलह् अग्गी ॥७६४॥

वटीप्रान्ते शीतालूनां वृत्तिमूलमुल्लिखताम् ।

डिम्भानां क्षुद्रेन्धनव्यापृतानां शून्यो ज्वलत्यग्निः ॥

“जाड़े से कुड़कुड़ाये बालक घेरे को उखाड़ने और ईंधन इकट्ठा करने में लग गए हैं, आग....में केवल जल रही है।”

‘ओवालभम्मि’ का अर्थ न दे सकने के कारण यह अनुवाद अपूर्ण है। उक्त शब्द संस्कृत अपद्वारक (घर के पीछे का द्वार) का प्राकृत रूप है।<sup>१</sup> र और ल के अभेद के कारण (रलयोरभेदात्) ‘ओवालभ’ हो गया है।

संस्कृतच्छाया में ‘वाटीप्रान्ते’ के स्थान पर ‘अपद्वारके’ होना चाहिये।

### १६. मा मा मुय परिहासं देवर ! अणहोरणा वराई सा ।

सीअम्मि वि पासिज्जह् पुणो वि एसि कुणसु छायां ॥७६४॥

मा मा मुञ्च परिहासं देवर ! अप्रावरणा वराकी सा ।

शीतेऽपि प्रस्विद्यति पुनरपि अस्यां कुरु छायाम् ॥

“हे देवर ! मत, मत, मजाक छोड़ ! बेचारी के पास ओढ़नी नहीं है, सर्दी में भी पसीजती जा रही है, फिर भी इस पर छाया कर।”

उपर्युक्त अनुवाद के पश्चात् विमर्श में यह लिखा गया है—“प्रौढा-द्वारा भावज के कामुक नायक पर व्यंग्यपूर्ण उपालम्भ।”

१. अप > ओ, द्वारक > वारभ = जो ओवारभ ।

यह उल्लेख नितान्त असंगत है क्योंकि नायक को देवर कहकर सम्बोधित करने वाली कोई प्रौढा नहीं, स्वयं उसी की भाभी है। वह अपने से भिन्न किसी अन्य प्रावारक-रहित प्रस्विन्न कलेवरा कामिनी पर छाया करने के लिये देवर से आग्रह कर रही है। वस्तुतः गाथा का प्रसंग इस प्रकार है—

नायक ने परिहास में किसी तरुणी का उत्तरीय ( दुपट्टा ) छीन लिया है। वह पसीने-पसीने हो रही है। नायक की भाभी दोनों का गुप्त प्रणय-सम्बन्ध ताड़ कर कहती है—देवर ! अब परिहास मत करो, तुमने एक बार उसका दुपट्टा छीन लिया तो उसे जाड़े में भी पसीना आ गया है। अतः इसके ऊपर फिर से छाया ( छाँह ) कर दो। अर्थात् अपने ही हाथों से पुनः उसके अंगों-को दुपट्टे से आच्छादित कर दो। वह इतने से ही कृतार्थ हो जायेगी। यहाँ छाया का व्यंग्यार्थ कृपा है।

**१७. किं तस्स पारएणं किमग्निना किं च गर्भहरएण ।**

**जस्स णिसम्मइ उअरे उण्हायतत्थणो जाया ? ॥७६६॥**

किं तस्य पारदेन किमग्निना किं च गर्भहरकेण ।

यस्य निशाम्यति उदरे उण्णायतस्तनी जाया ॥

“जिसकी छाती पर गरम और फँले स्तनों वाली जाया विश्राम करती है उसे पारे ( ? ) से क्या, अग्नि से क्या और मच्छरदानी ( ? ) से क्या ?”

यह अनुवाद उपहासास्पद है। अनुवादक ने अनेक शब्दों के सन्देहात्मक अर्थों पर स्वयं प्रश्नचिह्न लगा कर इसकी प्रामाणिकता के प्रति अविश्वास व्यक्त किया है। गाथा की संस्कृतच्छाया नितान्त अपभ्रष्ट है। उसमें अनेक अनर्गल शब्द अनुप्रविष्ट हो गये हैं। पूर्वार्ध में ऐसे शीत-निवारक उपादानों का वर्णन प्रासंगिक होगा जिनकी उपयोगिता तरुणी के पीनोष्णपयोधरों के कारण समाप्त हो जाती है। पारद और मच्छरदानी से शीत का निवारण नहीं हो सकता। अतः ये शब्द यहाँ अनर्थक हैं। शुद्ध संस्कृतच्छाया यह है—

किं तस्य प्रावारकेण किमग्निना किञ्च गर्भगृहकेण ।

यस्य निषीदति उदरे उण्णायतस्तनी जाया ॥

शब्दार्थ—गर्भगृह = गृह का भीतरी भाग। णिसम्मइ = (नि<sup>१</sup> + सेद् = निषीदति) = बैठती है या सोती है ( पाइयसद्दमहण्णवो ) ।

प्रावारक = दुपट्टा

गाथा का शुद्ध अर्थ यह है—

जिसके पेट पर उष्ण और आयत ( विस्तृत ) स्तनों वाली पत्नी शयन

१. देखें—पाइयसद्दमहण्णवो ।

करती है उसे (जाड़े से बचने के लिये) दुपट्टे की क्या आवश्यकता है और क्या आवश्यकता है गृह के भीतरी भाग की ? ( जहाँ छिप जाने पर शीत का प्रभाव कम हो जाता है । )

**१८. उवइसइ लडियाण कड्ढेइ रसं, ण वेइ सोत्तुं जे ।**

**जंतस्स जुव्वणस्स य ण होइ इच्छु च्चिय सहावो ॥७६९॥**

उपविशति ललितानां कर्षयति रसं न ददाति श्रोतुं च ।

यन्त्रस्य यौवनस्य च न भवति इक्षुरिव स्वभावः ॥

“गाथार्थं अस्पष्ट ।”

“विमर्श—ललितों का उपदेश करता है, रस काद लेता है, सुनने नहीं देता, यन्त्र और यौवन का स्वभाव” ।”

प्रस्तुत गाथा में श्लिष्ट विशेषणों के माध्यम से प्रस्तुत और अप्रस्तुत—दोनों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य का एक ही साथ प्रतिपादन होने के कारण आधिक जटिलता आ गई है । यहाँ यन्त्र ( कोल्हू ) और यौवन प्रस्तुत ( उपमेय ) है । इक्षु ( ईख ) अप्रस्तुत ( उपमान ) है । तीनों की समानता और असमानता का आधार शाब्दिक है । कोई तरुणी कह रही है कि यौवन और यन्त्र ( कोल्हू ) का स्वभाव इक्षु के समान नहीं होता ।

उपलब्ध संस्कृतच्छाया से न तो श्लिष्ट पदों की पहचान सम्भव है और न तीनों पक्षों के अर्थ ही समझ में आ सकते हैं । अतः प्रकरणानुसार संस्कृतच्छाया का स्वरूप यह होगा—

उपविशति ( उपदिशति ) कर्षति ( कर्षयति ) रसं न ददाति श्रोतुं ( स्वप्तुं, श्रोतुं ) एव ।

यन्त्रस्य यौवनस्य च न भवति इक्षुरिव स्वभावः ॥

**शब्दार्थ**

प्राकृते	संस्कृतरूप	अर्थ
उपइसई	१. उपविशति	( यन्त्रपक्ष बैठता है, स्थित होता है ।
	२. उपदिशति	( यौवनपक्ष ) सिखाता है ।
	३. उपविशति	( इक्षुपक्ष ) प्रवेश करता है ।
लडिय	ललित—( यन्त्रपक्ष ) १. सरल कोमल	
	( यौवनपक्ष ) २. श्रृंगारिक चेष्टा विशेष	
	( इक्षुपक्ष ) ३. प्रिय, सुन्दर	

१. धात्वर्थ बाधते कश्चित् कश्चित्तमनुवर्तते ।

विशिनष्टि तमेवार्थमुपसर्गगतिस्त्रिधा ॥

के अनुसार उपसर्ग उप + विश् के ही अर्थ का अनुवर्तन करता है ।

२

सोत्तुं

१. स्वप्नुम् ( यन्त्रपक्ष ) सोने

२. श्रोतुम् ( यौवनपक्ष ) सुनने

३. स्रोतुम् ( इक्षुपक्ष ) टपकने

१—(यन्त्रपक्ष ) ईख का द्रव

२—( यौवन पक्ष ) आनन्द

३—( इक्षुपक्ष ) ईख का रस

कड्डे ३

कर्षति, कर्षयति

१—खींचता है, खिंचवाता है ।

अर्थ—यन्त्र ( कोल्हू ) और यौवन ( युवावस्था ) का स्वभाव इक्षु ( ईख ) के समान नहीं होता है क्योंकि यन्त्र एक स्थान पर बैठता है ( भूमि में ञड़ा होने के कारण वहीं अवस्थित रहता है । ) कोमल इक्षुओं का रस ( द्रव ) निकाल लेता है तथा ( ईख की पेरार्ई रात में होने के कारण ) सोने नहीं देता । इसी प्रकार यौवन भी श्रृंगार की ललित चेष्टाओं का उपदेश देता है, ( शिक्षा देता है ? ) रस निकालता है ( आनन्द लेता है ) और ( किसी की शिक्षापूर्ण बातें ) सुनने नहीं देता । जबकि इक्षु ( कोल्हू में ) प्रवेश करता है ललितों ( प्रियजनों ) के लिये रस निकलवा देता है और उस ( रस को ) व्यर्थ टपकने नहीं देता ( दूसरों के लिये अपने भीतर सँजो कर रखता है । )

१९. बहुएहि जंपिएहि सिट्ठं अम्ह सवहे करेऊण ।

सद्दो च्चिय से भद्दो भोइणिजंते रसो णत्थि ॥ ६७० ॥

बहुकैर्जल्पितैः कथितं स्मः शपथं कृत्वा ।

शब्द एव तस्या भद्रो भोगिनीयन्त्रे रसो नास्ति ॥

“बहुत मजदूरों ने शपथ करके कहा है कि सेठानी की मशीन में आवाज ज्यादा है, रस कुछ भी नहीं ।”

यह अनुवाद तो ठीक है परन्तु गाथा की संस्कृतच्छाया अशुद्ध है । ‘कथितं स्मः’ इस प्रयोग में यदि ‘स्मः’ अस् धातु के उत्तम पुरुष का बहुवचन है तो उसके साथ ‘कथितम्’ का अन्वय व्याकरण-विहित नहीं है । मूल में ‘अम्हे’ पद ‘स्म’ का प्राकृत रूप नहीं है । वह अस्मद् का षष्ठ्यन्त रूप है और अस्माकं के अर्थ में प्रयुक्त है । ‘सवहे’ द्वितीया का बहुवचन है । संस्कृत में उसका रूपान्तर ‘शपथान्’ होगा । ‘से’ की संस्कृतच्छाव्या ‘तस्याः’ की गई है । वह भी वाक्य में शब्दों की स्थिति को देखने पर उचित नहीं प्रतीत होती क्योंकि ‘स्त्रीलिङ्ग तस्याः तत्पुरुषसमास के अवयवभूत अप्रधान भोगिनी शब्द से अन्वित नहीं हो सकता है । समस्त पद भोगिनीयन्त्र में प्रधानता यन्त्र शब्द की है । उसके अनुसार ‘से’ की संस्कृतच्छाया तस्य होनी चाहिये । ‘से’ का प्रयोग दोनों लिंगों में विहित

है। भोइणी का सेठानी अर्थ उचित नहीं है। पाइसद्दमहण्णव के अनुसार उसका अर्थ ग्रामाध्यक्ष की पत्नी है। भोइणी देशी शब्द है।

संस्कृत योगिन् शब्द से भी विलासिनी के अर्थ में स्त्रीलिंग भोगिनी ( भोइणी ) को सम्बद्ध किया जा सकता है। 'बहुकैर्जल्पितैः = कथितम्'—में जल्पस और कथन—इन दो समानार्थक क्रियाओं का प्रयोग उचित नहीं है। संख्यावाचक विशेषण 'बहुकैः' किसी संख्येय विशेष्य की अपेक्षा रखता है। वाक्य में कोई कर्ता भी नहीं है। अतः बहुकैः विशेषण के द्वारा जिसे विशेषित किया गया है उस कर्तृपद को ढूँढ़ना आवश्यक है। गाथा के पाठान्तर में 'जंपिएहि' के स्थान पर 'जंतिएहि' भी दृष्टिगत होता है। इस तृतीयान्त जंतिएहि ( यान्त्रिकैः—कोल्हू चलाने वालों के द्वारा ) का कर्ता के रूप में 'कथितम्' क्रिया से तो अन्वय हो ही जायेगा बहुकैः विशेषण से भी सम्बन्ध स्थापित हो जायेगा। 'जंतिएहि' का लिपिभ्रंश से जंपिएहि हो जाना स्वाभाविक है।

संस्कृतच्छाया इस प्रकार होनी चाहिये—

बहुकैर्यान्त्रिकै कथितमस्माकं शपथान् कृत्वा ।

शब्द एव तस्य भद्रो भोगिनीयन्त्रे रस नास्ति ॥

**सिसिरे वनदवडड्डं वसंतमासम्मि उअह संभूयं ।**

**कंकुसकण्णसरिच्छं दोसइ पत्तं पलासस्स ॥ ७७५ ॥**

'देखो, शिशिर में जंगल की आग से जला और वसन्त के महीने में पैदा हुआ पलाश का पत्ता कंकुस ( ? ) के कान जैसा दीखता है।'

यहाँ प्रश्नचिह्नान्कित कंकुस का अर्थ नेवला (नकुल) है।

**दिअहे दिअहे णिवडइ गिहवइधूआ सिणेह माउच्छा ।**

**संगहणइ त्ति वावउ वसहारा खुज्जसहारे ॥ ७७९ ॥**

“गाथार्थ अस्पष्ट।”

आर्थिक अस्पष्टता के कारण प्रस्तुत गाथा का अनुवाद नहीं किया गया है। संस्कृतच्छाया भी नहीं दी गई है। मूलपाठ विकृत हो गया है। प्रथम पाद में 'णिवडइ' और द्वितीय पाद में 'सिणेह' की उपस्थिति गाथा को अस्पष्ट बना देती है। लिपिदोष से ड का इ और चि का सि हो जाना बहुत ही स्वाभाविक है। यदि 'सिणेह' के स्थान पर चिणेउ' और 'माउच्छा' के स्थान पर आउच्छा ( आतुच्छा ) कर दें तो चिणेउमाउच्छा ( चेतुम् आतुच्छा = आ समन्ताद् तुच्छा, सब प्रकार से तुच्छ, ओछो ) हो जायेगा। इससे गाथा सार्थक हो जायेगी। संगहणइ क्रिया संस्कृत संगहणाति के प्राकृतीकरण से बनो है। गाथा की संस्कृत-च्छाया यह होगी—



दिवसे दिवसे निपतति गृहपतिदुहिता चेतुमातुच्छा ।

संग्रह्णति इति व्याप्नोतु वसुधारा कुब्जसहकारे ॥

वसुधारा का अर्थ है—आकाश से होने वाली स्वर्णवृष्टि ।

( देखें—पाइयसहमहणव )

गाँव से दूर निर्जन में गृहपति ने आम का एक वृक्ष लगाया था । पीले-पीले पके आम गिर रहे थे । गृहपति की पुत्री फल लाने के ब्याज से उसी वृक्ष के नीचे अपने गुप्त प्रेमी से मिला करती थी । प्रेमी ने सोचा—अन्य लोग भी आम के लोभ से यहाँ आ सकते हैं और मेरे प्रणय-व्यापार में बाधा पड़ सकती है । अतः वह गाँव के लोगों को रोकने के लिये सबको सुनाकर कह रहा है—

गृहपति की तुच्छ पुत्री प्रत्येक दिन ( आम ) इकट्ठा करने के लिये आ घमकती है और ( मुझे ) पकड़ लेती है । आकाश से होने वाली स्वर्णवृष्टि आम के कुवड़े ( नाटे ) वृक्ष पर व्याप्त हो जाये । ( मुझे उससे कुछ लेना-देना नहीं है ) ।

वक्ता व्यंजक शब्दों के द्वारा यह ध्वनित कर रहा है कि गृहपति की पुत्री बहुत ही तुच्छ प्रकृति की है । आमों को सोना समझती है । एक-एक आम पर टूट पड़ती है । मैं स्वयं उसके द्वारा कई बार पकड़ा जा चुका हूँ । अतः तुम लोग वहाँ मत जाना । यदि जाओगे तो अपमान ही हाथ लगेगा ।

गाथा के प्रत्येक पद में विलक्षण व्यंजकता है । गृहपति पुत्री में 'गृहपति' से प्रभुस्वातिशय जनित आतंक, 'आतुच्छा' से औदार्य का अभाव, 'निपतति' से त्वरा, लोभ, कार्पण्य और क्रोध, 'दिवसे दिवसे' से सतत सतकंता और 'संग्रह्णाति' से मोक्षण-दौर्लभ्य अभिव्यक्त होता है । एक ओर कुब्ज शब्द फलों के अनाधिक्य की सूचना देकर अनाकर्षण व्यंजित करता है तो दूसरी ओर व्याप्नोतु क्रिया के गर्भ में जो उपेक्षा भाव है वह पूर्वानुभूत अपमान एवं संग्रहण ( पकड़ा जाना ) की प्रतीति के साथ इतरजन-गमन-प्रतिषेध में पर्यवसित हो जाता है । 'वसुधारा' में यह ध्वनि अन्तर्निहित है कि गृहपति की पुत्री इतनी लालची है कि भूमि पर गिरते हुये पीले पके आमों को आकाश से होने वाली असंभावित सुवर्णवृष्टि के समान महार्ह एवं अपरिहेय समझती है, अतः फल याचनार्थ भी वहाँ मत जाओ । ग्रह, धातु में विद्यमान सम् उपसर्ग की व्यंजना तो सर्वातिशायिनी है । वक्ता उसके माध्यम से इंगित कर रहा है कि यदि कभी गृहपति की पुत्री के साथ मेरा अतिशय शरीर-संयोग देखना तो समझ लेना— मैं आमों की चोरी में पकड़ा गया हूँ और छटने के लिये मल्लयुद्ध कर रहा हूँ ।

वसुधारा पद में साध्यवसाना लक्षणा है । 'चन्द्रो हसति' ( चन्द्रमा हँसता है )

के समान यहाँ उपमेय के स्थान पर उपमान का प्रयोग किया गया है। इससे आमों के पीतवर्ण, परिपक्वत्व और अदेयत्व की प्रतीति होती है।

इस प्रकार अस्पष्ट होने के कारण अब तक उपेक्षित पड़ी हुई यह प्राकृत गाथा ध्वनिकाव्य का अप्रतिम निदर्शन सिद्ध होती है।

**उड्डियपासं तणच्छणकंदरं णिहुअसंठियावक्खं ।**

**जूहाहिव ? परिहर मुहमेत्तसरीयं कल... ॥ ७८१ ॥**

“गाथा भ्रष्ट और त्रुटित है।”

इस अपरिस्फुट और परित्यक्त गाथा का अर्थनिरूपण करने के पूर्व त्रुटित पाठ को जोड़ना परम आवश्यक है। चतुर्थ पाद में छः मात्राएँ कम हैं। उपलब्ध पाठ में किसी जूहाहिव (यूथाधिप) को सम्बोधित किया गया है और उसके साथ अनुज्ञार्थक क्रिया ‘परिहर’ दी गई है। यदि यूथाधिप को गजयूथाधिप मानते हैं तो परिहर क्रिया के कर्म के लिये उपलब्ध द्वितीयान्त पद ‘मुहमेत्तसरीयं’ पर निर्भर होना पड़ता है। अतः सर्वप्रथम इसी का अर्थ समझने का प्रयास करते हैं। ‘सरीयं’ कोई सार्थक पद नहीं है। यदि स पर इ की मात्रा लगा देते हैं तो सार्थक शब्द सिरियं (श्रोकं) बन जाता है। इस प्रकार एक समस्त पद ‘मुहमेत्तसिरियं’ (मुखमात्रे वदनमात्रे श्रो = कान्तिर्यस्य = जिसके मुख मात्र में कान्ति शेष रह गई है) को उपलब्ध होती है। अब इतना अर्थ स्पष्ट हो जाता है—

हे यूथाधिप ! जिसके मुखमात्र में कान्ति (श्रो) शेष रह गई है उसे छोड़ दो। इस आंशिक अर्थोपलब्धि में विशेष्य का अभाव है। आगे के वर्णन में केवल क शेष बचा है। अतः अनुमित होता है कि विलुप्त विशेष्य का प्रथमाक्षर क है। यदि क के पश्चात् लहं और जोड़ देते हैं तो मुहमेत्तसिरियं (मुखमात्रश्रोकं) का आधारभूत विशेष्य कलहं (कलभं) शब्द उपलब्ध हो जाता है। यह निसर्गतः जूहाहिव (यूथाधिप) से सम्बन्धित है और परिहर क्रिया का कर्म भी हो सकता है। इस प्रकार छः मात्राओं में से तीन की पूर्ति हो जाती है। विशेष्य की प्राप्ति के पश्चात् अब हमें केवल विशेषण को आवश्यकता है। यदि कलहं (कलभं) के पश्चात् चतुर्मात्रिक विशेषण अट्टं (आतं) रख देते हैं तो कलहं का अनुस्वार अग्रिम अट्टं के अकार से मिलकर मकार के रूप में परिणत हो जाता है और बढ़ी हुई एक मात्रा कम हो जाती है। इस प्रकार ‘कलहभट्टं’ के द्वारा गाथा का विकलांगत्व तो दूर हो जाता है। परन्तु पूर्वार्ध में किचिद् वैरूप्य की निवृत्ति शेष रह जाती है। इसके लिये ‘तणच्छणकंदरं’ (तृणघन्नकन्दरं) को ‘तणघणकंधरं’ (तृणच्छन्नकंधरं) पढ़ना होगा क्योंकि कलभ-कलेवर-वर्णन में कन्दरा नहीं कन्धरा (गर्दन) की ही सार्थकता है।

परिमाजित गाथा की संस्कृतच्छाया यह होगी—

[ उत्क्षिप्तपार्श्वं तृणच्छन्नकन्धरं निभृत संस्थितावक्षसम् ।

यूथाधिप ! परिहर मुख मात्रश्रीकं कलभमार्तम् ॥ ]

एक रुग्ण एवं मुमुषु कलभ ( हाथी का बच्चा ) पृथ्वी पर पड़ा है। उसके शूंड का नायक गजेन्द्र अन्तिम क्षणों में उसे छोड़ कर नहीं जा रहा है। उसके प्रति किसी सहृदय की उक्ति है।

अर्थ—हे यूथाधिप ! जिसका पार्श्व ( शरीर के बगल का भाग ) ऊपर उठ गया है, जिसका कन्धा तृणों से आच्छादित हो चुका है, जिसका आवक्ष ( छाती तक ) शरीर निचेष्ट ( निभृत ) है तथा जिसके मुख मात्र में ही श्री ( कान्ति ) शेष रह गई है उस आर्त ( रोग ग्रस्त ) कलभ को त्याग दो।

प्रस्तुत गाथा अप्रस्तुत प्रशंसा-शैली में यूथाधिप के व्याज से झियमाण पुत्र के मोह-पाश में आबद्ध किसी गृहस्थ पुष्य का संकेत करती है।

**चउपासहिण्ण हुयवहविसमाहः हवेढणापिउलं ।**

**णिव्वाहेउं जाणइ जूहं जूहाहिवो च्चेव ॥ ७८४ ॥**

“चारों तरफ से उत्पन्न अग्नि के विषय में पड़े व्याकुल यूथ को यूथाधिप ही निकालने का ढंग जानता है।”

उपयुक्त संक्षिप्त अनुवाद केवल पूर्वार्ध के कतिपय पदों और उत्तरार्ध के वर्णन पर अवलम्बित है। न तो ऋटित पाठ के पूरण का प्रयास किया गया है और न विकृत वर्णाकृति का निवारण। द्वितीय पादस्थ हः प्राकृत की प्रकृति के प्रतिकूल होने के कारण सर्वथा हेय है। यदि ‘हवेढणापिउलं’ में अवस्थित प्रारम्भिक हकार को समूह शब्द का अन्तिम अवशिष्ट भाग स्वीकार कर लेते हैं तो समूहवेढणापिउलं ( समूहवेष्टनापिचुलम् )—यह एक सार्थक पद संहति बन जाती है। अब समूह के पूर्व समुह्यमान वस्तु का भी निर्देश आवश्यक है। प्रथम पादगत ‘हुयवह’ ( हुतवह = अग्नि ) को सन्निधि से ज्ञात होता है कि उक्त वस्तु अग्नि से सम्बद्ध ही होगा। ऐसी वस्तु का वाचक शब्द अच्चि ( अचि ) है। यदि विषम और समूह के मध्य में अच्चि शब्द और जोड़ देते हैं तो गाथा का आंगिक वैकल्य दूर हो जाता है। गाथा की संस्कृतच्छाया यह है—

चतुष्पार्श्वं भिन्न हुतवहविषमार्चिर्वेष्टनापिचुलम् ।

निर्वोढुं जानाति यूथं यूथाधिप एव ॥

शब्दार्थ—भिन्न = लगी हुई।

पिचुल = रूई

अर्थ—चारों पार्श्वों में लगी आग की विषम अचियों ( लपटों ) के समूह

की लपेट में जो रूई बन गया है ( रूई के समान जल रहा है । ) उस यूथ ( झुण्ड ) को निकाल ले जाना यूथाधिप ( प्रमुख गज ) ही जानता है ।

यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा में प्रयुक्त यूथाधिप शब्द किसी संकटापन्न जनोद्धारक शूर का प्रतीक है ।

**अल्लगकवोलेण वि गयमइणा पत्तदसावसणम्मि ।**

**अज्ज वि माए सणाहं गयवइजूहं धरंतेण ॥ ७८५ ॥**

प्रस्तुत गाथा का अर्थ अस्पष्ट बताया गया है । न तो इस की संस्कृतच्छाया है और न अनुवाद । द्वितीय पाद में लिपिभ्रंश के कारण 'गयवइणा' के स्थान पर गयमइणा हो गया है । इसकी संस्कृतच्छाया इस प्रकार होगी—

आद्राग्रिकपोलेनापि गजयतिना प्राप्तदशाव्यसने ।

अद्यापि मातः सनाथं गजपतियूथधिगमाणेन ॥ ( जीवता )

गाथा अप्रस्तुत प्रशंसा-शैली में गजपति के प्रतीक द्वारा एक ऐसे प्रथित-पराक्रम ग्राम्यपाल का वर्णन करती है जो आजीवन ग्रामवासियों की रक्षा करते-करते अतिवृद्ध हो चुका है, परन्तु उसके कारण अब भी लोग अपने को पूर्ण सुरक्षित समझते हैं ।

गाथार्थ—हे माँ ! वृद्धावस्था ( आर्हं हुई दशा आप्ता दशा ) के व्यसन ( संकट ) में भी जिसके कपोल का अग्रभाग ( मद से ) आर्द्र हैं उस जीवित गजेन्द्र ( गजपति ) के द्वारा आज भी गजों का झुण्ड सनाथ है ।

यह किसी ग्राम्या का कथन है ।

**गामम्मि मोहणाइं दिण्णे खग्गे व्व चोरहित्थाइं ।**

**गह्वइणो णामेणं कियाइ अण्णेण वि जाणेण ॥ ७८७ ॥**

“तलवार—अस्पष्ट ॥ ७८७”

इस गाथा की भी अस्पष्टता का उल्लेख किया गया है । न अनुवाद है; न संस्कृतच्छाया । सम्पादक के अनुसार इसमें तलवार का वर्णन है, परन्तु यह उसका भ्रममात्र है, क्योंकि, खग्ग ( तलवार ) के अनन्तर सम्भावना-द्योतक व्व निपात के प्रयोग से उस ( खग्ग ) का अप्रकृत होना निश्चित है । कवि का वर्ण्यविषय अप्रकृत नहीं, प्रकृत होता है । अतः उद्धृत गाथा का वर्ण्यविषय कुछ और ही वस्तु होगी जिसमें 'खग्ग' की सम्भावना की गई है । 'दिण्णे', 'खग्गे' और 'गामम्मि'—इन तीनों पदों में समासनिर्मुक्त या समासयुक्त अवस्था में पारस्परिक विशेषण-विशेष्य-भाव सम्भव नहीं है । ये ऐसी उपमा के अंगभूत उपमान भी नहीं हो सकते क्योंकि उत्तरार्ध में कोई भी प्रकृतभूत सप्तम्यन्त पद नहीं है । उत्तरार्धगत तृतीयान्त जणेण पद निष्ठान्तक्रिया कियाइ का कर्ता है ।

उसके साधन या करण के रूप में तृतीयान्तपद 'नामेण' आया है। यदि साधन-रूप 'खग्' को साधनरूप, णामेण का उपमान मानते हैं तो अन्वय के लिये 'खग्' में भी णाम के समान तृतीया विभक्ति आवश्यक हो जाती है। अतः पदान्विति के लिये 'दिण्णे खग्गे व्व' के स्थान पर दिण्णखग्गेण व ( दत्तखड्गे-नेव ) पाठ समीचीन ठहरता है। चतुर्थपादगत 'हित्थ' की प्रसंगानुकूल व्याख्या सम्भव नहीं है। यदि 'हित्थ' में 'हि' के स्थान पर स रख देते हैं तो सत्य शब्द बन जाता है। यह प्रसंगानुकूल अर्थ भी देता है। अतः गाथा को इस प्रकार पढ़ना होगा—

गामम्मि सोहणाइं दिण्णखग्गेण व चौरसत्थाइं ।

गह्वइणो णामेणं कियाइं अण्णेण वि जणेण ॥

संस्कृतच्छाया यह होगी—

ग्रामे मोहनानि दत्तखड्गेनेव चौरस्वस्थानि ।

गृहपतेर्नाम्ना कृतान्यन्येनापि जनेन ॥

अन्वय—गृहपतेर्नाम्ना दत्तखड्गेनेव अन्येनापि जनेन ग्रामे मोहनीय चौर-स्वस्थानि कृतानि ।

प्रसंग—किसी ग्राम का प्रचंड शूर एवं प्रतापी गृहपति दिवंगत हो चुका है, फिर भी उसके नाम का आतंकपूर्ण प्रभाव अब भी शेष है। वह ग्रामवासियों को खड्ग ( तलवार ) के समान अपना विश्रुत नाम देकर मरा है। साधारण मनुष्य भी उसका नाम लेकर दस्युओं को भगा देता है। इस प्रकार दस्युमुक्त वातावरण में तरुणियाँ निर्भय होकर रतिक्रीडायें करती रहती हैं। उनके रमणकाल में आक्रान्ताओं का भय नहीं रहता ।

अर्थ—गृहपति के नाम से अन्य जन्य ने भी ग्राम में ( तरुणियों के ) रमण ( मोहन ) चोरों से स्वस्थ ( भयमुक्त ) कर दिया है, मानो उसे ( नाम के रूप में ) तलवार दे दी गई है ।

मलिनाइं अंगाइं बाहिरलोएण मंसलुद्धेण ।

हिययं हियएण विणा ण देइ वाही भमइ हट्टं ॥ ७८८ ॥

[ मलिनांन्यङ्गानि बाह्यलोकेन मांसलुब्धेन ।

हृदयं हृदयेन विना न ददाति व्याधी भ्रमति हाटम् ॥ ]

उपयुक्त संस्कृतच्छाया में हाटम् के स्थान पर हट्टं होना चाहिये ।

इस गाथा का अनुवाद यों किया गया है—

“बाजार—व्याध की स्त्री के अंग मलिन है, बाहर के मांस-लोभी लोगों को वह हृदय के बिना हृदय नहीं देती और बाजार में घूमती है ।”

उपयुक्त अनुवाद के सम्बन्ध में अनुवादक ने 'विमर्श' में यह लिखा है—

“विमर्श—वेबर के अनुसार इस गाथा का अर्थ ठीक नहीं लगता।”

इससे विदित होता है कि प्रस्तुत गाथा की आर्थिक विसंगति का अनुभव पाश्चात्य विद्वान् वेबर ने भी किया था।

अनुवादक के द्वारा बाजार को गाथा का प्रतिपाद्य विषय मानना अयुक्त है। वस्तुतः विलक्षण लावण्यवती व्याधी का ही वर्णन कवि को अभिप्रेत है।

‘बाहिरलोएण मंसलुद्धेण’ का अर्थ ‘बाहर के मांसलोभी लोगों को’ करना प्राकृत व्याकरण की अनभिज्ञता का द्योतक है। उक्त वर्णन अंगमालिन्य का साधक है। गाथा के पूर्वार्ध का अन्वय इस प्रकार होगा—मंसलुद्धेण बाहिरलोएण अंगाइ मलणाइ। (मंसलुद्धेन बाह्यलोकेन अङ्गानि मलिनानि अर्थात् मांस के लोभी बाह्य लोगों ने अंगों को मलिन कर दिना है।) गाथा में एक ऐसी सुन्दर व्याध-तरुणी का वर्णन है जो बाजार में निर्भय घूमती है, परन्तु किसी लम्पट के चंगुल में नहीं फँसती। वह अपने अंग तो दूसरों को यह कहकर नहीं सौंपती है कि ये तो मांसलोभी बाहरी लोगों के द्वारा दूषित हो चुके हैं। इनका स्पर्श भी सम्भ्रान्त पुरुषों के लिये निन्दनीय है। रह गया हृदय। उसे भी वह किसी को तभी देने के लिये तत्पर है जब उसके बदले हृदय (सच्चा हार्दिक प्रेम) प्राप्त हो। न कोई हृदय देने वाला सच्चा प्रेमी मिल रहा है और न वह किसी के वश में हो रही है। निर्भय होकर बाजार में घूमती रहती है। इस प्रकार उसे क्षणिक वासना-पूर्ति के लिये पाखंड-पूर्ण प्रणय का नाटक रचने वाले शील विच्युत एवं लोलुप नरों से आत्मरक्षा का अनुपम उपाय मिल गया है।

गाथा में अंगानि (अंगाइ) और हृदयं (हिययं)—दोनों का अन्वय ददाति (देइ) क्रिया से है।

**कढिणरवरवीरपेल्लण हलं व पत्थरविणिग्गयग्गिकणे ।**

**धेवल्लोआयरियवहे कसरा वि सुहेण वच्चंति ॥७८९॥**

अनुवादक ने इस गाथा को अस्पष्ट कहकर अनूदित नहीं किया है। संस्कृत-च्छाया भी नहीं दी है। तृतीय पाद में धवल के स्थान पर धवल हो गया है। प्रथम पाद का पाठ अनर्गल, विकृत और अशुद्ध है। ‘कढिण’ के पश्चात् रवर के स्थान पर, खर और वीर के स्थान पर सीर पाठ होना चाहिये। ‘हलं’ का अनुस्वार उस पर लगी हुई ए की गलित मात्रा का अवशेष वतुल शिरोभाग है क्योंकि आर्थिक दृष्टि से वहाँ उसकी कोई उपयोगिता नहीं है। हल शब्द फल का प्राकृतरूप है। गाथा का संशोषित पाठ यह है—

कढिणरवरसीरपेल्लणहले व पत्थरविणिग्गयग्गिकणे ।

धवल्लोआयरियवहे कसरा वि सुहेण वच्चंति ॥

संस्कृतच्छाया—

कठिनरवरसीरप्रेरणफले इव प्रस्तरविनिर्गताग्निकणे ।

धवलापावृतपथेऽधमवृषभा अपि सुखेन व्रजन्ति ॥

शब्दार्थ—

सीर = हल

धवलापावृत पथे = धवलेन श्रेष्ठवृषभेण अपावृते प्रकाशिते ( अप + आ + वृ = ढकना + क्त ) पथि मार्गे श्रेष्ठ बैल के द्वारा प्रकटीकृत मार्ग पर ।

कसर = अधम बैल

गाथार्थ—जिस पर पत्थर से अग्नि के कण निकलते थे, जो कठिन एवं प्रखर हल के कर्षण का फल ( परिणाम ) है, श्रेष्ठ वृषभ के द्वारा अपावृत किये गये ( प्रकाशित किये गये ) उस मार्ग पर अधम बैल भी सुख से चलते हैं ।

गाथा में अन्योक्ति है ।

छेत्तम्मि जेण रमिया, ताओ किर तस्स चेअ मंदेइ ।

जइ तीअ इमं णिसुयं, फुट्टइ हिययं हरिसयाए ॥ ७९१ ॥

संस्कृतच्छाया—रहित इस गाथा का अनुवाद इस प्रकार किया गया है—

“ताप—खेत में जिससे रमण किया है उसी का ताप मन्द पड़ रहा है, यदि उसने सुन लिया है सो उसका हृदय हर्ष से फूट पड़ेगा (?) ।”

इस अनुवाद का आशय स्पष्ट नहीं है । अनुवादक ने स्वयं इस पर प्रश्न-चिह्न लगाया है । अतः इसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कुछ भी लिखना व्यर्थ है ।

गाथा की संस्कृतच्छाया यों होगी—

क्षेत्रे येन रमिता तापः किल तस्यैव मन्दायते ?

यदि तयेदं निश्रुतं स्फुटति हृदयं हर्षतया ॥

इसके पूर्वार्ध में काकु से आक्षिप्त प्रश्न विद्यमान है ( जैसे तुम जाओगे ? ) वर्तमान कालिक क्रिया ‘फुट्टइ’ व्यत्ययचश्म ( है० सू०, ४।४४७ ) के अनुसार भूतकाल का अर्थ देती है । प्रस्तुत छन्द को हृदयंगम करने के पूर्व प्रसक्त प्रकरण का परिज्ञान आवश्यक है । नायिका ने जिस दूती को नायक के निकट सन्देश देकर भेजा था वह उसी ( नायक ) के साथ खेत में रमण करके लौटी है । नायिका की सखी विपरीत लक्षणा में उस पर व्यंग्य कस रही है

अर्थ—जिसने खेत में तुम से रमण किया है, क्या उसी का अनंग-संताप

मन्द हो रहा है ? यदि उस ( नायिका ) ने इस घटना को सुना होगा तो उसका 'भी' हृदय हर्षातिरेक से फट गया होगा ।

यहाँ विपरीत लक्षणा से हर्ष का आर्थिक पर्यवसान दुःख में हो रहा है ।  
दुःख और सुख—दोनों के अतिरेक में हृदय फटना लोक प्रसिद्ध है ।

प्रश्न पुरस्सर तस्यैव पद से यह ध्वनि निकलती है कि तुमने अपने कृत्य-द्वारा केवल नायक का ही सन्ताप नहीं कम किया है अपितु नायिका को भी दुःख से मुक्त कर दिया है, क्योंकि इस वृत्तान्त को सुनकर दुःख से हृदय फट जाने के कारण वह मर गई होगी और अहरह उत्पीडित करने वाली मर्मान्तक विरह-वेदना से सर्वदा के लिये छुटकारा पा गई होगी ।

हियं गियामि कठिणं... पा हासेण घडियं मे ।

विरहाणलेण तत्तं, रससित्तं अंतिता फुटह ॥

इसकी न तो संस्कृतच्छाया दी गई है और न इसका अनुवाद ही किया गया है । अनुवादक ने इसे अस्पष्ट घोषित कर छोड़ दिया है । मूल प्राकृत पाठ खंडित और अशुद्ध है । द्वितीय पाद का प्रारंभिक अंश नष्ट हो गया है। उत्तरार्ध के अन्वय में दो शब्द बाधक हैं—अनुज्ञार्थक बहुवचनान्त क्रिया फुटह और अंतता नियमानुसार जिसका प्रतपन वर्णित है उसी का स्फोट भी आवश्यक है । अनल-ताप और रससेक—दोनों का आधार हृदय है । यह शब्द व्याकरणानुसार प्रथम पुरुष एकवचन हैं । अतः अनुज्ञार्थक बहुवचनान्त क्रिया फुटह का मध्यम पुरुष असंगत है । वहाँ प्रथम पुरुष की वर्तमानकालिक क्रिया फुटह होगी । लिपि में इ का ह हो जाना स्वाभाविक है 'अंतता' तो स्पष्टतः अन्ततो का विकृत रूप है ।.....

पूर्वार्ध का प्रथम पाद शुद्ध है । गाथा में कठिणं, (कठिनम्) घडियं (घटितम्, तत्तं, (तप्तम्) रससित्तं (रससिक्तम्)—ये चारों पद हृदय के विशेषण हैं । इन्होंने विशेषणों की सहायता से खोये हुए पाठ का परिमार्जन संभव है । उत्तरार्ध में तप्त हृदय के रससिक्त होने पर फूट जाने का वर्णन है । इसका कोई कवि कल्पित कारण अवश्य होगा । उसे किसी ऐसी घातु से निर्मित होना चाहिए जो तपने के पश्चात् पानी पड़ने पर फूट जाती हो । पूर्वार्ध में हेतुभूत तृतीया विभक्ति से अनुबद्ध घडियं (घटितम्) पद हृदय की प्रौढोक्ति सिद्ध संरचना की दिशा में संकेत करता है । प्रथम पादस्थ कठिणं (कठिनम्) पद शब्द में हृदय के काठिन्य का प्रतिपादन है । अतः उसकी रचना किसी कठिन उपादान से होनी चाहिए । 'हासेण' की तृतीया विभक्ति बताती है कि यहाँ कोई हृदय-घटक घातु वाचक शब्द रहा होगा । यदि उपलब्ध पाठ में दूरवर्ती पा को 'हासेण' से संयुक्त करते हैं तो 'पाहासेण' बनता है, यह शक निरर्थक है । यदि 'पाहासेण' में स के



स्थान पर ण रख देते हैं तो पाहाणेण (पाषाणेण) पद बन जाता है। यह सार्थक है और कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध कठिन हृदय की रचना के अनुकूल भी है। यह ऐसा उपादान है जो प्रतप्त होने के पश्चात् रस-सेक से फूट जाता है। यद्यपि इतने से ही पूर्वार्ध आर्थिक दृष्टि से संघटित हो जाती है तथापि उसका विकलांगत्व दूर नहीं होता। उसमें पाँच मात्राओं की कमी रह जाती है।

उनकी पूर्ति के लिये ऐसे शब्दों की आवश्यकता है जिनके साथ आर्थिक ताल-मेल हो सके। 'मे' पद से स्पष्ट है कि गाथा नायिका की उक्ति है। विरहाणलेण तत्तं (विरहानलेन तप्तम्) से हृदय की वह पूर्ववस्था सूचित हो रही है जिसमें स्फोट का अभाव है और रससिक्तं (रससिक्तम्) से वह उत्त रावस्था लक्षित हो रही है जिसमें स्फोट अवश्यम्भावी है। नायिका अपने हृदय को उस चरमपरिणति से वचाना चाहती है। अतः यह अनिष्टकर परिस्थिति अवश्य ही किसी अन्य के द्वारा उपस्थित की गई होगी। कोई स्वयं ऐसी घातक परिस्थिति क्यों उत्पन्न करेगा? संभव है मानवती चिरविरहिणी नायिका को सखी ने सहानुभूति पूर्वक नायक का रसमय संयोग कराने का प्रस्ताव किया हो। यदि ऐसा है तो रिक्त स्थान पर सखी का सम्बोधन होना चाहिए। द्विमात्रिक सम्बोधन सहि (सखि) शब्द का निवेश कर देने पर शेष तीन मात्राओं के लिये या तो कोई विशेषण रख सकते हैं या फिर सर्वनाम सर्वनाम अधिक उपयुक्त है, क्योंकि विशेषण साभिप्रायता के अभाव से आंगिक शोथ के समान वैरूप्य उत्पन्न कर देता है। यहाँ हृदय के लिए इणं (इदम्) सर्वनाम का प्रयोग अधिक व्यंजक होगा। उसमें विरहानलोत्तप्त हृदय को प्रत्यक्ष एवं अनुभवमात्रैकगम्य अवस्था-विशेष को प्रतीति अन्तर्निहित हैं।

अब खंडित गाथा का अखंडित पाठ यों होगा—

हिययं णियामि कठिणं सहि ! इणं पाहाणेण घडियं मे ।

विरहाणलेण तत्तं रससिक्तं अंततो फुडइ ॥

'फुडइ' का इकार पदान्त में होने के कारण दोष पढ़ा जायेगा। यह क्रिया 'वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा' के अनुसार भविष्यकाल का अर्थ देती है।

इसकी संस्कृतच्छाया इस प्रकार होगी—

हृदयं पश्यामि कठिनं सखि ! इदं पाषाणेन घटितं मे ।

विरहानलेन तप्तं रसासिक्तमन्ततो स्फुटति ॥

प्रसंग—विरहिणी नायिका विछोह सहते-सहते निराश हो गई है। वह समझती है कि मेरा हृदय पाषाण से बना है तथा विरह में तप चुका है। रस (विषयानन्द) से सिक्त होते ही वह वैसे ही फूट जायेगा जैसे आग में तपाया

पत्थर रस ( जल ) से सिक्त होने पर फूट जाता है । वह अपनी यह आशंका सखी को बता रही है ।

**गाथार्थ—**हे सखि ! मैं देख रही हूँ कि मेरा यह कठिन हृदय पाषाण से निर्मित है । यह विरहानल से सन्तप्त है ( तपा हुआ है ) अतः रस ( स्नेह, जल ) से सिक्त होने पर फूट जायेगा ( क्योंकि पाषाण निर्मित वस्तु आग में तपने के पश्चात् पानी पढ़ने पर फट जाया करती है । )

**अण्णे ते किल सिहिणो सिणरससेएण हुंति विच्छाया ।**

**आसाइयरस सेओ होइ विसेसेण णेहजो दहणो ॥७९३॥**

[ अन्ये ते किल...शिखिनः रससेकेन भवन्ति विच्छायाः ।

आसादितरससेको भवति विशेषेण स्नेहजो दहनः ॥ ]

“स्नेहाग्नि—वे अन्य अग्नि हैं जो पानी से सींचे जाने पर बुझ जाते हैं, स्नेह से उत्पन्न अग्नि, रस का सेक पाकर भड़क उठता है ।”

उपयुक्त अनुवाद ठीक नहीं है, क्योंकि मूल में आग भड़कने का अर्थ प्रदान करने वाला कोई भी शब्द नहीं है । संस्कृतच्छाया की शब्दावली के अनुसार उत्तरार्ध का सीधा और स्पष्ट अर्थ तो यह है—स्नेहज अग्नि विशेष रूप से ऐसा है जो रससेक को प्राप्त करता है । इसमें अग्नि भड़क उठने की बात कहाँ से अनुवादक ने घुसेड़ दी है ?

मूल प्राकृत की संस्कृतच्छाया इस प्रकार भी संभव है—

[ अन्ये ते किल शिखिनः स्वकीर्णरससेकेन भवन्ति विच्छायाः ।

आस्वादित रससेको (आसादित रसश्चेतो; आसादित रसश्रेयाः वा) भवति स्नेहजो दहनः ॥ ]

पूर्वार्धगत ‘सिण’ स्व ( प्राकृत स ) और कीर्ण ( प्राकृत किण्ण ) शब्दों के संयोग से बना है । स ( संस्कृत स्व ) के अनन्तरवर्ती समासस्थ किण्ण के ककार का लोप हो जाने पर इण्ण शब्द बन गया । पुनः पूर्वस्थ स के साथ सन्धि होने पर सिण्ण<sup>१</sup> की निष्पत्ति हो गई । अपभ्रंश के प्रभाव से सिण्ण का सिण हो जाना स्वाभाविक है । छन्द के अनुरोध से भी ऐसा हो सकता है । ‘स्वकीर्णरससेकेन विच्छायाः’ का अर्थ होगा—अपने भीतर फेंके गये रस ( जल ) के निष्पन्द ( बूँद ) से कान्तिहीन । ( स्वस्मिन् आत्मनि कीर्णः प्रक्षिप्तो यो रसः जलं तस्य सेकेन निष्पन्देन विगता छाया येषाम् ) ।

सिण की आसार्थक संस्कृत सिन शब्द का प्राकृत रूप मानकर भी व्याख्या

१. बहुलाधिकार से उद्वृत्त स्वर में भी सन्धिकार्य होता है । इसके लिये सू० स्वरस्योद्वृत्ते (१/८७) की वृत्ति द्रष्टव्य है ।

संभव है। प्राकृत में समस्त पदों का पूर्वनिपात और परनिपात संस्कृत के समान निश्चित नहीं है। कभी-कभी उसका व्यत्यय भी हो जाता है। इस दृष्टि से 'सिणरससेण' को 'रससेअसिणेण' ( रस के सेक के ग्रास अर्थात् भक्षण से ) के अर्थ में भी ले सकते हैं। 'सिण को' थिण का लिपिभ्रष्ट रूप भी माना जा सकता है। थिण शब्द थीण ( स्त्यान = संचित किये गये ) के इकार के ह्रस्वीकरण का परिणाम है। इस दृष्टि से ( स्त्यानेन संचितेन रससेकेन ) संचित रस-सेक से—यह अर्थ होगा।

'आसाइयरससेओ' का संस्कृत रूपान्तर कई प्रकार से संभव है—

१. आस्वादितरससेकः = आस्वादितो अनुभूतो रसस्य वीर्यस्य सेको निष्यन्दो येन अर्थात् जिन ने शुक्रनिषेक का आस्वादन किया है।
२. आसादितरसस्वेतः = आसादितेन प्राप्तेन रसेन अनन्देन श्वेतः प्रोज्ज्वलः दीप्तिमान्—मिले हुये आनन्द से दीप्तिगुक्त।
३. आसादितरसश्रेयाः = आसादितेन लब्धेन रसेन वीर्येण श्रेयो मङ्गलं यस्य—प्राप्त हुये वीर्यपात से जिसका कल्याण होता है।

**गाथार्थं**—निश्चय ही वह आग अन्य है जो अपने भीतर रससेक ( जलसेचन ) होने से कान्तिहीन हो जाती है, स्नेह ( अनुराग और तैलादि स्निग्ध पदार्थ ) में उत्पन्न आग रससेक ( वीर्यक्षरण ) का स्वाद लेती है ( आनन्द लेती है, बुझती नहीं है )।

अथवा

स्नेह में उत्पन्न आग विशेषतया उपलब्ध रस-निषेक ( वीर्य-निषेक ) से और दीप्तिमान् हो उठती है।

अथवा

स्नेह में उत्पन्न आग विशेष रूप से ऐसी है कि प्राप्त हुये रससेक ( वीर्य निषेक ) से उसका श्रेय ( मंगल ) होता है ( पुत्र के रूप में )।

स्नेह शब्द में श्लेष है। वह अनुराग के साथ-साथ तैलादि स्निग्ध पदार्थों का भी अर्थ देता है। स्निग्धपदार्थों में लगी आग पानी पड़ने पर सरलतया नहीं बुझती है, एक बार और भभक उटती है।

**अन्तोणिहुअट्टिअपरिअणाइ ओरुद्धदारणअणाइ ।**

**गिम्हे घरट्टुघघररवेण घोरंति घराइं ॥ ७९४ ॥**

[ अन्तर्निभृतस्थितपरिजनान्यवरुद्धदारणयनानि ।

ग्रीष्मे घरट्टुघघरं रवेण घुरघुरन्तीव गृहाणि ॥ ]

“गर्मी में भीतर घर के लोग चुपचाप पड़े हैं, पत्नियों की आँखें मूँद रखी हैं, चक्की की घर्घर आवाज से मानो घर ही चिल्ला रहे हैं।”

उपर्युक्त अनुवाद और संस्कृतच्छाया—दोनों अशुद्ध हैं। 'पत्नियों की आँखें मूँद रखी हैं'—यह कर्तुंहीन वाक्य असम्बद्ध प्रलाप-सा प्रतीत होता है। 'घोरंति' का अर्थ 'चिल्लाना' नहीं है। सोते समय नाक से जो घर्घर शब्द निकलता है उसके लिये प्राकृत में देशज घोरंति क्रिया का प्रयोग होता है।

गाथा का शुद्ध संस्कृत रूपान्तर यह होगा—

[ अन्तर्निभृतस्थितपरिणतान्यवरुद्धद्वारनयनानि ।

ग्रीष्मे घरट्टघर्घररवेण घुरघुरायन्त इव गृहाणि ॥ ]

शुद्ध संस्कृतच्छायानुसारी अनुवाद यह है—

ग्रीष्म में जिनके भीतर परिजन शान्त हो गये हैं, जिन के द्वार नयनों के समान बन्द हैं, वे घर मानों चक्की की घर्घर-ध्वनि-द्वारा सोते समय नाक से निकलने वाला घर्घर शब्द कर रहे हैं ( अर्थात् मानो नौद में खरटि ले रहे हैं । )

गाथा में भव्याह्न की निस्तब्धता में भीतर चलने वाली चक्की की घर्घराहट और द्वारावरोध के आधार पर प्रसुप्त घर के खरटि लेने की संभावना की गई है।

**जइ वेल्लीहि ण माअसि जह इच्छसि परवइं पि लंघेउं ।**

**तह णूणं कोहलिए ! अज्जं कल्लिह व फुल्लिहिसि ॥ ७९७ ॥**

[ यथा वल्लीभिर्न मासि यथेच्छसि परवृत्तिमपि लङ्घयितुम् ।

तथा नूनं कूष्माण्डिके ! अद्य कल्यं वा स्फुटिष्यसि ॥ ]

'री कुम्हड़ी ! तू तो अपनी लतरों में नहीं अँटती और दूसरों के घेरे ( वृत्ति ) को पार कर जाना चाहती है तो निश्चय ही आज या कल में ही टूट जायेगी ।'

यह अनुवाद अशुद्ध है क्योंकि 'स्फुटिष्यति' का प्राकरणिक अर्थ टूटना नहीं, खिलना है। अनुवादक ने श्लेष पर भी ध्यान नहीं दिया है। हल्लिए, 'परवइ', और 'फुल्लिहिसि' में अत्यन्त स्वाभाविक रूप से श्लेष आया है। 'परवइ' के दो अर्थ हैं—१. ( परवृत्ति ) पराई बाड़, २. ( परपति ) पराया पति ।

शेष दोनों पदों के अर्थ इस प्रकार हैं—

कोहलिया = १. ( वनस्पति पक्ष ) कुम्हड़े की लता ।

२. ( नायिका पक्ष ) कुतूहल रखने वाली ।

फुल्लिहिसि = १. ( लता पक्ष ) फूल जायेगी अर्थात् पुष्पित हो जायेगी ।

२. ( नायिका पक्ष ) फूल जायेगी अर्थात् गर्भवती हो जायेगी ।

गाथा का वास्तविक अर्थ यह होगा—

लतापक्ष में—हे कूष्माण्डिके ( कुम्हड़े की लता ) तू अपनी शाखाओं में नहीं समा रही है, और जिस प्रकार दूसरे की बाड़ को भी लाँघ जाना चाह रही है उससे तो आज या कल में ही पुष्पित हो जायगी, क्योंकि पूर्णवृद्धि के पश्चात् ही फूल आते हैं ) ।

नायिका पक्ष—हे कुतुहल रखने वाली 'भृगलोचने' तू मर्यादा ( देहली<sup>१</sup> ) में नहीं समा रही है ( मर्यादा का अतिक्रमण कर रही है ) और जिस प्रकार पराये पति के पास भी जाना<sup>२</sup> ( लघि = जाना ) चाह रही है उससे तो आज या कल में ही फूल जायेगी अर्थात् गर्भवती हो जायेगी ।

**विरहकिसिआ वराई दिणाइ आसणगिम्हपरिणामाई ।**

**कठिनहिअओ पवासी ण आणिमो कह समप्पिहिइ ॥८००॥**

[ विरह कृशिता वराकी दिनान्यासन्नग्रीष्मपरिणामानि ।

कठिनहृदयः प्रवासी न जाने कथं समर्पिष्यते ॥ ]

“बेचारी विरह के मारे दुबरा गई है, समीप पहुँचे ग्रीष्म काल में दिन बड़े होने लगेंगे, प्रवासी कठिन हृदय वाला है, कैसे गुजरेगा ? हमें समझ में नहीं आता ।”

इस अनुवाद में 'गुजरेगा' किसके लिये आया है—यह स्पष्ट नहीं है । 'समर्पिहिइ' क्रिया एकवचन है उसका अन्वय बहुवचन दिनानि से सम्भव नहीं है । वराकी स्त्रीलिंग अतः 'गुजरेगा' यह क्रिया उससे सम्बद्ध हो नहीं सकती । रह गया प्रवासी । वह तो कठिन हृदय ठहरा । उसे गुजरने और न गुजरने की चिन्ता ही कहाँ है ?

वस्तुतः 'समर्पिहिइ' का संस्कृत रूपान्तरण ही अप्रासंगिक है ।

**रोआविअम्हि माए अंगणपहिएण दरपसुत्तेण ।**

**परिवत्तसु माणिणि माणिणि त्ति सिविणे भणत्तेण ॥ ८०१ ॥**

] रोदिताऽश्मि मातः ! अङ्गण पथिकेन दर प्रसुत्तेन ।

परिवर्तस्व मानिनि मानिनीति स्वप्ने भखता ॥ ]

“आँगन में सोये पथिक ने सपनाते हुये कहा—हे स्वामिनि, हे मानिनि, प्रसन्न हो' (यह सुनकर) माँ, हमें रुलाई आ गई है । उपयुक्त अनुवाद में परिवर्तस्व का अर्थ ठीक नहीं है । उसका अर्थ “करवट लो” है “प्रसन्न” नहीं ।

१. मर्यादावाचक वेला शब्द लकारद्वित्व की दशा में वेल्ला का आकार धारण करेगा । पुनः आदीतो बहुलम् ( प्राकृत प्रकाश ५।२४ के अनुसार ईकारान्त हो जाने पर वेल्ली बन जायेगा ।

२. लघि घातु ( लघ् ) गत्यर्थक है ।

पथिक स्वप्न में देख रहा है कि उसकी मानिनी प्रिया शय्या पर उसकी ओर पीठ करके सोई हुई है। अतः वह उससे करवट बदल कर अपनी ओर मुँह करने की प्रार्थना कर रहा है।

‘समप्पिहिद्’ सम् उपसर्गपूर्वक आप् धातु का भविष्यत्कालिक प्राकृत रूप है। संस्कृत में इसका रूप ‘समाप्स्यसि ( समाप्त करेगी या समाप्त करेगा )’ है। गाथा का अन्वय इस प्रकार करें तो अर्थ स्पष्ट झलकने लगेगा—

प्रवासी कठिनहृदयः ( अस्तीति शेषः ) विरहकुशिता वराकी आसन्नग्रीष्म-परिणामानि दिनानि कथं समाप्स्यति ( इति न जानीमः ) ।

गाथार्थ—प्रवासी ( नायक ) का हृदय कठोर है। विरह से दुबली वह बेचारी ( विरहिणी नायिका ) आसन्नवर्ती ग्रीष्म के दीर्घ दिनों को कैसे समाप्त करेगी ( बतायेगी )—यह समझ में नहीं आता है।

यह नायिका की सहेली की उक्ति है।

**कप्पासं कुप्पासंतरम्मि तद्द खित्तमिति भणिरुण ।**

**अत्ता ! बलाहिरेणं थणाण मह कारितात्था ॥ ८०५ ॥**

[ कर्पासं कूर्पासान्तरे त्वया क्षिप्तमिति भणित्वा ।

श्वश्रु ! बलाभीरेण स्तनानां मम कारितावस्था ॥ ]

“चोली के अन्दर तुने ( मेरा ) कपास रख लिया है—यह कह कर जबर अहीर ने मेरे स्तनों की यह हालत कर डाली है।”

इस गाथा की संस्कृतच्छाया का उत्तरार्ध यों होना चाहिये—

श्वश्रु ! बलादाभीरेण स्तनयोर्मम कारितावस्था ।

अनुवादक द्वारा स्वीकृत संस्कृतच्छाया में स्तनों का बहुवचन में पाठ तो अनुचित ही है बल शब्द में विद्यमान पंचमी विभक्ति की भी उपेक्षा कर दी गई है। प्राकृत में इस ( पंचमी एकवचन, विभक्ति में ‘बल’ का रूप ‘बला’ होता है—‘बला’ और ‘अहिरेण’ में सन्धि होने पर ‘बलाहिरेण’ पद बनेगा। ‘बल’ शब्द का अर्थ बलवान् ( जबर ) नहीं है। यहाँ उसका अर्थ है बलपूर्वक।

“कारितावस्था” में विपरीत लक्षणा है। ‘अहीर के द्वारा बलपूर्वक मेरे स्तनों की दशा ( अवस्था ) बना दी गई है।” इस वाक्य का अर्थ है—अहीर के द्वारा मेरे स्तनों की दशा बिगाड़ दी गई है।

‘मेरे स्तनों की यह अवस्था कर डाली है।’ यह अर्थ उचित नहीं है क्योंकि मूल में ‘यह’ का अर्थ देने वाला सर्वनाम नहीं है।

**३५—गाइउ पंचरवारिम्भरीउ, चत्तारि पक्कलवइल्ला ।**

**संपण्णं वालावल्लरअं, सेवा सिवं कुणउ ॥ ८०६ ॥**

“ गाथार्थ ठीक नहीं लगता है ( जेबर ) ।”

पाश्चात्य पंडित वेबर के अनुसार गाथा का ठीक अर्थ नहीं लगता है ।  
अस्पष्टार्थता के कारण इसे अनूदित नहीं किया गया है ।

प्रस्तुत गाथा की संस्कृतच्छाया इस प्रकार होगी—

गावः पञ्च रवारम्भणशीलाश्चत्वारः समर्थवलीवर्दाः ।  
सम्पन्नं कङ्गुक्षेत्रं सेवाशिवं करोतु ॥

इसमें एक ऐसे सम्पन्न कृषक का वर्णन है जो अपनी गृहस्थी से पूर्ण सन्तुष्ट है और नौकरी ( सेवा ) नहीं करना चाहता ।

गाथार्थ— ( मेरे पास ) शब्द पूर्वक ( जोर-जोर ) राँभने ( गाय का शब्द ) वाली पाँच गायें हैं, चार समर्थ बँल हैं, काकुनि ( कङ्गू = एक विशेष प्रकार का अन्न ) का खेत पक ( सम्पन्न ) गया है । सेवा ( नौकरी ) मुक्ति ( शिव ) प्रदान करें ( मुझे छुट्टी दे, या मुक्त कर दे, मुझे उसकी आवश्यकता ही नहीं है । )

शब्दार्थ— पक्कल = समर्थ  
वाला = काकुनि  
वल्लरअं = खेत

३६—विज्जः पिआसा बहलइ घणताओ रवणखणम्मि रोमंचो ।

हिअए ण भाइ अण्णं लज्जापथ्येहि तेजिआ पाणा ॥८०६॥

[ वैद्य! पिपासा वर्धते घनतापः क्षणे क्षणे रोमाञ्चः ।

हृदये न भात्यन्यत् लज्जापथ्यैस्त्याजिताः प्राणाः ॥ ]

“वैद्यजी, प्यास जोर से लगती है, खूब ताप रहता है, तुरंत-तुरंत रोमांच होता है, अन्न अच्छा नहीं लगता, लज्जा के पथ्य से प्राण छूट रहे हैं ।”

उपयुक्त अर्थ और संस्कृतच्छाया—दोनों अपूर्ण हैं । गाथा में जिस रूग्णा नायिका का वर्णन है वह चिकित्सक की प्रच्छन्न प्रेयसी है । वह प्रेमी वैद्य को झिल्लट शब्दों के माध्यम से अपनी मर्यान्तक विरह-यन्त्रणा की सूचना दे रही है । उसके वचन-विन्यास का एक पक्ष रोग से सम्बद्ध है और द्वितीय पक्ष प्रणय से । पूर्वोद्धृत एकपक्षीय अनुवाद में प्रणयान्वित अर्थ को भ्रम वशा रोग के प्रकरण में रख दिया गया है । रोग के प्रसंग में लज्जा के पथ्य का कोई औचित्य ही नहीं है । वहाँ लज्जा का अर्थ श्लेषानुरोध से लाजा ( लावा ) है । रोगियों को लाजा ( लावा ) का पथ्य प्रायः दिया जाता है ( क्योंकि वह सुपाच्य होता है । )

गाथा के उभयपक्षीय संस्कृत रूपान्तरण यों होंगे—

रोग पक्ष—वैद्य ! पिपासा वर्धते घनतापो क्षणे क्षणे रोमाञ्चः ।

हृदये न भात्यन्नं लाजापथ्यैस्त्याजिता प्राणाः ॥

प्रणय पक्ष—वैद्य ! प्रियाशा वर्धते घनतापः क्षणे क्षणे रोमाञ्चः ।

हृदये न भात्यन्यत् लज्जापथ्यैस्त्यागिताः प्राणाः ॥

गाथार्थ—

रोग-पक्ष—हे वैद्य ! प्यास बढ़ रही है, घना ताप ( ज्वर ) है, क्षण-क्षण रोमाञ्च होता है। ( शीत ज्वर में ताप भी बढ़ता है और शीत के कारण रोमाञ्च भी होता है। ) हृदय में अन्न ( अनाज या भोजन ) अच्छा नहीं लगता, लावा के पथ्यों के द्वारा ( अर्थात् लावा खिला-खिला कर ) मेरे प्राण निकाल लिये गये हैं ( अर्थात् मैं लगभग मर चुकी हूँ । )

प्रणयपक्ष—हे वैद्य ! प्रिय की आशा ( तृष्णा ) बढ़ रही है, घना ताप है, ( विरह-ताप ) क्षण-क्षण रोमाञ्च हो रहा है, ( प्रियतम के आंगिक सम्पर्क की परिकल्पना से ) हृदयमें अन्य पुरुष अच्छा नहीं लगता, पथ्यके समान ( अप्रिय ) लज्जा ( लोकलज्जा ) के द्वारा मेरे प्राण छुड़ाये जा चुके हैं ।

३८—छ<sup>१</sup>प्पअ! गम्मसु सिसिरं पासाकुसुमेहिं ताव भा मरसु ।

जीअन्तो वच्छिहिसि अ पुणो बि रिद्धि वसंतस्स ॥८१३॥

इस गाथा की विस्तृत व्याख्या मैं वज्जालग<sup>२</sup> में कर चुका हूँ। यहां इसे उद्धृत करने का उद्देश्य एक शब्द से सम्बन्धित भ्रान्ति का निवारण करना है। वह शब्द है पाशाकुसुम। अनुवादक ने उसका अर्थ पुष्पविशेष किया है। पाइअ-सद्दमहण्णव में भी पाशाकुसुम शब्द संगृहीत है। कोशकार ने उसका अर्थ पुष्प-विशेष ही लिखा है। किसी ने यह नहीं लिखा है कि उक्त पुष्प विशेष की पहचान क्या है। पाइअसद्दमहण्णवकार ने अपने दिये हुए अर्थ के प्रमाण में उपयुक्त गाथा को उद्धृत किया है जिसका पाठ वज्जालग में निम्नलिखित है—

छप्पअ ! गम्मसु सिसिरं वासव कुसुमेहिं ताव मा मुयसु ।

मन्ने नियंतो पेच्छसि पउरा रिद्धी वसंतस्स ॥

इस पाठ में पासाकुसुम ( पाशाकुसुम ) के स्थान पर वासवकुसुम शब्द आया है। अतः प्रस्तुत गाथा में पाशाकुसुम का प्रयोग संदिग्ध है। किसी संदिग्ध स्थिति वाले शब्द का कोश में संग्रह होने से एक व्यापक भ्रम उत्पन्न

१— हे भ्रमर ! अइसे के पुष्पों से तब तक शिशिर बिता दो। मरौ मत। यदि जीवित रहोगे तो वसन्त की प्रचुर समृद्धि पुनः देखोगे।

२— पादर्वन्ताथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी से प्रकाशित।



हो सकता है। पाइअसद्दमहणवकार ने पाशाकुसुम को देशी शब्द भी नहीं लिखा है अतः उसको संस्कृत कोशों में संगृहीत होना चाहिए था। परन्तु प्रचलित शब्दकोशों में वह दिखाई नहीं देता। इसके विपरीत वज्जालग्न के पाठान्तर में स्वीकृत वासव शब्द का अर्थ अडूसा होता है। इस कटु वृक्ष में श्वेत पुष्प लगते हैं। आयुर्वेदीय वासारिष्ट इसी से बनाया जाता है। संस्कृत वासव या वासक का प्राकृत रूप वासअ होगा।

वासअ का रूप वासा भी हो सकता है। लगता है, वासा शब्द ही लिपि दोष से पाशा ( प्राकृत पासा ) बन गया है। अन्य कोशों में अनुपलब्ध होने के कारण इसका अस्तित्व प्रामाणिक नहीं है।

३९—एह इमीअ णिअच्छह विम्हिअहिअआ सही पुलोएइ ।

अद्धाअम्मि कवोलं कवोलपट्टम्मि अद्दाअं ॥ ८१८ ॥

“यहाँ आओ, देखो ! आश्चर्य—भरे हृदय से सखी आइने में गाल को और गाल में आइने को देख रही है।”

इस अनुवाद में ‘इमीअ’ पद की उपेक्षा कर दी गई है। इससे गाथा का अर्थ विपर्यस्त हो गया है। ऐसा लगता है, जैसे सखी ही अपना कपोल दर्पण में और अपने कपोल में दर्पण को देख रही है।

अनुवाद का उचित स्वरूप यह है—

यहाँ आओ, देखो, विस्मित-हृदया सखी इस ( नायिका ) के कपोल को दर्पण में और दर्पण को इसके कपोल में देख रही है।

गाथा में नायिका के कपोलों का नैर्मल्य एवं दर्पणवद् प्रतिबिम्ब ग्राहकत्व वर्णित है।

४०—मग्गिअलद्धे बलमोडिच्चुम्बिए अप्पाणेण उवणीए ।

एवकम्मि पिआअहरे अण्णणा होंति रसहेआ ॥ ८२१ ॥

मार्गित लब्धे बलमोडिच्चुम्बिते आत्मनोपनोते ।

एकस्मिन् प्रियाऽधरेऽन्यान्या भवन्ति रससेकाः ॥

उपर्युक्त संस्कृतच्छाया अशुद्ध है। शुद्ध संस्कृतच्छाया यों होगी—

मार्गितलब्धे बलादामोट्य चुम्बिते आत्मनोपनीते ।

एकस्मिन् प्रियाऽधरेऽन्यान्या भवन्ति रसभेदाः ॥

अर्थ—प्रिया का अधर कभी मार्गने पर ( चुम्बनार्थ ) उपलब्ध होता है, कभी बलपूर्वक चूम लिया जाता है और कभी वह उसे स्वयं ही दे देती है— इन तीनों स्थितियों में एक ही अधर के चुम्बन के आनन्द ( रस ) में अन्तर ( भेद ) होता है ।

प्राकृत-शब्द-कोशों में बलामोडिअ और बलामोडि शब्दों को देशी शब्द लिखा गया है। वस्तुतः ये संस्कृत के दो पृथक्-पृथक् पद हैं जिन्हें भूल से एक एक पद समझ लिया गया है। 'बला' तो स्पष्ट संस्कृत बलात् का पंचम्यन्त प्राकृत रूप है।

'आमोडि' आमोद्य (आ + मुट + णिच् + ल्यप् = क्त्वा) का अपभ्रंश-प्रभावित रूप है। अपभ्रंश में क्त्वा के स्थान पर इ का विधान है<sup>१</sup> इसी प्रकार मोडि शब्द भी निष्पन्न होगा।

'बलामोडिअ' में बला तो पूर्ववत् पंचम्यन्त बलात् शब्द ही है। 'आमोडिअ' आमोद्य (आ० मुट + णिच् + ल्यप् = क्त्वा) का शौरसेनी—रूप है। शौरसेनी में क्त्वा के अर्थ में इअ या इय का प्रयोग होता है।<sup>२</sup> यहाँ मोडिअ शब्द भी बनेगा।

**४१. मह पइणा थणजुअले पत्तं लिहिअं ति गव्विआ कोस ? ।**

**आलिहइ महं पि पिओ जइ से कपो चिअ ण होइ ॥८२४॥**

मम पत्या स्तनयुगले पत्रं लिखितमिति गविता कस्मात् ? ।

आलिखति ममापि प्रियो यदि तस्याः कम्प एव न भवति ॥

उपर्युक्त संस्कृतच्छाया में तस्याः के स्थान पर तस्य होना चाहिये। यह अन्य तरह की प्रति नायिका का कथन है। वह कहती है—

यदि पति ने तेरे स्तनों पर पत्ररचना कर दी है तो तू गर्व क्यों कर रही है ? यदि कम्पन न हो जाये तो मेरा पति भी वैसी पत्ररचना कर सकता है।

इस कथन द्वारा नायिका यह व्यक्त करना चाहती है कि सफल पत्ररचना से तुझे गवित न होकर लज्जा से डूब मरना चाहिये। यदि पति का तेरे प्रति प्रगाढ़ प्रणय होता तो वह निरतिशय उद्दीपक पीनोन्नत पयोधरों पर पत्ररचना कर ही न पाता। प्रणयोद्बेलन के कारण उक्त कर्म में अवश्य स्खलन हो जाता। तेरे लावण्य में तल्लीन न होकर पति का पत्ररचना में रम जाना दुर्भाग्य का सूचक है। देखो, एक मैं भी हूँ। मेरा पति पत्ररचना शिल्प में पूर्ण पटु है। परन्तु वह जब पत्ररचना करने लगता है तब पयोधरों का स्पर्श होते ही उसके हाथ काँपने लगते हैं। वह तेरे पति के समान जड़ चित्रकार नहीं है, वह एक निश्छल एवं भावुक प्रणयी है।

**४२. जंपीअं मंगलवासणाए पत्याणपढमदिअहम्मि ।**

**वाहसलिलं ण चिट्ठइ तं चिअ विरहे ख्वंतीए ॥ ८३१ ॥**

१. क्त्व इ-इउ-इवि-अवयः-प्राकृतव्याकरण ४/४३९

२. क्त्व इयदूणो-प्राकृतव्याकरण ४/२७१

यत् पीतं मङ्गलवासनया प्रस्थानप्रथमदिवसे ।  
वाष्पसलिलं न तिष्ठति तदेव विरहे रुदत्याः ॥

“जिस वाष्पजल को ( प्रियतम के ) प्रस्थान के प्रथम दिन पान कर लिया था वही विरह में रुदन करती हुई के नहीं थमता ।”

यह अनुवाद अपूर्ण एवं अस्पष्ट है । ‘मंगल वासणाए’ का अर्थ न देने के कारण वाष्पसलिल के अहेतुक पान की संगति नहीं बैठती है । गाथा का आशय यह है—

प्रवासी के प्रयाण के समय रोना अशुभ माना जाता है । अतः प्रयाण करते समय नायक की कल्याणकामना से नायिका रोई नहीं, उस दिन आँसुओं का घूँट पीकर रह गई । किन्तु वे ही आँसू नायक के चले जाने पर आज रोंके नहीं रुक रहे हैं ।

४३. जह दिअहविरामो णवसिरीसगंधुद्धुराणिलग्घविओ ।

पहिअघरिणीअ ण तहा तवेइ तिब्बो वि मज्झण्हो ॥८३३॥

यथा दिवसविरामो नवशिरोषगन्धोद्धुरानिल धौतः ।

पथिकगृहिण्या न तथा तापयति तीव्रोऽपि मध्याह्नः ॥

“जो कि दिन का अन्त, नये शिरीष की गन्ध से भरी हवा से युक्त होता है, उससे वियोगिनी को तीव्र भी मध्याह्न सन्तप्त नहीं करता ।”

यह अनुवाद अपभ्रष्ट है । इसका आशय यह है कि उक्त विशेषण-विशिष्ट सन्ध्या काल के कारण वियोगिनी को मध्याह्न की तीव्र ऊष्मा का अनुभव नहीं होता । यह अर्थ अनुभव-विरुद्ध है । गाथा में ‘जह’ और ‘तह’ ( यथा और तथा ) नायिका की अनुभूति की तुलना के लिये प्रयुक्त हैं । वे हेतुवाचक नहीं हैं । गाथा का सीधा-सा अर्थ यह है कि उक्त विशेषणों से विशिष्ट सन्ध्याकाल ( जिसे शीतल होना चाहिये था ) वियोगिनी को जितना सन्तप्त करता है उतना तीव्र मध्याह्न भी नहीं करता । ( क्योंकि सान्ध्य-सुगन्धि-समीरण से विरह का उद्दीपन होता है । )

‘णवसिरीसगंधुद्धुराणिलग्घविओ’ की संस्कृतच्छाया ‘नवशिरोषगन्धोद्धुरानिलपूरितः’ होगी । अघ का अर्थ पूरित होना है ।

४४. दोहुण्हा णोसासा रणरणओ रुज्जगगिरं गेअं ।

पियविरहे जीविअवल्लहाण एसो च्चिअ विणोओ ॥८३७॥

दीर्घोष्णा निःश्वासाः, रणरणको.....गेअं ।

प्रियविरहे जीतिवल्लभानामेव विनोदः ॥

“दीर्घ-उष्ण निःश्वास, परेशानी, जोर से रुदन की आवाज और गीत यही प्रिय के विरह में प्राणवल्लभाओं का विनोद है।”

इस गाथा की संस्कृतच्छाया का द्वितीय पाद खण्डित है। रिक्त स्थान पर ‘रोदनगद्गद’ होगा। रणरणक का अर्थ औत्सुक्य है। ‘जीवितवल्लभानाम्’ में बहुव्रीहि समास है। ( जीवितमेव वल्लभं प्रियं यासाम्, जिन्हें जीवन ही प्रिय है। )

शुद्ध एवं अखण्डित संस्कृतच्छाया यह होगी—

दीर्घोष्णा निःश्वासाः रणरणकौ रोदनगद्गदं गेयम् ।

प्रियविरहे जीवितवल्लभानामेष एव विनोदः ॥

इस गाथा का वास्तविक अर्थ यह है—

प्रियतम के विरह में जिन्हें जीवन प्रिय है ( अर्थात् जो जीवित रहना चाहती हैं। ) उनका यही विनोद ( दिन काटने का साधन ) है—दीर्घ एवं उष्ण निःश्वास, औत्सुक्य ( उत्कण्ठा ) हलाईं से गद्गद् गीत ।

यहाँ विरहिणी नायिका का आशय यह है कि दीर्घनिःश्वासादि उन विरह-हिणियों के दिन काटने के साधन हैं जो प्रिय के दारुण वियोग में भी जीवित रहना चाहती हैं और प्रिय की अपेक्षा अपने जीवन को हां महत्व देती हैं। मैं तो प्रिय के वियोग में जीवित ही नहीं रहना चाहती, अतः ये जीवनोपयोगी सम्बल व्यर्थ हैं ।

४५. कंठग्रहणेण सअज्झिआए अब्भागओवआरेण ।

वहुआएँ पइम्मि वि आगअम्मि सामं मुहं जाअं ॥८४३॥

कण्ठग्रहणेण प्रतिवेशिन्या अभ्यागतोपकारेण ।

वध्वाः पत्यावपि आगते श्यामं मुखं जातम् ॥

“स्वागत में पड़ोसिन द्वारा अतिथि के कण्ठग्रहण से वधू का मुख पति के आने पर भी मलिन बना रहा।”

गाथा की संस्कृतच्छाया प्रसंगानुकूल नहीं है। अभ्यागतोपकारेण के स्थान पर अभ्यागतोपचारेण होना चाहिये ।

उपयुक्त अनुवाद में “वधू का मुख पति के आने पर भी मलिन बना रहा।” इस उल्लेख से यह ध्वनि निकलती है कि पति के आगमन के पूर्व नायिका का मुख जैसे मलिन था वैसे ही उसके आगमन के पश्चात् भी मलिन रह गया। उसके मुखमालिन्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ऐसा होना संभव नहीं है। यदि पत्नी का पति से प्रेम था तो विरह में उसका मुख मलिन रहना जितना स्वाभाविक है उतना ही पति के लौट आने पर मुखमालिन्य का दूर हो जाना भी स्वाभाविक

है। यदि पत्नी का प्रवासी पति से प्रेम नहीं था तो विरह में मुखमालिन्य का कोई प्रश्न नहीं है। अतः अनुवाद का उक्त उद्धृत अंश आपत्तिजनक है।

गाथा का आशय यह है कि अभ्यागत के स्वागत की औपचारिकता का निर्वाह करने के लिये जब पड़ोसिन ने प्रवास से लौटे नायक को गले लगा लिया तब पति के आ जाने पर भी विरहिणी बहू का मुख काला पड़ गया। ( अर्थात् पड़ोसिन से पति के प्रणय की आशंका से वह उदास हो गई। )

इस अर्थस्वरूप में 'मुँह काला पड़ गया या काला हो गया' से यह ध्वनि निकलती है कि संयोग सुख की आशा से पत्नी का जो मुँह प्रसन्न हो गया था वह उसके आ जाने पर भी उदास हो गया।

**४६—सो णागओ त्ति पेच्छह परिहामुल्लाविरोए दूईए ।**

**णमंतीअ पहरिसो ओसट्टइ गण्डपासेसु ॥ ८५० ॥**

स नागत इति प्रेक्षध्वं परिहासोल्लापिन्या दूत्याः ।

अनुमानयन्त्याः प्रहर्षोऽवशिष्यते गण्डपाशयोः ॥

“ देखो, वह नहीं आया—परिहास पूर्वक कहती हुई दूती के गालों में प्रहर्ष दौड़ आया ”

उपयुक्त संक्षिप्त अनुवाद तो ठीक है, परन्तु गाथा की संस्कृतच्छाया अशुद्ध है। शुद्ध संस्कृत-रूपान्तरण यों होगा :—

स नागत इति प्रेक्षध्वं परिहासोल्लापशीलायाः दूत्याः ।

प्रच्छादयन्त्याः प्रहर्षः प्रसरति गण्डपाशयोः ॥

णम क्रिया का अर्थ आच्छन्न करना है और ओसट्ट का अर्थ है फैलना ( प्रसरण ) ।<sup>१</sup>

नायिका ने नायक को बुलाने के लिये जिस दूती को भेजा था वह उसे लेकर लौट आई है। वह नायिका के पास पहले पहुँच कर परिहास करती हुई कह रही है “नायक तो मेरे साथ नहीं आया है” परन्तु छिपाने पर भी उसके ( दूती के ) कपोलों पर हर्ष फैल गया है।

**४७—अप्पाहिआइ तुह तेण जाइ ताइं मए ण मुणिआइ ।**

**अच्चुण्हस्सास परिक्खलंतविसमक्खर पआइं ॥ ८५३ ॥**

अशिक्षितायास्तव तेन यानि तानि मया न ज्ञातानि ।

अत्युष्णश्वास परिस्खलद्विषमाक्षर पदानि ॥

१—पाइअ सदमहण्णवो

“तुझे शिक्षा देती हुई मैंने ..... अत्यन्त उष्ण श्वास के कारण परि-  
स्खलित होते हुये विषमाक्षर पदों को नहीं सुना ( ? )”

इसकी संस्कृतच्छाया शुद्ध नहीं है अनुवाद भी खंडित है । अनुवादकर्त्त ने उस  
पर स्वयं प्रश्नचिह्न लगाया है ।

अप्पाहिआइ ‘का अर्थ अशिक्षितानि’ = नहीं,

अपितु ‘अध्यापितानि’ ( पढ़ाये गये ) हैं यह पदानि का विशेषण है ।

गाथा का अन्वय इस प्रकार होगा :—

तेन यानि अत्युष्ण विषमाक्षर परिस्खलत्पदानि  
तव अध्यापितानि तानि मया न ज्ञातानि ।

नायिका नायक को जिस गुप्त प्रणयिनी से गद्गद् स्वरों में बातें करते  
देख चुकी है उसी को यह आभास करा रही है कि तुम दोनों का अनुचित प्रेम  
मुझसे छिपा नहीं है । मैं उसे तुमसे बातें करते स्वयं देख चुकी हूँ, केवल वे  
शब्द नहीं समझ सकी हूँ जिनके अक्षर अत्युष्ण श्वास से टूटते जा रहे थे ।

अर्थ— उसने ( नायक ने ) अत्युष्ण श्वासों से परिस्खलित हो जाने के  
कारण विषमाक्षरों वाले जिन पदों ( शब्दों ) को तुम्हें पढ़ाया था उसे मैं नहीं  
जान पाई ।

‘नहीं जान पाई ।’ में विपरीत लक्षणा है । उसका अर्थ है—जान गई हूँ ।  
‘अध्यापितानि’में जो व्यंग्यपूर्ण वक्र वचन विन्यास है वह नायक-द्वारा गुप्त प्रण-  
यिनी को प्रेम का पाठ पढ़ाने की दिशा में स्पष्ट इंगित करता है । अत्युष्ण  
श्वास से पदों के अक्षरों का स्खलित और विषम हो जाना नायिका के प्रति  
नायक की अनुरक्ति का साधक है ।

**४८—गवलअ पहरत्तथाएँ तं कअं हलिववहुआए ।**

जं अज्ज वि जुवइजणो घरे घरे सिक्खिउं महइ ८५६ ॥

पतिनामकप्रश्नपूर्वकप्रहारतुष्ट्या तत्कृतं किमपि हलिकवध्वा ।

यदद्यापि युवतिजनो गृहे गृहे शिक्षितुं भ्रमति ॥

इसकी संस्कृतच्छाया यह होगी :—

पतिनामक प्रश्नपूर्वक प्रहारोत्त्रस्तया तत्कृतं हलिकवध्वा ।

यदद्यापि युवतिजनो गृहे गृहे शिक्षितुं कांक्षति ॥

अनुवादक ने ‘उत्तथाए’ के स्थान पर तुट्ठाए’ पाठ स्वीकार किया है ।

गाथा में हलवाहे की वधू के सत्यरक्षण और साहस का वर्णन है ।

प्राचीन काल में एक व्रत प्रचलित था, जिसमें स्त्रियों को पूछने पर अपने  
पति का नाम बताना पड़ता था । यद्यपि स्त्रियाँ पति का नाम नहीं लेती हैं

तथापि व्रत के अनुरोध से उन्हें वंसा करना पड़ता था। जो स्त्री पूछने पर पति का नाम नहीं बताती थी उसे लता से मारा जाता था। शीलवती महिलायें तो व्रत-भंग के भय से पति का नाम बता देती थीं। परन्तु जिस विवाहिता स्त्री का प्रेम अन्य पुरुष से होता था वही दुविधा में पड़ती थी और मार सहती थी। हलवाहे की उक्त वधू भी ऐसी ही शीलविच्युत स्त्री थी। वह लता के प्रहार से पहले तो डरी, फिर उसने निर्भीकता से अपने उप पति का नाम बता दिया। उसकी यह निर्भीकता प्रणयोत्सुक युवतियों के लिए सीखने का विषय बन गई।

गाथार्थ—नवलता के प्रहार से व्रत हलिकवधू ने वह किया जिसे आज भी घर-घर में युवतियाँ सीखना चाहती हैं।

**४९—धण्णो सरे हल्लिद्दअ ! हल्लिअमुआपीणथण भरुच्छंणे ।**

**पेच्छंतस्सविरे पइणो जह तुह कुसुमाँइ निवडंति ॥८५७॥**

धन्योऽसि रे हरिद्रक ! हलिकसुतापीनस्तन भरोत्सङ्गे ।

प्रेक्षमाणस्यापि पत्युर्यथा तव कुसुमानि निपतन्ति ॥

“हे हरिद्रावृक्ष ! तू धन्य है कि हलिकसुता के पीन स्तनों से युक्त अंक में तेरे फूल गिरते रहते हैं और ( मेरा ) पति देखता रहता है।”

यह अनुवाद असंगत है। यदि हरिद्रा के पुष्प हलिकसुता के पीन स्तनयुक्त अंक में गिरते हैं और उसके कारण कोई स्पृहयालु तरुण उसे ध्यान पूर्वक देखने लगता है तो उसकी प्रियतमा को प्रसन्नता नहीं, ईर्ष्या होनी चाहिये। इस स्थिति में वह ( तरुण की प्रिया ) हरिद्रा वृक्ष को धन्य क्यों कहेगी ? गाथा में ‘पेक्खंतस्स वि पइणो’ (प्रेक्षमाणस्यापि पत्युः) में ‘वि’ के माध्यम से जो विरोध व्यंजित हो रहा है उसे अनुवाद छू ही नहीं पाया है। हलिकसुता पिता के गृह में रहकर हरिद्रा-क्षेत्र में काम कर रही है। उसका पति भी ससुराल में आया है और निकट ही खड़ा है। वह अपनी पत्नी ( हलिकसुता ) के स्तन भार समृद्ध अंक में ( जहाँ केवल पति को ही स्थान मिलता है ) हरिद्रा पुष्पों को स्थान प्राप्त करते देख रहा है। इस स्पृहणीय दृश्यसे ईर्ष्या-कलुषित होकर कोई लोलुप तरुण कह रहा है :—

हैं हरिद्रक ! तू धन्य है, क्योंकि पति के देखते रहने पर भी ( उसी के सामने ) तेरे पुष्प हलिकसुता के पीन पयोधरों से परिपूर्ण अंक में गिर रहे हैं। यह सौभाग्य हमारे जैसे अभाग युवकों का नहीं है। )

**५०—एमेअ अकअपुण्णा अप्पत्तमणोरहा विवज्जिस्सं ।**

**जणवाओ विण जाओ, तेण समं हल्लिअउत्तेण ॥ ८५९ ॥**

एवमेवाकृत पुण्याऽप्राप्तमनोरथा विपत्स्ये ।  
जनवादोऽपि न जातस्तेन समं हलिकपुत्रेण ॥

“उस हलिक के छोकरे के साथ न कोई लोगों में अपवाद फैला है, यूँ ही अभागिन, मनोरथ को न प्राप्त मैं विपत् भोगने वाली हूँ ।”

न तो यह अनुवाद ठीक है न इसकी भाषा । ‘विवज्जिस्स’ का अर्थ विपद् भोगना नहीं है । उक्त क्रिया यहाँ मरण का अर्थ देती है ।

गाथा में जिस तरुणी का वर्णन है उसका गुप्त प्रेम किसी हलिक पुत्र से है । वह सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण अपने प्रणयी से प्रत्यक्ष मिल नहीं पाती है । अहरह विरह-वेदना से तड़पती हुई सोचती है कि मैं बड़ी पापिन हूँ । इसी प्रकार तड़पते-तरसते मर जाऊँगी, मेरे मनोरथ कभी पूरे ही नहीं होंगे । यदि उस हलिक पुत्र के प्रेम को लेकर समाज में मेरी निन्दा भी हो गई होती तो यह अकृतार्थ जीवन सार्थक हो गया होता । खेद है, मैं लोगों में उसकी प्रणयिनी के रूप में अपनी पहचान भी न बना पाई ।

गाथार्थ—मैं अकृतपुण्या ( जिसने पुण्यकर्म नहीं किये हैं ) बिना मनोरथ पूर्ण हुये ( अप्राप्तमनोरथा ) ऐसे ही ( तरसती हुई ) मर जाऊँगी ! ) लोगों में हलिकपुत्र के साथ मेरी निन्दा भी न हुई ।

‘विवज्जिस्स’ क्रिया से नायिका के नैराश्य की चरमावस्था—अभिव्यक्त होती है । ‘जणवाओ वि ण जाओ’ से लोक निन्दा भीरु नायिका का पश्चात्ताप ध्वनित होता है । यदि वह निर्भय होकर हलिकपुत्र से संयुक्त हुई होती तो संभोग सुख अवश्य प्राप्त हुआ होता, इच्छा पूरी हो गई होती । इसके पश्चात् लोग करते क्या ? निन्दा ही तो करते ! परन्तु वह इतनी भीरु ठहरी कि प्रिय संयोग के लिये लोकनिन्दा का शाब्दिक दण्ड भोगने का भी साहस नहीं जुटा पाई ।

५१. कालक्खरदूसिखिअधम्मिअ रे गिम्बकोइअसरिच्छ ।

दोण वि गिरअणिवासो समअं जं होइ ता होवु ॥८७२॥

कालाक्षरदुःशिक्षित बालक रे लग भम कण्ठे ।

द्वयोरपि नरकनिवासः समकं यदि भवति तद् भवतु ॥

“हे धार्मिक ! तू काले अक्षर तक को नहीं जानता और नीम के कीड़े के समान है दोनों तरह तुझे नरक में ही रहना है, यदि बराबर हो तो हो ।”

उपयुक्त अनुवाद भ्रष्ट है और संस्कृतच्छाया भी अशुद्ध है । द्वयोः (दोणं) का अर्थ “दोनों प्रकार से”—यह करना व्याकरण की बलाद् अवहेलना है । षष्ठ्यन्त ‘द्वयोः’ का अर्थ है—दोनों का । षष्ठी प्रकारवाचक नहीं, सम्बन्ध-



वाचक होती है। 'काले अक्षर तक को न जानना और नीम के कीड़े के समान होना'—इन दोनों स्थितियों को नरक-निवास का हेतु नहीं कहा जा सकता। 'यदि बराबर हो तो हो'—इस वर्णन का आशय स्पष्ट नहीं है।

गाथा की संस्कृतच्छाया यों होगी—

कालाक्षरदुःशिक्षित धार्मिक रे निम्ब कीटकसदृश।

द्वयोरपि निरयनिवासः समकं यदि भवति तद् भवतु ॥

यह किसी धार्मिक और अध्ययनपरायण तरुण को सुरत के लिये प्रेरित करने वाली कुलटा की उक्ति है। उसकी दृष्टि में अध्ययन काले अक्षरों की कुशिक्षामात्र है और नीरस शास्त्रों के चिन्तन एवं धर्म पालन में समय व्यतीत करने वाला विद्वान् उस कीड़े के समान है जो नीम के कड़वे फलों के आस्वादन में निरन्तर निरत रहता है।

गाथार्थ—हे काले अक्षरों की कुशिक्षा प्राप्त करने वाले, हे नीम के कीड़े के समान धार्मिक ! दोनों ( मुझे और तुम्हें ) को भी यदि एक साथ नरक हो तो होने दो।

कुलटा कामिनी के द्वारा प्रयुक्त तरुण के विशेषणों की व्यञ्जकता दर्शनीय है। तरुण की अध्ययनपरायणता और धार्मिकता उक्त कामिनी की मनोरथ सिद्धि में बाधक है। अतः वह वचन पाठवपूर्वक दोनों का विरोध करती है। वह 'कालाक्षर' के प्रयोग के द्वारा अक्षरों में कालुष्य की प्रतीति कराकर उनकी हेयता का ही प्रतिपादन नहीं करती अपितु उसी पद में दुःशिक्षण का हेतु भी उपस्थित करती है। निम्ब कीटक सदृश पद के द्वारा धार्मिकता और अध्ययन-परायणता की नीरसता पर किये गये कटाक्ष में यह व्यञ्जना है कि तुम्हारे जीवन में कोई रस नहीं रह गया है, अतः वह व्यर्थ है। जीवन की सार्थकता केवल रतिसुख में है। उत्तरार्ध में नरक-निवास की स्वीकृति का ध्वनन-व्यापार भी विलक्षण है। नायिका नायक को यह जताना चाह रही कि तुम धार्मिक मान्यता जन्म नरक-भय के कारण मेरा प्रणय अंगीकार नहीं कर रहे हो वह भय तो मुझे भी होना चाहिये था। खेद है, एक अबला होकर भी मैं जिसकी कुछ भी परवाह नहीं करती हूँ, तुम शौर्य एवं पौरुष के पुंज पुरुष होकर उसी से डर रहे हो। इससे बड़ी कायरता और क्या होगी ?

होने दो नरक ! हम दोनों साथ-साथ नरक चलेंगे। 'द्वयोरपि' के द्वारा नरक में भी वह तरुण का साथ न छोड़ने की बात कहकर अपने प्रणय की एकनिष्ठता और सत्यता सूचित करती है।

उसका अभिप्राय यह है कि हम दोनों को साथ-साथ रहना है, इसका अवसर यदि नरक में ही मिलता है तो क्या आपत्ति है ?

अनुवादक—द्वारा दी गई संस्कृतच्छाया में गाथा की व्यंजकता नष्ट हो गई है। नायिका का प्रणय स्वशब्द निवेदित होने के कारण वाच्य बन गया है। कथन में उसकी वचनपटुता नहीं, घृष्टतापूर्ण निर्लज्जता झलकती है।

## ५२. आणा अणालवंतीए कीरए दीसए पराहुत्तो ।

णितम्मि णीसिसिज्जइ पुत्ति ! अपुव्वो खलु वे माणो ।८९०

आज्ञाअणालपन्त्या क्रियते दृश्यते पराभूतः ।

निभूते निःश्वस्यते पुत्रि ! अपूर्वः खलु ते मानः ॥

“तू बिना बोले ही आज्ञा करती है, वह पराङ्मुख होकर तुझे देखता है, अकेले में निःश्वास लेता है, बेटी ! तेरा मान अपूर्व है।”

यह अनुवाद और संस्कृतच्छाया—दोनों दोषपूर्ण हैं। ‘पराहुत्तो’ का संस्कृत रूपान्तर ‘परागमुतः’ है। ‘पाइयसदमहण्णव’ में ‘पराहुत्तो’ को पराङ्मुख के अर्थ में देशी शब्द लिखा गया है, किन्तु यह देशी नहीं है। प्राकृत में गम् के अर्थ में -णी’ क्रिया व्यवहृत होती है। उसमें शतृ प्रत्यय लगने पर ‘णित’ या ‘णित्त’ रूप बनता है। ‘णितम्मि’ उसका सप्तम्यन्त रूप है। उसका संस्कृतरूपान्तर ‘निभूते’ नहीं, ‘निर्गच्छति’ है।

गाथा में नायिका के लिये प्रयुक्त तृतीयान्त ‘अणालपन्त्या’ ( अणालवंतीए ) पद ही ‘क्रियते’ ( कीरए ) के समान ‘दृश्यते’ ( दीसए ) और ‘निःश्वस्यते’ ( णीसिसिज्जइ ) क्रियाओं का भी कर्ता है। अनुवाद में ‘क्रियते’ के साथ तो उसे अन्वित किया गया है, किन्तु शेष दोनों क्रियाओं के कर्तृत्व के लिये ‘वह’ अनर्गल आक्षेप किया गया है। गाथा में नायिका के मान की जिस अपूर्वता का प्रतिपादन है उसकी सिद्धि उक्त अशुद्ध अनुवाद से नहीं होती। बिना बोले ही आज्ञा देने में जैसी अपूर्वता की प्रतीति संभव है वैसी नायक के द्वारा नायिका को देखने ओर लम्बी साँसें लेने में नहीं है। ये तो निसर्ग-सिद्ध व्यापार हैं। सभी प्रेमी मानवती प्रणयिनी को मुड़-मुड़ कर देखते हैं और दीर्घ साँसें लेते हैं। परन्तु उक्त आंशिक अपूर्वता भी तब स्वीकार्य थी जब बिना बोले आज्ञा देना संभव होता। आज्ञा देना मौखिक व्यापार है जिसमें बोलना अनिवार्य है। यदि आज्ञा ( शारीरिक क्रियाओं के द्वारा ) सांकेतिक है तो मान की स्थिति ही कहाँ है? आज्ञा क्रियते ( आणा कीरए ) का अर्थ आज्ञा देना नहीं, अपितु आज्ञा का पालन करना है।

घर की बहू रूठ गई है। वह पति से नहीं बोल रही है, फिर भी उसकी आज्ञा का चुपचाप पालन करती जा रही है। जब वह ( पति ) पराङ्मुख हो जाता है तब उसे ( छिपकर ) देखती है और जब ( घर से ) बाहर निकल जाता है तब दीर्घ श्वास लेती है। उसकी यह विलक्षण दशा देखकर सास कहती है—

बेटी ! तेरा मान अपूर्व ( विलक्षण ) है क्योंकि ( पति से ) न बोलती हुई तू ( उसकी ) आज्ञा का पालन करती है, पराङ्मुख हो जाने पर उसे देखती है और उसके बाहर चले जाने पर दीर्घ साँसें लेती है ।

तात्पर्य यह है कि यदि इतर महिलाओं के ही समान तेरा मान होता तो तू न पति की आज्ञा का पालन करती, न उसे देखती और न उसके लिये दीर्घ श्वास लेती, अतः तेरा मान अन्य मानिनियों से विलक्षण है ।

**५३. अल्लिअइ दिट्टिणिव्वभच्चिओ वि विहुओ वि लग्गए सिच्चए ।**

**पहओ वि चुम्बइ बला, अलज्जए कह णु कुप्पिस्सं ॥८९२॥**

आलीयते दृष्टि निर्भत्सितोऽपि विधूतोऽपि लगति सिचये ।

प्रहतोऽपि चुम्बति बलात् अलज्जके कथं नु कुप्पिष्यामि ॥

“नजर से डाँटने पर भी पास आने लगता है, झाड़ देने पर भी कपड़ा पकड़ लेता है, प्रहार करने पर भी बलपूर्वक चुम्बन करता है, ऐसे निर्लज्ज पर कैसे नहीं कोप करूँ ।”

यह अनुवाद उपहासास्पद है । नायक के समस्त वर्णित व्यापार कोप-उपशमन के साधक हैं । यदि वे कोप के हेतु होते तो नायिका कह सकती थी कि ऐसे निर्लज्ज व्यक्ति पर मैं क्रोध क्यों न करूँ ? यहाँ तो निर्लज्ज होने पर भी नायक की विनम्रता पर नायिका को रीझ जाना चाहिए । गथा में णु ( नु ) निषेधार्थक नहीं है । वह वितर्क एवं वक्रोक्ति का व्यंजक है । ‘अलज्जके, में नायक की निन्दा नहीं, प्यार छिपा है । ‘विहुओ’ का अर्थ है—परित्यक्त । ‘झाड़ देने पर भी कपड़ा पकड़ लेता है ।’—इस वर्णन से प्रतीत होता है, जैसे नायक कोई खटमल है जो झाड़ने पर भी कपड़े से चिपक जाता है ।

नायिका को उसकी सहेली मान करने के लिये उसका रही है । वह बेचारी अपनी विवशता का वर्णन इस प्रकार कर रही है :—

गाथार्थ—तिरस्कृत कर देने पर भी ( नायक ) निकट आता है, परित्यक्त होने पर भी वस्त्र ( आँचल ) पकड़ लेता है और प्रहार करने पर बलपूर्वक चुम्बन करता है, (ऐसे ) निर्लज्ज पर मैं कैसे कोप करूँ । ( अर्थात् मैं ऐसे प्रणयोच्छ्वसित पति के प्रति कोप कर ही नहीं सकती । )

**५४—हिमजोअचुण्णहत्थाओ जस्स दप्पं कुणंति राईओ ।**

**कह तस्स पिअस्स मए तोरइ माणो हला ! काडं ?**

हिमयोगचूर्णहस्ता यस्य दर्पं कुर्वन्ति रात्र्यः ।

कथं तस्य प्रियस्य मया शक्यते मानो हला ! कतुंम् ॥

“बर्फाली ठंडक से हाथ तोड़ देने वाली रातें जिसका दर्प करती है, सखी !

में कैसे उस प्रिय से मान कर सकती हूँ।” ‘हिमयोगचूर्णहस्ता’ का अर्थ ‘बर्फीली ठंडक से हाथ तोड़ देने वाली’ करना भाषा के साथ बलात्कार है। यदि कवि को वही अर्थ अभीष्ट होता तो वह ‘हिमयोग चूर्णितहस्ता’ ( हिमजो-अचूर्णिअहत्थाओ ) लिखता। पूर्वोद्धृत शब्दानुसारी अशुद्ध अनुवाद ने इस सरस एवं अलंकृत गाथा का अनुपम काव्य-सौन्दर्य ही नष्ट कर दिया है।

‘हिमजोअचूर्णहत्थाओ’ और राईओ पदों में स्थित सहज श्लेष को अनुवादक की ऋजु बुद्धि नहीं समझ सकी।

गाथा का भाव समझने के लिये दिलिष्ट और पारिभाषिक शब्दों का अर्थ दे देना आवश्यक है :—

योगचूर्ण = तान्त्रिकों के द्वारा वशीकरण के लिये प्रयुक्त होने वाला चूर्ण या भस्म। केवल चूर्ण का भी वही अर्थ होता है।<sup>१</sup>...

हत्थ ( हस्त )—सहायता,<sup>२</sup> हाथ में होना, अधीन होना।

राई = १—रात्रि

२—राई ( राजी ) काली सरसों

प्रायः किसी को वश में करने के लिये तन्त्रानुसार सरसों के साथ भस्म ( भभूत ) या चूर्ण का प्रक्षेप किया जाता है। कवि ने तान्त्रिक प्रयोग को श्लेष के माध्यम से बड़ी निपुणता से अभिव्यक्त किया है। तरुणी नायिका की सखी उसे मान करने की शिक्षा दे रही है। नायिका मान करने में अपनी असमर्थता व्यक्त करती है। वह कहती है—हे सखी ! हिम ( शीत ) रूपी योग्य चूर्ण जिनके अधीन है, ( हाथ में है ) ( या जिनकी सहायता करता है )। वे राई के समान रातों जिसके दर्प ( अभिमान ) को उत्पन्न करती हैं, उस प्रियतम के प्रति मैं कैसे मान कर सकती हूँ ?

आशय यह है :—शिशिर और हेमन्त में शीताघ्निक्य के कारण महिलायें आवश्यक उष्णता के लिये स्वयं आलिंगन बद्ध हो जाती हैं। ऐसे भयावह शीत-काल में मान की शिक्षा देना व्यर्थ है। हिम ( शीत ) वशीकरणकारी योगचूर्ण है और रात है राई। वे दोनों मिलकर मुझे अनायास ही पति के वशीभूत कर देंगे। मेरा पति मेरी इस दुर्बलता को भली भाँति समझता है। इसीलिये अभिमान में एँठा हुआ है। परतु मैं भी तो विवश हूँ। मान मेरे वश का नहीं है।

५५—किं भणह मं सहीओ ! करेहि माणं ति किं थ माणेण ।

सबभावबहिरे तम्मि मज्झ माणेण वि ण कज्जं ॥८९४॥

१—पाइअसद्दमहण्णव

२—आपटे कृत संस्कृत कोश

किं भणथ मां सख्यः ! कुरु मानमिति किं स्यान्मानेन ? ।  
 सद्भावबाह्ये तस्मिन् मम मानेनापि न कार्यम् ॥  
 'सखियों ! मुझसे क्या कहती हो कि मान कर ? मान से क्या होगा ?  
 सद्भाव रहित उसके प्रति मान की भी जरूरत नहीं ।'

इस गाथा का मूल पाठ ब्रुटित है । द्वितीय पाद में आवश्यक मात्रायें नहीं हैं  
 फलतः संस्कृतच्छाया भी ठीक नहीं है । मूल पाठ और संस्कृतच्छाया का स्वरूप  
 यह होना चाहिये :—

किं भणह मं सखिओ ! करेहि माणं ति किमेत्थ माणेण ।  
 सबभावबहिरे तम्मि मज्झ माणेण वि ण कज्जं ॥  
 किं भणथ मां सख्यः ! कुरुमानमिति किमत्र मानेन ।  
 सद्भावबाह्ये तस्मिन् मम मानेनापि न कार्यम् ॥  
 अनुवाद ठीक है ।

५६—जइआ पिओ ण दीसइ भणह हला ! कस्स कीरए माणो ? ।

अह विट्ठम्मि वि माणो ? ता तस्स पिअत्तणं कत्तो ॥

यदा प्रियो न दृश्यते भणत हला ! कस्य क्रियते मानः ? ।

अथ दृष्टेऽपि मानस्तत्तस्य प्रियत्वं कुतः ॥

“अरी सखियों ! जब प्रिय नगर के सामने नहीं तो, कहो, किससे मान  
 करें ? और जब नजर के सामने है तो भी मान ? तो फिर प्रेम कहाँ ?”

पिअत्तण भाववाचक संज्ञा है उसका अर्थ प्रियत्व है, प्रेम नहीं । प्रेम की  
 स्थिति नियत नहीं है, वह उभयनिष्ठ भी हो सकता है और एकनिष्ठ भी ।  
 प्रियत्वं एक ऐसा धर्म है जो केवल प्रिय में रहता है । नायिका का आशय यह है  
 कि प्रिय की अनुपस्थिति में आश्रयहीन मान व्यर्थ है और जब प्रिय दृष्टि के  
 समक्ष है तब भी मान करे तो प्रिय का प्रियत्व ही कहाँ रह जायेगा (अर्थात् उसके  
 लिए प्रिय शब्द का प्रयोग ही निष्फल है । )

५७—सुहअ ! मुहुत्तं सुप्पउ जं ते पडिहाइ तं पि भण्णिहिसि ।

अज्ज ण पेच्छंति तुहं णिद्दागरुआइ अच्छीइ ॥९००॥

सुभग ! मुहूर्तं स्वपिहि, यत्ते प्रतिभाति तद् भणिष्यसि ।

अद्य न प्रेक्षेते त्वां निद्रागुरुके अक्षिणो ॥

“हे सुभग ! मुहूर्त भर सो जा, जो तुझे अच्छा लगे वही कह लेना, आज  
 नींद से भारी आँखें तुझे नहीं देख रही हैं ।”

इस गाथा का अनुवाद और संस्कृतच्छाया—दोनों भ्रष्ट हैं ।

‘सुप्पउ’ को सोने के अर्थ में प्रचलित सामान्य प्राकृत क्रिया ‘सुप्प’ का रूप मानने पर मध्यम पुरुष में प्रथमपुरुषीय प्रत्यय ‘उ’ के कारण च्युतसंस्कृत दोष आता है। यहाँ सुप्पउ, का ‘उ’ प्रत्यय भाववाच्य का सूचक है। ‘सुप्प’ संस्कृत ‘सुप्य’ का प्राकृत रूप है। ‘तुह’ युष्मद् का षष्ठ्यन्त प्राकृतरूप ही उसका अर्थ है—तव ( तुम्हारा )

गाथा का संस्कृत रूपान्तर यह होगा :—

सुभग ! मुहूर्तं सुप्यतां यत्ते प्रतिभाति तदपि भणिष्यामि ।

अद्य न प्रेक्षते तव निद्रागुरुके अक्षिणो ॥

नायक अन्य प्रेयसी के साथ रात भर जगकर प्रातःकाल घर आया है और नींद के आलस्य में पत्नी को रखैल के नाम से बुलाने की भूल कर बैठता है। पत्नी व्यंग्य करती हुई कहती है—

गाथार्थ—हे सुभग ! क्षण भर सो जाइये, जो तुम्हें अच्छा लगता है, मुझे वह भी कह लेना, ( अर्थात् जो प्रिय लगे उसी नाम से बुला लेना । ) आज तुम्हारी, निद्रा से भारी आँखें नहीं देख रही हैं अर्थात् मुझे नहीं पहचान पा रही हैं ।

पत्नी का आशय यह है कि नींद से अन्धी आँखों के कारण तुम्हें दिखाई नहीं पड़ रहा है कि मैं कौन हूँ और मेरा नाम क्या है ।

**५८—वेआरिज्जसि मुद्धे ! गोत्तवखलिर्णहि मा खु तं ख्वसु ।**

**किं व ण पेच्छइ अण्णह एद्दहमेत्तोहि अच्छीहि ॥**

व्याकारितारासि मुद्धे ! गोत्रस्खलित्तैर्मा खलु तद् रुदिहि ।

किमिव न प्रेक्षतेज्यथा एतावन्मात्राभ्यामाक्षिभ्याम् ॥

“अरी ना समझ ! उसने तुझे अन्य नामों से पुकारा है, इस कारण उसे मत रूला, क्या वह इतनी ( एतावन्मात्र ) आँखों से तुझे नहीं देखती ।”

बह्द अनुवाद प्रसंग विरुद्ध और असंगत है। वेआरिज्जासि की संस्कृतच्छाया ‘व्याकारितासि’ नहीं होगी क्योंकि ‘इज्ज’ या ‘इज्जा’ का निष्ठा ( क्त ) के अर्थ में प्रयोग नहीं होता। यहाँ ‘इज्ज’ कर्मवाच्य का प्रत्यय है। ‘सि’ मध्यम-पुरुष एक वचन की विभक्ति है। ‘वेआर’ क्रिया वञ्चनार्थक है। ‘रुदिहि’ का अर्थ हलाना नहीं, रोना है। ‘तं’ का अर्थ न तो तम् ( उसको ) है न तट, वह त्वम् के अर्थ में प्रयुक्त है। अतः संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार होगा—

वञ्च्यसे मुग्धे ! गोत्रस्खलित्तैर्मा खलु त्वं रुदिहि ।

किमिव न प्रेक्षतेज्यथा एतावन्मात्राभ्यामाक्षिभ्याम् ॥

अनुवाद के अन्तर्गत ‘अरी नासमझ !’ यह लिखकर जिस तरुणी को स्त्री-

लिंग में सम्बोधित किया गया है उसे अन्य नामों से पुकारने वाली भी स्त्री ही प्रतीत होती है क्योंकि उसके लिये 'नहीं देखती' क्रिया का प्रयोग है। कोई युवती किसी स्त्री के द्वारा अन्य नामों से पुकारे जाने पर न दुःखी होती है और न कोप ही करती है। जब पति अथवा प्रेमी अन्य नाम से पुकारता है तब उसको अन्यत्र अनुरक्त समझकर दुःख अथवा कोप का होना स्वाभाविक है। अतः उक्त अनर्गल अनुवाद उपेक्षणीय है।

गाथा का भाव यह है कि। नायक ने चिढ़ाने और छलने के लिये नायिका को अन्य नामों से बुलाया है। इससे उसको (नायक को) सचमुच अन्य महिलाओं में (जिनके नामों से उसे बुलाया गया है) अनुरक्त समझ कर वह रो पड़ती है। उसकी सखी वास्तविकता को स्पष्ट करती हुई कहती है—'तुम रोओ मत। पति ने केवल वंचना के लिये तुम्हें अन्य महिलाओं के नामों से बुलाया है। वह तुम्हें चिढ़ाकर केवल आनन्द लेना चाहता है। यदि उसमें चारित्रिक स्खलन होता तो वह गोत्रस्खलन के कारण अवश्य लज्जित हो जाता और शिर नीचा कर लेता। परन्तु यह सब कुछ नहीं हुआ। वह औत्सुक्य और विस्मय से विस्फारित नेत्रों से तुम्हें देख रहा है। लज्जा के स्थान पर औत्सुक्य और विस्मय का प्रकाशन उसे निर्दोष सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। अतः तुम्हारा दुःखी होना अनुचित है।

गाथा में 'गोत्रस्खलनैः' और 'एतावन्मात्राभ्याम्'—पदों के द्वारा अद्भुत व्यंजकता आ गई है। 'गोत्रस्खलनैः' का बहुवचन नायक के कृत्रिम गोत्रस्खलन का प्रत्यायक है क्योंकि इतनी अधिक तरुणियों से एक साथ उसका अनुराग विश्वसनीय नहीं। 'एतावन्मात्र' से नेत्रविस्फारण का वास्तविक और अनुभव-मात्रैकगम्य स्वरूप बताकर एक ही अनुभाव से औत्सुक्य एवं विस्मय—इन दोनों भावों की प्रतीति कराना कवि के असाधारण काव्यवैदग्ध्य का परिचायक है। उक्त भाव नायक को निर्दोषता के अभिव्यंजक है। 'मुग्धे' पद उनका सहायक है। 'किमिव' से प्रेक्षण व्यापार की अनिर्वचनीयता ध्वनित हो रही है।

गाथार्थ—हे मुग्धे! पति ने अन्य महिलाओं के नामों से तुझे बुलाया है (गोत्रस्खलन किया है) तो रोओ मत। तुम छली जा रही हो। क्या वह इतनी मात्रा वाले (इतने बड़े-बड़े) नेत्रों से कुछ अन्य प्रकार से नहीं देख रहा है?

५९—सोत्तुं सुहं ण लब्भइ अव्वो ! पेम्मस्स वंक्विसमस्स ।

दुग्घडिअमंचअस्स व खणे खणे पाअपडणेण ॥

श्रोतुं सुखं न लभ्यते अव्वो ! प्रेम्णो वक्रविषमस्य ।

दुर्घटितमञ्चकस्येव क्षणे क्षणे पादपतनेन ॥

“ओहो ! गलत ढंग से बने मञ्चक ( खाट ) के समान, जिसके पाये क्षण-क्षण गिरा करते हैं, वक्र और विषम प्रेम के कारण सोने का सुख नहीं मिलता है ।”

यह अनुवाद अधूरा है । इसके दोषपूर्ण वाक्य-विन्यास ने अधूरे अर्थ को भी उलझा दिया है ।

गाथा में वक्र विषम-प्रेम की उपमा दुर्घटित मञ्चक से दी गई है । वह अवश्य ही किसी साधर्म्य पर अवलम्बित होगी । परन्तु अनुवादक ने उसे स्पष्ट नहीं किया है ।

अनुवाद में ‘न सो पाने’ का हेतु ‘वक्रविषम’ प्रेम को बताया गया है । उक्त शब्द में षष्ठी है, हेतु में तृतीया होती है या पंचमी । गाथा में हेतुवाचक तृतीयान्त पद ‘पादपतनेन’ ( पाअपडणेण ) विद्यमान है । अतः ‘वक्रविषमप्रेम’ का हेतुत्व असंगत है । ‘पादपतन’ ( पाअपडण ) में श्लेष है । उसका एक अर्थ है, पाये का गिर जाना और दूसरा अर्थ है, ( नायक का ) चरणों पर गिरना । प्रथम अर्थ का सम्बन्ध उपमान मञ्च से है और द्वितीय का उपमेयभूत ‘वक्रविषम-प्रेम’ से । ‘अब्बो’ खेदसूचक प्राकृत निपात है । सोत्तु’ की संस्कृतच्छाया प्रकरण विरुद्ध है, वहाँ स्वप्नुं होना चाहिये ।

प्राकृत गाथा अत्यन्त सरस एवं चमत्कृतिपूर्ण है । भ्रष्ट अनुवाद ने उसका साहित्यिक स्तर ही गिरा दिया है ।

नायक खंडिता अथवा मानवती नायिका को प्रसन्न करने के लिये बार-बार उसके चरणों पर गिर रहा है । वह प्रत्येक बार उस अपराधी का तिरस्कार ही करती जा रही है । वह इतना घृष्ट है कि मानता ही नहीं । नायिका उसके छलपूर्ण प्रणय से विरक्त हो चुकी है और निद्रा की अवस्था में अपनी मानसिक अशान्ति भुलाना चाह रही है । हठी नायक क्षण-क्षण पैरों पर गिर कर उसे सोने-नहीं दे रहा है । अतः वह खीझ कर कहती है—

खेद है, जिस प्रकार अच्छे ढंग से न बने हुये मञ्चक ( पर्यंक ) के पायों के गिर पड़ने के कारण सोने का सुख नहीं मिलता है उसी प्रकार ( इष्ट ) वक्र ( छलपूर्ण ) और विषम ( प्रेमी और प्रेमिका में समान रूप से न रहने वाले, असमान ) प्रेम से सम्बन्धित ( तुम्हारे ) पादपतन ( मेरे पैरों पर गिरने की क्रिया ) से भी मैं सुखपूर्वक सो नहीं पा रही हूँ ।

६०—वड्डुड ता तुह गब्बो, भणसि रे जह विहंडणं वअणं ।

सच्चं ण एइ जिद्दा तुए विणा, देहि ओआसं ॥ ९०६ ॥

वर्धतां तावत् तव गर्वो भणसि रे यथा विभण्डणं वचनम् ।

सत्यं नैति निद्रा त्वया विना देहि अवकाशम् ॥



“तेरा शर्व बड़े और जो कि तू झगड़े की बात करती है पर, सचमुच तेरे बिना नींद नहीं आती ( मुझे भी सेज पर ) जगह दे ।”

झगड़े की बात की अपेक्षा सम्बन्ध विच्छेद की बातों से दूरी बढ़ना अधिक संभव है । झगड़े तो प्रायः परिवार में होते ही रहते हैं । अतः ‘विहंगण’ का अर्थ ‘विभण्डन’ ( विशेष झगड़ा करने वाला ) न करके ‘विक्षण्डन’ ( विशेष रूप से सम्बन्धविच्छेद करने वाला ) करना अधिक उपयुक्त है । वचन का यह विशेषण ‘विभण्डन’ की अपेक्षा गर्ववृद्धि के अधिक अनुकूल है । नायिका सोच सकती है कि मैं सम्बन्ध तोड़ने की बात करती हूँ तब भी यह मेरा पीछा नहीं छोड़ता । अतः उसका गर्व बढ़ना स्वाभाविक है । शेष अनुवाद ठीक ही है ।

६१—कअविच्छेओ सहिभंगिभणिसबभाविवाराहाए ।

झडि आपल्लवइ पुणो णअणकवोलेसु कोवतरु ॥९०७॥

कृतविच्छेदः सखीभङ्गिभणितसम्भावितापराधायाः ।

झटिति आपल्लवति पुनर्नयनकपोलयोः कोपतरुः ॥

“सखी की लटपट बातों से तेरा अपराध मानकर उसका विच्छेद किया हुआ भी कोपतरु फिर नेत्र और कपोलों में तुरत पल्लवित हो गया ।”

‘सम्भाविवाराहाए’ का अर्थ ‘संभावितापराधायाः’ नहीं है । उक्त-पद की संस्कृतच्छाया ‘सद्भावितापराधायाः’ है । सम्भावित अपराध प्रचण्ड कोप का नहीं, हल्के मान का ही हेतु हो सकता है । गाथा नायिका के उत्कट कोप का वर्णन करती है, जिसके लिये वास्तविक एवं सत्य अपराध की अपेक्षा है । ‘सहि-भंगिभणिसबभाविवाराहा’ का अर्थ है—सखी के बक्रवचन विन्यास से जिसने ( नायक के ) अपराध की सत्यता का निश्चय कर लिया है । ( सहीए आलीए भंगिभणिएण वंक्वअणविण्णासेण सबभावियो सच्चत्तणेण णिच्छिओ अवरारो जोए । )

गाथा का अर्थ यह है :—

सखी के बक्रवचनविन्यास से जिसने ( नायक के ) अपराध की सत्यता का निश्चय कर लिया था, उस नायिका का कटा हुआ कोपरूपी वृक्ष भी नयनों और कपोलों में पुनः पूर्णतः पल्लवित हो गया । ( अर्थात् उसके नयन और कपोल आरक्त हो गये । )

रूपक पुरस्कृत पल्लवित शब्द पल्लवनिष्ठ लोहित्य का व्यंजक है । उससे नयनों और कपोलों के आरक्त हो जाने की सूचना मिलती है ।

६२—हिअए रोसुक्खित्तं पाअपहारं सिरेण पत्थंतो ।

ण हओ दइओ माणंसिणीएँ, थोरंसुअं रुण्णं ॥ ९१० ॥

हृदये रोषोद्गीर्णं पादप्रहारं शिरसि प्रार्थयमानः ।  
तथैवेति प्रियो मनस्विन्या स्थूलाश्रु रुदितम् ॥

“प्रिय ने रोष के कारण मन ही मन पदप्रहार को सिर पर माँगा तो मनस्विनी ने नहीं मारा और मोटे-मोटे आँसू ढार कर रोने लगी ।”

“विमर्श— नायिका प्रिय पर रुष्ट होकर उस पर मन ही मन पादप्रहार करने लगी, जब प्रिय ने प्रत्यक्ष रूप से उसके पादप्रहार को अपने शिर पर माँगा तो रोने लगी ।”

यह अनुवाद नितान्त उपहासास्पद है । प्रिय के द्वारा मन ही मन की गई पाद प्रहार की प्रार्थना को नायिका जान कैसे गई ? और बिना जाने उसने मारना कैसे छोड़ दिया ? अनुवाद में नायक के द्वारा मन ही मन पादप्रहार के माँगने का वर्णन है । विमर्श में नायिका के द्वारा मन ही मन पादप्रहार करने की बात लिखी गई है और नायक के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से पादप्रहार की याचना है । दोनों में एक ही संभव है । “प्रिय ने रोष के कारण मन ही मन पदप्रहार को सिर पर माँगा ।” इस अनुवादस्थ वाक्य में नायक के रोष को पदप्रहार शिर पर माँगने का हेतु बताया गया है । यह नितान्त अनुचित है । कोई भी रोषाविष्ट व्यक्ति यह नहीं चाहता कि उस पर प्रहार हो । वस्तुतः न तो नायिका की मनो-गत प्रहारेच्छा नायक को ज्ञात हो सकती है और न नायिका ही नायक की मनो-गत प्रहार-याचना को जान सकती है । अतः यह अनुवाद एक तमाशा बन गया है ।

गाथा की संस्कृतच्छाया मूलानुसारिणी नहीं है । अनुवादक के अनुसार वह वज्जालग्न से ली गई है, परन्तु वज्जालग्न में गाथा का पाठ इस प्रकार है :—

हिअए रोसुगिण्णो पायपहारं शिरस्मि पत्थंतो ।  
तह उ त्ति पिओ माणंसिणीइ थोरंसुअं रुण्णं ॥

उक्त संस्कृतच्छाया इसी पाठ पर अवलम्बित है । अनुवादक ने पाठ भेद होने पर भी इसी के अनुसार गाथा को अनूदित किया है । प्रस्तुत गाथा की शब्दानुसारिणी संस्कृतच्छाया यों होगी :—

हृदये रोषोत्क्षिप्तं पादप्रहारं शिरसि प्रार्थयमानः ।  
न हृतो दयितो मनस्विन्या स्थूलाश्रुकं रुदितम् ॥

यह खंडिता नायिका का वर्णन है । नायिका ने अपराधी नायक की छाती ( हृदय ) पर प्रहार करने के लिए जैसे ही चरण उठाया तैसे ही उसने ( नायक ने ) अपना शिर आगे कर दिया । यह देखकर मनस्विनी नायिका ने उसे मारा नहीं । वह स्थूलाश्रु गिराकर रो पड़ी । नायक ने छाती को प्रहार से बचाने की जो चेष्टा की उसी में नायिका के रोने का हेतु छिपा है । वह तुरन्त समझ गई

कि इसके हृदय में अवश्य कोई प्रेयसी बसी है जिसकी रक्षा के लिये छाती के प्रहार से बचना चाहता है। यह वास्तविक अपराधी है। 'वज्जालग' में इस गाथा का जो पाठ है उसमें तह उ त्ति (तथैवेति) की उपस्थिति के कारण व्यंग्य की दिशा का ईषद् सांकेतिक आभास मिल जाता है। परन्तु प्रस्तुत पाठ में व्यंग्य की प्रतीति निगूढ है। व्यंग्य की अवगति के अभाव में रोषाविष्ट नायिका के रोने का कारण स्पष्ट नहीं हो सकता। यहाँ व्यंग्य वाच्यार्थ का साधक होने के कारण गुणीभूत हो गया है।

**६३—पिअमविइण्णचसअं अचक्खिअं पिअसहीएँदेंतीए ।**

**अभणंतीएँ वि माणंसिणीएँ कहिओ च्चिअ विरोहो ॥९११॥**

प्रियतमवितीर्णं चषकमनास्वादितं प्रियसख्या ददत्या ।

अभणन्त्याऽपि मनस्विन्या कथित एव विरोधः ॥

“प्रियतम के द्वारा अपित मदिरा-चषक को न चखकर प्रिय सखी जब देने लगी तब कुछ न बोलती हुई भी मनस्विनी ने विरोध प्रकट कर ही दिया।”

बिना बोले विरोध प्रकट करनेवाली मनस्विनी और प्रिय सखी—दोनों पृथक्-पृथक् महिलायें हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि मदिराचषक प्रदान करने वाला प्रियतम किसका है? यदि प्रिय सखी का है तो जिसने बिना बोले विरोध प्रकट कर दिया उसकी गाँठ से क्या चला गया था? यदि विरोध प्रकट करने वाली का है तो उसने ( प्रियतम ने ) प्रियतमा के अतिरिक्त अन्य को चषक क्यों दिया और उसने क्यों चखा नहीं? अनुवाद की भाषा से लगता है कि मनस्विनी नायिका की सखी के प्रियतम ने उसे ( सखी को ) मदिराचषक दिया था। वह उसे बिना चखे ही मनस्विनी नायिका को देने लगी। तब नायिका ने बिना बोले विरोध प्रकट कर दिया। इस वर्णन में विरोध का कारण स्पष्ट नहीं है। कोई प्रियतम अपनी प्रिया को मदिराचषक प्रदान करे और वह (प्रिया) उसे बिना चखे अपनी प्रिय सखी को दे दे तो उसकी बहुत बड़ी उदारता है। इससे सखी का सम्मान सूचित होता है। प्रसन्न होने के स्थान पर वह विरोध क्यों प्रकट करेगी? यदि मदिराचषक प्रदान करने वाले से उसका प्रच्छन्न-प्रणय है तो विरोध भी सम्भव है। किन्तु यह स्थिति तो तब आती जब गाथा की संस्कृतच्छाया शुद्ध होती। 'पिअसहीएँ' में सम्प्रदानार्थक चतुर्थी है। मनस्विनी और प्रियसखी का समानाधिकरण अप्रासंगिक है। शुद्ध संस्कृतच्छाया इस प्रकार होगी :—

प्रियतमवितीर्णं चषकमनास्वादितं प्रियसख्यै ददत्या ।

अभणन्त्याऽपि मनस्विन्या कथित एव विरोधः ॥

गाथा का भाव यह है। अपराधी नायक नायिका को प्रसन्न करने के लिये उसे मदिराचषक प्रदान करता है। नायिका उसे स्वयं न पीकर अपनी सखी को दे देती है। इस प्रकार वह यद्यपि बाणी से नायक का विरोध नहीं करती तथापि उसके द्वारा सादर और सप्रणय प्रदत्त मधुचषक को अस्वीकृत कर अपना विरोध व्यंजित कर देती है। यहाँ चषक का अस्वीकरण ही बाणी के अभाव में विरोध का प्रकाशक है।

६४. तणुआइआ वराई दिअहे दिअहे मिअंकलेहाव्व ।

बहुलपओसेण तुए णिसंस ! अंधारिअ मुहेण ॥९१३॥

तनुकायिता बराकी दिवसे दिवसे मृगाङ्कलेखेव ।

बहुलप्रदोषेण त्वया नृशंस ! अन्धकारितमुखेन ॥

“रे नृशंस ! बहुत दोषों से भरे कलमुँहे तेरे कारण (पक्ष में बहुल प्रदोष = कृष्णपक्ष के कारण) वह बेचारी चन्द्रलेखा की भाँति दिन-दिन दुबराती जा रही है।”

इस अनुवाद में क्षीण होने (दुबराने) का सामान्य कारण ही उल्लिखित है। दिन-दिन क्षीण होने का कोई विशेष कारण भी अपेक्षित है। अनुवादक ने प्रदोष और अन्धकारितमुख के उभयपक्षीय अर्थों का उद्घाटन नहीं किया है।

गाथा का उचित अर्थ यह है :—

नृशंस जिसका अगला भाग (मुख) अन्धकारयुक्त है, उस कृष्णपक्ष (बहुल) के सन्ध्याकाल (प्रदोष) में जैसे चन्द्रकला दिन-दिन क्षीण होती जाती है, उसी प्रकार अत्यधिक दोषों वाले एवं (उसके) मुख पर कालिक पोतने वाले (अन्धकारितमुखेन<sup>१</sup>) तेरे कारण वह बेचारी क्षीण हो गई है।

यहाँ नायक के कुकृत्यों से नायिका के मुख पर कालिख लगना क्षीणता का विशेष कारण है।

६५. भिउडो ण कआ कडुअं णालविअं अहरअं ण पज्जुट्टं ।

उवऊहिआ ण रुणा एएण वि जाणिमो माणं ॥९१५॥

भृकुटिनं कृता कटुकं नालपितं अधरकं न प्रजुष्टम् ।

उपगूढा न रुदिता एतेनापि जाने मानम् ॥

“उसने भृकुटी नहीं की, कडुई न बोली, अधर को न काटा, मुझे आलिंगन किया और न रोई, इतने पर भी हमें मालूम है कि वह रूठ गई है।”

गाथा में नायिका की चेष्टाओं एवं क्रियाओं से मान का प्रत्यक्ष प्रकाशन

१. अन्धकारितं श्यामीकृतं (नायिकायाः) मुखं येन इत्यर्थः ।

न होने पर भी नायक को उसका आभास हो जाने का जो सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक वर्णन है उसे अनुवाद व्यक्त नहीं कर सका है। 'अधर को न काटना' ऐसी चेष्टा है जिससे मान का प्रत्यक्ष प्रकाशन हो जाता है। गाथा में 'एतेनापि' (इससे भी) के माध्यम से मानप्रकशनाभाव वर्णित है। जो मान चेष्टा के द्वारा प्रकाशित हो जाता है उसे सभी जान लेते हैं, यदि नायक ने भी जान लिया तो ऐसी कौन-सी अनहोनी बात हो गई जिसके कारण वह अपने ज्ञान का ढिंढोरा पीटने लगा। नायिका का उपगूहन व्यापार (मुझे आलिंगन किया) तो मान का अस्तित्व ही समाप्त कर देता है। अतः असद्भूत मान का ज्ञान ही निरर्थक है।

'पज्जुट्ठ' कम्पनवाची देशी शब्द है। 'अहरअं ण पज्जुट्ठ' का अर्थ है— अधर काँपे नहीं। संस्कृतच्छाया में 'प्रजुष्ट' के स्थान पर 'प्रकम्पितम्' होना चाहिये। गाथा का अर्थ यह है :—

(प्रिया ने) भौहें नहीं चढ़ाई, (टेढी कीं) कटु भाषण नहीं किया, उसके अधर भी नहीं काँपे, आलिंगित होने पर वह रोई भी नहीं, इतने पर भी मैं जानता हूँ कि वह रूठ गई है। यद्यपि ये सभी उपयुक्त व्यापार प्रणयानुकूल हैं तथापि नायक को प्रिया के मनोगत मान का आभास मिल ही जाता है। यदि प्रेयसी ने रोष से भ्रूभंग नहीं किया तो प्रणयव्यंजक हाव-भाव ही कहाँ प्रदर्शित किये? यदि कटु भाषण नहीं किया तो मधुर वचनों से स्वागत भी नहीं किया, यदि वह आलिंगित होने पर रोई नहीं तो उसने स्वयं प्रियतम का आलिंगन भी तो नहीं किया। प्रणयसूचक उपगूहन व्यापार भी नायक की ही ओर से हुआ है। नायिका का यह निर्लिप्त और निर्विकार भाव ही मान का अनुभावक है। प्रणय अवरोध और सहयोग दोनों का आकांक्षी है। नायक को दोनों में से एक भी नहीं मिला। मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर आधारित यह गाथा साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त उच्चकोटि की है।

६६. परिपुच्छिआ ण जंपसि चुम्बिज्जंती बला मुहं हरसि ।

परिहासमाणविमुहे ! पसिअच्छि ! मअं मह दूमेसि ॥

परिपृष्टा न जल्पसि चुम्ब्यमाना बलान्मुखं हरसि ।

परिहासमानविमुखे ! प्रसृताक्षि ! मनो मे दुनोषि ॥

“पूछने पर नहीं बोलती, चुम्बन करने पर बल से मुँह फेर लेती है, परिहास करने पर विमुख हो जाती है, अरी ! फैली आँखों वाली ! तू हमारा मन दुखा रही है ।”

अनुवादक ने परिहासमान विमुखे (परिहास माण विमुहे) का अर्थ यह दिया- है—“परिहास करने पर विमुख हो जाती है।” इस अर्थ में मान शब्द का उप-योग नहीं किया गया है।

गाथा में मानिनी नायिका का वर्णन है। नायक नायिका के वास्तविक मान को परिहास बताकर उसे अनुकूल करने का वैदग्ध्यपूर्ण प्रयास कर रहा है। ‘परिहासमानविमुखे’ नायिका का सम्बोधन है। उसका अर्थ है—परिहास के रूप में किए गये मान के कारण मुख फेर लेने वाली (परिहासमि जो माणो तेण विवरीअं मुहं जीए )। अतः उत्तरार्ध का अर्थ यों करें। हे परिहास (हँसी) में (झूठा) मान करके मुँह फेर लेने वाली विशाल नेत्रे ! तुम मेरा मन दुखी कर रही हो।

**६७—अइ पोणत्थण उत्थंभिआणणे ! सुणसु सुणसु मह वअणं ।**

**अथिरम्मि जुज्जइ ण जोव्वणम्मि माणो पिए काउं ॥९१८॥**

अयि पीनस्तनि ! उत्तम्भितानने श्रुणु श्रुणु मम वचनम् ।

अस्थिरे युज्यते न यौवने मानः प्रिये कतुम् ॥

“ हे पीनस्तनि ! उन्मुखि ! सुतनु ! मेरा वचन सुन, यौवन स्थिर नहीं है, अतः प्रिय के प्रति मान करना ठीक नहीं है।” पीणत्थण उत्थंभिआणणे की संस्कृतच्छाया ‘पीनस्तनोत्तम्भितानने’ होगी और गाथा का अर्थ यह होगा = अरी ! पीनस्तनों के कारण उत्तम्भितानने ! ( ऊँचे और पुष्ट स्तनों के कारण जिसका मुँह ऊपर ही रहता है अर्थात् जो स्तनों की ऊँचाई के कारण नीचे मुँह करके देख भी नहीं सकती । ) सुनो, मेरी बात सुनो, प्रिये ! अस्थिर यौवन में मान करना उचित नहीं है ।

**६८—तरलच्छि ! चंदवअणे ! थोरत्थणि ! करिअरोरु ! तणुमज्जे ।**

**दीहा ण समप्पइ सिसिरजामिणी, कह णु दे माणो ॥९१९॥**

तरलाक्षि ! चन्द्रवदने ! स्तोकस्तनि ! करिवरोरु ! तनुमध्ये ॥

दीर्घान समाप्यते शिशिरयामिनी कथं नु ते मानः ॥

“ हे तरल आँखों वाली, चन्द्रमुखि ! थोड़े स्तनों वाली, हाथी के सूँड़ के सदृश ऊँच वाली एवं क्षीण कटि वाली ! लम्बी यह शिशिर की रात नहीं बीत रही है, तेरा मान कैसा है । ”

‘थोरत्थणि’ और ‘करिअरोरु’ की संस्कृतच्छाया अशुद्ध है। ‘थोर’ स्थूल का प्राकृत रूप है ।<sup>१</sup>

१. द्रष्टव्य—

स्थूले लोरः प्रा० व्या० १/२५५

सेवादो वा ,, ,, २/९९

द्वितीयपाद की संस्कृतच्छाया यों होगी :—

स्थूलस्तनि ! करिकरोरु तनुमध्ये ।

कह ( कथं ) का अर्थ 'कैसे' नहीं 'क्यों' है । इसमें मान के प्रकार की नहीं, हेतु की जिज्ञासा है । तरुणियों के स्तनों का स्तोकभाव ( लघुत्व ) प्रशस्य नहीं है । उनकी पीनता ( स्थूलता ) में ही लावण्य है ।

गाथार्थ—हे चंचल नयने ! हे चन्द्रवदने ! हे पीनपयोधरे ! हे करिकरोरु ! हे तनुमध्ये ! ( क्षीण कटिवाली ) शिशिर की दीर्घ रात्रि ( अकेले ) नहीं बीत रही है, तेरा मान क्यों है । ( अर्थात् तू क्यों रूठ गई है । )

६९—कज्जं विणा वि कअमाणडंबरा पुलभ्रिण्ण सद्वंगी ।

उज्जल्लालिंगणसोक्खलालसा पुत्ति ! मुणिआसि ॥९२३॥

कार्यं विनाऽपि कृतमानडम्बरा पुलकभिन्नसर्वाङ्गी ।

उज्ज्वलालिंगनसौख्यलालसा पुत्रि ! ज्ञाताऽसि ॥

“कार्य के बिना भी मानाडम्बर किये हुई रोमांचित शरीर वाली हे पुत्रि ! मुझे मालूम हो गया कि तुझे आलिंगन सुख की तीव्र लालसा है ।”

गाथा में कार्य शब्द हेतुवाचक है । 'उज्जल्ला' देशी शब्द है । उसका अर्थ है :—बलात्कार ( बलपूर्वक की जाने वाली क्रिया<sup>१</sup> ) महत्वपूर्ण होने पर भी इस शब्द का उपयोग अनुवाद में नहीं किया गया है । 'उज्जल्लालिंगणसोक्खलालसा' नायिका का साभिप्राय विशेषण है । उसका अर्थ है :—बलाद् आलिंगन के सुख को लालसा ( इच्छा ) करने वाली ।

( उज्जल्लाए बलक्कारेण जं आलिंगणसोक्खं तम्मि लालसा जिस्सा ) गाथा का अर्थ इस प्रकार है :—

( कोई प्रौढ़ा नायिका से कहती है ) तू बिना कारण के ही मान का आडम्बर ( प्रदर्शन या दिखावा ) कर रही है, तेरा सर्वांग पुलकों से परिव्याप्त है । हे पुत्रि ! मैंने जान लिया है कि तुझे ( पति के द्वारा कृत ) बलपूर्वक आलिंगन के सुख की इच्छा हो गई है ।

नायिका सर्वदा नायक के अनुकूल रहती थी, अतः एक ही प्रकार के आलिंगन से, ऊब चुकी थी । उसकी लालसा थी कि नायक कभी बलपूर्वक भी आलिंगन करे । इसीलिए उसने कृत्रिम मान का नाटक किया था । 'पुलकभिन्नसर्वाङ्गी' पद मान की कृत्रिमता का व्यञ्जक होने के साथ-साथ आलिंगन-सुख के अभिलाष का भी प्रत्यायक है । वास्तविक मान में रोमांच नहीं होता ।

१. पाइअसइमहण्णव

७०—माणहरिएहि गंतुं ण तोरए सो ण एइअवराही ।

को वि अपत्थिअमुणिओ णेज्जं मंतं व आणेज्ज ॥९२६॥

मानहरित्तैर्गंतुं न शक्यते स नैति अपराधी ।

कोऽपि अप्राथितज्ञो नेयं मन्त्राभिवानयेत् ॥

“ मान धारण किये हुए हम जा नहीं सकते, वह अपराधी नहीं आता है, कोई पहुँचाने वाले मन्त्र की भाँति अभिलषित जानने वाला उसे ला दे ।”

“विमर्श—गाथा का अर्थ स्पष्ट नहीं लगता ।”

इस गाथामें ‘अपत्थिअमुणिओ’ का पाठ ‘अ पत्थिअमुणिओ’ होना चाहिए । तृतीय पाद की संस्कृतच्छाया का समुचित स्वरूप यह होगा :—

‘कोऽपि च ज्ञात प्राथितः’ ‘यहाँ मूल में प्राकृतत्वात् मुणिअ शब्द का पर निपात हो गया है ‘मान हरिएहि’ की संस्कृतच्छाया ‘मानधरित्तैः’ या ‘मानभरित्तैः’ है ।

अपराधी नायक और मानिनी नायिका एक दूसरे से दूर रह रहे हैं । नायिका का कोप शान्त हो चुका है । वह प्रिय से मिलने के लिये उत्सुक है । अब यदि वह स्वयं नायक के निकट जाती है तो आत्म-प्रतिष्ठा को आघात लगता है । लोग कहेंगे, बड़ी मान वाली बनी थी, मान का निर्वाह भी नहीं कर सकी ! दूसरी ओर नायक के आने की भी कोई आशा नहीं है । वह अपने अपराध की गुस्ता के कारण भयभीत है । इस जटिल परिस्थिति में वाञ्छनीय संयोग को दैवाधीन समझ कर नायिका कह रही है :—

जिन्हें मान ने ग्रहण कर लिया है, ( या जो मान से भरे हैं ) वे तो ( नायक के निकट ) जा नहीं सकते, वह ( नायक ) अपराधी है, अतः वह भा नहीं रहा है । जैसे वशीकरण मन्त्र नेय ( जिसे ले जाना है ) को ला देता है, वैसे ही कोई हमारे प्राथित ( लभिलषित ) को जानने वाला उसे ला देता ! ( तो कितना सुन्दर होता, इच्छा भी पूरी हो जाती और प्रतिष्ठा भी रह जाती । )

आणेज्ज में काकु है ।

७१—तुंगो थिरो विसालो जो सहि ! मे माणपव्वओ रइओ ।

सो दइअदिट्ठवज्जासणीएँ घाए वि ण पहुन्तो ॥

तुङ्गः स्थिरो विशालो यो रचितो मानपर्वतस्तस्याः ।

स दयितदृष्टि वज्राशनेर्घातमेव न प्राप्तः ॥

“ हे सखि ! जो मेरे सान का पर्वत तुंग, स्थिर और विशाल बना है, उसने प्रिय के दृष्टिबज्र का प्रहार नहीं पाया है ।”

“ विमर्श—छाया वज्जालग से प्राप्त ”



उपर्युक्त विमर्श के अनुसार अनुवादक को इस गाथा की संस्कृतच्छाया 'वज्जालग' से प्राप्त हुई है। 'वज्जालग' में प्राकृत पाठ इस प्रकार है :—

तुंगो थिरो विसालो जो रइओ माणपव्वओ तीए ।

सो दइयदिट्ठवज्जासणिस्स घायं चिय ण पत्तो ॥

यह भिन्न पाठ की संस्कृतच्छाया के प्रस्तुत गाथा का वास्तविक अर्थ कैसे दे सकती है ? व्याख्येय गाथा की विशुद्ध संस्कृतच्छाया यह है :—

तुङ्ग स्थिरो विशालो यः सखि ! मे मानपर्वतो रचितः ।

स दयित दृष्टिवज्राशनेघतिऽपि न प्रभूतः ॥

गाथार्थ—हे सखी ! ( तुम्हारे द्वारा ) मेरा जो तुंग स्थिर और विशाल मानरूपी पर्वत बनाया गया था वह प्रिय के दृष्टिरूपी वज्र के आघात ( प्रहार ) के लिए भी पर्याप्त नहीं था ।

सखी ने बहुत प्रयत्नपूर्वक नायिका से मान का अभिनय करवाया था किन्तु वह नायक की दृष्टि पड़ने के पहले ही भग्न हो गया ।

**७२—पच्चवखमंतुकारअ ( ? ) जह चुंबसि मे इये हअकवोले ।**

**ता भज्ज पिअसहीए विसेसओ कीस तण्हाओ ॥ ९३२ ॥**

प्रत्यक्षमन्युकारक यदि चुम्बसि मे इमौ हतकपोलौ ।

ततो मम प्रियसख्या विशेषकः कस्मात् तृष्णाः ( ? ) ॥

हे प्रत्यक्ष अपराध करने वाले ! जब तुम मेरे इन अभागों को चूमते हो तो मेरी प्रिय सखी का गाल गीला कैसे हो गया ?”

“विमर्श—गाथा में ‘विसेसओ कीस तण्हाओ’ का प्रयोग प्रसंगतः नहीं जमता । इसकी छाया ‘विशेषकः कस्मात् तृष्णाः’ जैसी ही सम्भव है, जिसका अर्थ कुछ संगत नहीं बैठता, अतः प्रस्तुत में कुछ परिवर्तन करके अर्थ बैठाया गया है, जैसा श्री जोगलेकर ने भी किया है ।”

उपर्युक्त अनुवाद और विमर्श के अनुसार गाथा का संगत अर्थ नहीं लगता है । मराठी अनुवादक श्री जोगलेकर ने भी मूलपाठ में परिवर्तन करके इसका अर्थ देने का प्रयत्न किया है । अतः प्रस्तुत अनुवाद की युक्तता अथवा अयुक्तता के सम्बन्ध में कुछ लिखना निरर्थक है । गाथा में प्रयुक्त ‘तण्हाओ’ देशी शब्द तण्णाओ या तण्णाओ के पाठस्खलन का परिणाम है । तण्णाओ का अर्थ है—

१—बहुलाधिकार के कारण यलोप वैकल्पिक है । वसुदेवाहिनी में य, अ और ओ के स्थान पर बहुशः ‘त’ की प्रविष्टि दृष्टिगत होती है, जैसे वातु ( वाऊ = वायुः ) विवातो ( विवाओ = विवादः ) तातो ( ताओ = ताः ) इत्यादि । यह प्रवृत्ति पेशाची की है ।

आर्द्रं या गीला<sup>१</sup> । विसेशओ ( विशेषकः ) तिलक का वाचक है । तण्णाओ इसी का विशेषण है । उत्तरार्ध का संस्कृतरूपान्तर यों होगा :—

ततो मम प्रिय सख्या विशेषकः कस्मादार्द्रः ।

प्रसंग—नायिका की सखी का चुम्बन करते समय नायक का आर्द्र तिलक उस ( नायिका की सखी ) के मुँह या मस्तक में लग गया है । फिर वही नायक जब नायिका के कपोलों का चुम्बन करता है, तब वह सखी को आर्द्र तिलक में लक्षित देखकर सब रहस्य ताड़ जाती है और रोषपूर्वक कहती है :—

गाथार्थ—अरे प्रत्यक्ष अपराध करने वाले ! यदि तू मेरे इन मरे (अभागे) कपोलों को चूमता है, तो मेरी प्रिय सखी के आर्द्र तिलक कहाँ से हो जाता है ? ( अथवा मेरी सखी का तिलक कैसे गीला हो जाता है । )

आशय यह है कि तू मेरा ही नहीं, मेरी सखी का भी कामुक है । प्रिय सखी शब्द में विपरीत लक्षणा है ।

७३. को सुहृद ! तुज्ज दोसो ? हृदहृदअं णिट्ठुरं मज्ज ।

पेच्छसि अणिमिसणअणो जंपसि विणअं जंपसे पिट्ठं ॥

कः सुभग ! तव दोषः ? हृत्तहृदयं निष्ठुरं मम ।

प्रेक्षसेऽनिमिषनयनो जल्पसि विनयं जल्पसि पृष्ठम् ॥

“हे सुभग ! तुम्हारा कौन दोष है ? मेरा अभागा हृदय निष्ठुर है । तुम तो निर्निमेष आँखों से निहारते हो, विनय से बोलते हो और पूछे गये की नहीं बोलते हो ।”

इस भौंडे अनुवाद ने गाथा का काव्य-चमत्कार ही चौपट कर दिया है । प्राकृत कवि ने ‘जंपसे पिट्ठं’ के द्वारा ‘पूछे गये’ को बताने की बात लिखी है । अनुवादक ने उसका प्रतिषेधात्मक अर्थ किस आधार पर दिया है—यह समझ में नहीं आता । जंप क्रिया का दो बार प्रयोग साभिप्राय है, अतः गाथा में पुनरुक्ति दोष नहीं है । अर्थनिरूपण के पूर्व ‘पिट्ठं’ शब्द की निरुक्ति आवश्यक है । इष्ट ( इष् + क्त ) का अर्थ वाञ्छित, अभिलषित या मनोनुकूल होता है । इसमें प्र जोड़ देने पर ( प्र + इष्ट ) प्रेष्ट शब्द निष्पन्न होता है । ‘प्रेष्ट’ का प्राकृत रूप ‘पिट्ठं’ होगा । जैसे ‘सेट्ठं’ का प्राकृत में ‘सिट्ठं’ हो जाता है वैसे ही ‘पिट्ठं’ का पिट्ठं हो गया । इस शब्द का अर्थ है—मनोनुकूल या वाञ्छित ।

अब गाथा के प्रकरण का प्रेक्षण करें । अपराधी नायक अन्य तरुणी से रमण करके इष्ट नायिका के निकट आया है और अपना दोष छिपाकर उसे प्रसन्न करना चाहता है । उसकी पलकों में प्रेयसी ( रखैल ) का अंजन लगा

है और अघरों पर दन्तक्षत के चिन्ह हैं। अतः अंजनलक्ष्म को छिपाने के लिये निर्निमेष नेत्रों से देख रहा है, दन्तक्षत को प्रकाशित होने से बचाने के लिये नीचे मुँह करके बातें कर रहा है और पत्नी के मनःप्रसादन के लिये प्रिय भाषण कर रहा है। वह उसका अपराध समझकर व्यंग्य एवं तिरस्कारपूर्वक कह रही है :—

अरे सुभग ! तुम्हारा क्या दोष है ? तुम तो मुझे अपलक नयनों से देख रहे हो, विनत होकर बात कर रहे हो और जो मुझे इष्ट है वही बात कर रहे हो, मेरा ही भरा हृदय निष्ठुर है ( जो इस प्रकार निर्दोष और भोले प्रेमी को खिन्न कर रही हैं । )

यहाँ नायिक अपने वचनपाठव से नायक के अपराध गोपन-व्यापारों को प्रणयपक्ष में यों संघटित कर रही है—

मैं इतनी प्रिय लग रही हूँ कि मुझे देखते हुए तुम्हारी पलकों ही नहीं गिर रही हैं, तुम इतने विनम्र हो गये हो कि शिर नीचे करके बात कर रहे हो और वही बात कर रहे हो जो मुझे प्रिय लगती है। इतने विनम्र प्रियभाषी और सतत मुखप्रेक्षी प्रणयी का तिरस्कार करके मैंने निष्ठुरता का परिचय दिया है। अतः अपराध मेरा है, तुम निर्दोष हो।

नायिका की उक्ति में विपरीतलक्षणा है। अतः द्वितीयार्थ इस प्रकार होगा—

अरे दुर्भग ! ( अभाग ) तू अंजनलाञ्छन गोपन के लिये अपलक नयनों से देखता है, दन्तक्षत गोपनार्थ मुख नीचे करके बात करता है और अपराध से भीत होने के कारण मुझे रचने वाली बातें कहता है। सब दोष तेरा है। मेरा हृदय न भरा है और न मैं निष्ठुर ही हूँ।

‘जंपसि विणअं’ की संस्कृतच्छाया ‘जल्पसि विनतम्’ होगी।

७४. अणुवत्तंतो अम्हारिसं जणं आहिजातीए ।

चित्तेसि उणो हिअए अणाहिजाई सुहं जअइ ॥ ९३९ ॥

अणुवर्तमानोऽस्मादृशं जनमभिजात्या ।

चिन्तयसि पुनर्हृदयेऽनभिजातिः सुखं जयति ॥

“हमारे सदृश जन का कुलीनता से अनुगमन करते हुये भी तुम सोचा करते हो कि अकुलीनता के कारण सुख से जीते हैं।”

अनुवादक ने गाथा का अर्थ ही विपर्यस्त कर दिया है। इसमें एक ऐसे प्रेमी का वर्णन है जो किसी अन्य तरुणी में आसक्त होने पर भी बाह्य कुलीनता के कारण अनिच्छा से अपनी पत्नी का अनुवर्तन करता है और मन में चिन्तित भी रहता है। उसकी पत्नी इस रहस्य को जानकर कहती है :—

तुम हम-जैसे लोगों का कुलीनता के कारण अनुवर्तन करते हो और फिर मन में चिन्तित हो जाते हो ( मनमें सोचने लगते हो या दुःखी हो जाते हो ) । जो कुलीन नहीं है वह सुख को जीत लेता है । ( वश में कर लेता है, क्योंकि उसे कृत्रिम अनुराग से अभिनय का कष्ट नहीं झेलना पड़ता ) ।

यहाँ 'जअइ' ( जयति ) से 'जिअइ' ( जीवति ) का भी अर्थ लिया जा सकता है । हेमचन्द्र के अनुसार धातुओं में किसी स्वर के स्थान पर दूसरा स्वर भी संभव है । 'उस स्थिति में' 'सुख को जीत लेता है ।' के स्थान पर 'सुख से जीता है' अर्थ होगा ।

### ७५. मलिणवसणाण किअवणिआण आपंडुगण्डपालीणं ।

पुप्फवइआण कामो अंगेसु कआउहो वसइ ॥

मलिनवसनानां कृतवनितानां (?) आपाण्डुगण्डपालीनाम् ।

पुष्पवतीनां कामोऽङ्गेषु कृतायुधो वसति ॥

'मैले वस्त्रों वाली, अलग रहने वाली ( ? ) पीले गालों वाली पुष्पवतियों (रजस्वलाओं) के अंगों में कामदेव आयुध धारण किये हुये निवास करता है ।'

'किअवणिआण' की संस्कृतच्छाया अशुद्ध है । प्राचीनकाल में पुष्पवती महिलायें अपने अंगों में हरिद्रामिश्रित लेप लगाती थीं । उस लेप को वर्णिका कहते थे । 'वणिआ' शब्द 'वर्णिका' का प्राकृत रूप है । संस्कृतच्छाया में कृतवनितानां के स्थान पर 'कृत वर्णिकानाम्' होना चाहिये ।

उपयुक्त अनुवाद में 'अलग रहने वाली' के स्थान पर 'हरिद्रामिश्रित लेप लगाने वाली' जोड़ देने पर त्रुटि नहीं रह जायेगी ।

### ७६. णिअदइअदंसणूसुअ पंथिअ ! अण्णेण वचचसुपहेण ।

घरवइधूआ दुल्लंघवाउरा ठाइ हअग्गामे ॥

निजदयितदशनोत्क्षिप्त पथिकान्येन व्रज पथा ।

गृहपतिदुहिता दुल्लंघ्यवागुरेह हतग्रामे ॥

'अपनी प्रिया के दर्शन के लिये उत्सुक है पथिक ! दूसरे मार्ग से जा, इस दुष्ट गाँव में गृहपति की पुत्री रहती है, जिससे बच कर निकलना मुश्किल हो जायगा ।'

'असुअ' की संस्कृतच्छाया 'उत्सुक' होगी, 'उत्क्षिप्त' नहीं । अनुवादक ने वागुरा का अर्थ नहीं दिया है । उसी शब्द में अन्य मार्ग से जाने का हेतु सन्निहित है । कथन का आशय है कि इस दुष्ट गाँव में रहने वाली सुन्दरी

गृहपति पुत्री एक दुर्लङ्घ्य जाल है, उसमें फँस जाने पर अपने घर नहीं जा पाओगे ।

**७७. आसाइमण्णासण जेत्तिअं, ता तुइ ण बहुआ धिई ।**

**उवरमसु वुसह ! एण्हं रक्खिज्जइ गेहबइखेत्तं ॥**

आस्वादितमज्ञातेन यावत्तावदेव त्रीहीणाम् ।

उपरम वृषभेदानीं रक्ष्यते गृहपतिकेत्रम् ॥

इसका अनुवाद तो ठीक ही किया गया है, परन्तु संस्कृतच्छाया अशुद्ध है । 'ता तुइ ण बहुआ धिई' का संस्कृत रूपान्तर 'तावदेव त्रीहीणाम्' करना आँख में धूल झोंकना है । उसका संस्कृत रूपान्तर यह होगा—

तावत् स्वयि न बहुधा घृतिः ।

गाथार्थ—अरे वृषभ ! अनजाने में जितना चर गये हो ( आस्वादन कर चुके हो ) उतने से तुम्हारे भीतर अधिक घैर्य नहीं आया । रुको, अब गृहपति के क्षेत्र की (खेत की) रक्षा को जा रही है ।

गाथा में वृषभ उपपति का प्रतीक है और क्षेत्र नायिका का ।

**७८. उच्चिणसु पडिअकुसुमं मा धुण सेहालिअं हलिअसुण्हे ।**

**एस अवसानविरसो ससुरेण सुओ वलयसद्दो ॥ ९५३ ॥**

उच्चिणु पतितानि कुसुमानि मा धुनीः शेफालिकां हलिकस्नुषे ।

एष ते विषमविरावः श्वशुरेण श्रुतो वलयशब्दः ॥

“अरी हलिक की पुत्र-बधू ! गिरा हुआ ही फूल चुन ले, शेफालिका को मत कँपा । तेरे समुद्र ने विषम आवाज करने वाले वलय का शब्द सुन लिया है ( इस का परिणाम बुरा होगा ) ।” यहाँ 'एस अवसानविरसो' की छाया 'एष ते विषमविरावः' दी गई है । जो मूलपाठ से सर्वथा विपरीत अर्थ प्रकट करती है । अनुवादक ने इसे ध्वन्यालोक से लिया है । ध्वन्यालोक में इस गाथा का पाठ इस प्रकार है—

उच्चिणसु पडिअकुसुमं मा धुण सेहालिअं हलिअसुण्हे ।

अह दे विसमविरावो ससुरेण सुओ वलयसद्दो ॥

इसमें तृतीयपाद सर्वथा भिन्न है । पूर्वोद्धृत छाया इसी पाठ पर अवलम्बित है । ध्वन्यालोकलोचन में इस गाथा का संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार मिलता है—

उच्चिणु पतितं कुसुमं मा धुनीहि शेफालिकां हलिकस्नुषे ।

एष ते विषमविपाकः श्वशुरेण श्रुतो वलयशब्दः ॥

इस रूपान्तर के अनुसार प्राकृत गाथा के प्रथमपाद में 'पडिअकुसुमं' के स्थान पर 'पडिअं कुसुमं' ( पतितं कुसुमं ) रख देने पर एक मात्रा अधिक हो

जाती है। अतः इसे संस्कृतच्छाया नहीं कह सकते। यह संक्षिप्त अर्थ है जिसमें 'पडिअकुसुमं' ( पतितकुसुमं ) के समासस्थ पदों को विभक्ति सहित पृथक् कर दिया गया है। सुतोऽवकाश में 'एष ते विषमविपाकः' लिखना अवश्य पाठभेद का सूचक है। अतः ऊगता है लोचनकार के समक्ष प्राकृत गाथा का स्वरूप यह था—

उच्चिणसु पडिअकुसुमं मा धुण सेहालिअं हलिअसुण्हे ।

अह दे विसमविवाओ ससुरेण सुओ वलयसहो ॥

अर्थात् हे हलिक कौ पुत्रवधु ! गिरे फूल को चुन ले, शोफालिका ( हर-सिगार ) को हिला मत ( झकझोर मत ) यह विषमपरिणाम वाला तेरा वलय-शब्द ससुर ने सुन लिया है अथवा अब ( अह = अथ ) तेरे उस कंकण शब्द को ससुर ने सुन लिया है जिसका परिणाम भयानक होगा ।

गाथासप्तशती की अतिरिक्त गाथाओं में उपलब्ध पाठ के अनुसार प्राकृत गाथा की संस्कृतच्छाया यह होगी :—

उच्चिनु पतितकुसुमं मा धुनीहि शोफालिकां हलिकस्तुषे ।

एषोऽवसानविरसः स्वसुरेण श्रुतो वलयशब्दः ॥

पाठान्तरयुक्त उत्तरार्ध का अर्थ यह होगा :—

अन्त में विरस हो जाने वाला तेरा यह कंकण-शब्द ससुर ने सुन लिया है ।

इस प्रकार प्रस्तुत गाथा के तीन पाठ उपलब्ध हैं ।

७९—मा पन्ध ! रंधसु पहमवेहि बालअ ! असेसिअहिरोअ ! ।

अम्हे अणिरिवकाओ सुण्णं घरअं व अक्कमसि ॥९५५॥

मा पन्थानं रुधः अपेहि बालक अप्रोठ अहो असि अह्ठीकः ।

वयं परतन्त्रा यतः शून्यगृहं मामकं रक्षणीयं वर्तते ॥

“राह मत रोक, अपनी राह ले, बालक ! निर्लज्ज ! हम अकेली हैं, सुने घर में चला जा रहा है ।”

इसकी संस्कृतच्छाया आँख मूँदकर ध्वन्यालोकलोचन से उद्धृत की गई है । अनुवादक ने यह भी नहीं देखा कि गाथा का पाठ क्या है और हम उसकी छाया क्या दे रहे हैं । प्रस्तुत गाथा ध्वन्यालोक में पाठभेद से इस प्रकार समुदाहृत है :—

मा पंधं रुन्धीओ अवेहि बालअ अहोसि अहिरोओ ।

अम्हेअ णिरिच्छाओ सुण्णघरं रक्खदव्वं णो ॥

लोचनकार ने इसका संक्षिप्तार्थ इन शब्दों में दिया है :—

‘मा पन्थानं रुधः अपेहि बालक अप्रौढ अहो असि अह्नीकः ।

वयं परतन्त्रा यतः शून्यं गृहं मामकं रक्षणाय वर्तते ॥

इस प्रामाणिक संक्षिप्तार्थ को भ्रमवश संस्कृतच्छाया समझने के कारण परवर्ती व्याख्याकारों ने ध्वन्यालोक की ऊपर उद्धृत गाथा की भ्रामक एवं अशुद्ध व्याख्या की है। आचार्य विश्वेश्वर ने भी अन्धपरम्परा का ही अनुसरण किया है। कविशेखर बदरीनाथ शर्मा ने अवश्य दीधिति टीका में परम्परा से हटकर गिरिच्छाओ ( निरिच्छाः ) का वास्तविक अर्थ इस प्रकार दिया है:-

“ वयं निरिच्छाः सर्वथास्पृहाशून्याः पराधीना वा स्मः । ”

परन्तु ‘पराधीना वा स्मः’ लिखकर मूलपाठ विरोधी अर्थ को भी मान्यता दे दी है। यही नहीं, हिन्दीमें मूल विरोधी एवं परम्परापोषित अर्थ ही दिया है।

ध्वन्यालोक के सभी संस्करणों में ‘अम्हेअ गिरिच्छाओ’ की संस्कृतच्छाया ‘वयं निरिच्छाः’ दी गई है, किन्तु उसके वास्तविक अर्थ-निरूपण की दृढ़ता किसी व्याख्याकार ने नहीं दिखाई। सबने लोचन को प्रमाण मानकर ‘निरिच्छ’ का अर्थ ‘परतन्त्र’ दिया है। किसी ने यह भी नहीं सोचा कि ‘निरिच्छ’ तो इच्छा शून्य का वाचक है, इस शब्द का अर्थ ‘परतन्त्र’ कैसे होगा ?

इसी सन्दर्भ में एक और तथ्य पर ध्यान देना आवश्यक है, ध्वन्यालोक के समस्त व्याख्याकार ‘अम्हेअ’ के अन्तिम ‘अ’ की निरन्तर उपेक्षा करते आये हैं। ‘गिरिच्छाओ’ की संस्कृतच्छाया ‘निरिच्छाः’ करना तो उचित है, परन्तु अम्हेअ का अर्थ ‘वयं’ ( हम ) कैसे हो जायेगा ? प्राकृत में ‘वयं’ के लिये मात्र अम्हे का प्रयोग होता है, अम्हेअ का नहीं। अतः ‘अम्हेअ गिरिच्छाओ’ को ‘अम्हे अ गिरिच्छाओ’ पढ़ना होगा। उसकी छाया होगी :—वयं च निरिच्छाः ।

अब प्रश्न यह है कि यदि गिरिच्छाओ (निरिच्छाः) का अर्थ ‘इच्छा शून्य’ है तो लोचन जैसी परम प्रामाणिक टीका में उसका अर्थ ‘परतन्त्र’ कैसे लिखा दिया गया ? लोचनकार आचार्य अभिनवगुप्त उद्भट विद्वान् थे। वे इस साधारण शब्द का अर्थ न समझ पायें हो—ऐसी बात नहीं है। निःसन्देह उनके समक्ष ध्वन्यालोक की जो हस्तलिखित प्रति थी उसमें ‘गिरिच्छाओ’ के स्थान पर कुछ और ही शब्द था। उस शब्द की सूचना गाथासप्तशती की अतिरिक्त गाथाओं में पाठ भेद से संगृहीत इस गाथा से मिलती है :—

मा पन्थ रुन्धसु पहमवेहि बालअ ! असेसिअ हिरीअ ।

अम्हे अगिरिक्काओ सुणं घरअं व अवकमसि ॥

१—अप्रौढ, यतः, मामकं और वर्तते का अतिरिक्त निक्षेप, तथा अहो असि के रूप में अहोसि के संश्लिष्ट पदों का विश्लेषण एवं शून्यगृहं के समस्त पदों का सविभक्ति पृथक्करण इसे गाथा का संक्षिप्तार्थ घोषित करते हैं।

इस पाठान्तर में 'अम्हेअ णिरिच्छाओ' के स्थान पर 'अम्हे अणिरिक्काओ' मिलता है। इससे 'अम्हेअ' शब्द की आर्थिक अनुपपत्ति का निवारण हो जाता है। उसका अतिरिक्त अन्त्य अकार 'अणिरिक्काओ' का प्रारम्भिक अवयव बन जाता है। 'पाइअसद्दमहण्णव' के अनुसार 'अणिरिक्क' का अर्थ 'परतन्त्र' है। इस अर्थ की पुष्टि में कोशकार ने इसी गाथा को और इसके काव्य प्रकाशीय पाठ को इंगित किया है। इसके विपरीत हेमचन्द्रकृत देशीनाममाला में 'अणरिक्क' शब्द संगृहीत है। वहाँ 'अणरिक्क' शब्द है ही नहीं। अब विचारणीय यह है कि अणरिक्क और अणिरिक्क—दोनों पृथक-पृथक शब्द हैं या अणरिक्क ही बर्तनी भेद से अणिरिक्क लिख लिया गया है। प्राकृत में अण (संस्कृत अन्) का रूप 'अणि' भी उपलब्ध है। 'ऋण' शब्द का प्राकृत रूप 'रिण' है। उसमें नवसमास होने पर (अण + रिण की दशा में) 'अणिरिण' शब्द बनता है। लगता है, अणिरिक्क भी अणरिक्क का ही पाठान्तर है। देशीनाममाला में इसका अर्थ इस प्रकार दिया गया है :—

“खणम्मि अवरिक्क-अणरिक्का”

×

×

×

“अवरिक्को तथा अणरिक्को क्षणरहितः । निरवसर इति यावत् ।” ॥१।२०॥

अर्थात् अवरिक्क और अणरिक्क का अर्थ है—निरवसर । लोचन टीका में ध्वन्यालोक की उपयुक्त गाथा का संक्षिप्तार्थ मात्र संकेतित है। उसकी विस्तृत व्याख्या नहीं की गई है। अतः वहाँ 'वयं परतन्त्रताः' में शब्दार्थ का नहीं; अपितु भावार्थ की दिशा का मनाक् स्पर्श किया गया है। हेमचन्द्र ने 'अणरिक्क' का अर्थ 'निरवसर' लिखा है। यह गाथा के प्रकरण के सर्वथा अनुकूल है। इस प्रकार इस गाथा के निम्नलिखित तीन पाठ मिलते हैं—

१—ध्वन्यालोक स्वीकृत

२—लोचनकार स्वीकृत

३—गाथासप्तशती की अतिरिक्त गाथाओं में स्वीकृत इन तीनों पाठों की संस्कृतच्छायाएँ और अर्थ इस प्रकार होंगे :—

ध्वन्यालोक सम्मत पाठ की संस्कृतच्छाया और उमका अर्थ—

मा पन्थानं रौत्सीः ( रुधः वा ) ओ (अरे) अपेह

बालक !अहो अस्यह्योः ।

वयं च निरिच्छाः शून्यगृहं रक्षितव्यं नः ॥

अर्थ—अरे बालक ( बुद्धिहीन ) मार्ग मत रोक, अहो, बड़ा ही निलज्ज है तू, हट जा, हमें सुने घर की रक्षवालो करनी पड़ती है और हमारी इच्छा ( उस काम को करने की ) नहीं है ।



भाव यह है कि अकेले सूने घर की रक्षा में मेरा मन नहीं लगता, तू वहाँ चलेगा तो मैं ऊबूँगी नहीं और एकान्त में तेरी इच्छा भी पूर्ण हो जायेगी।

छोचनकार सम्मत पाठ की संस्कृतच्छाया और उसका अर्थ—

मा पन्थानं रुधः ओ ( अरे ) अपेहि बालक अहो अस्यह्रीकः ।

वयमनवसराः ( परतन्त्रा ) शून्यगृहं रक्षितव्यं नः ॥

अर्थ—अरे अप्रोढ ( बुद्धिहीन ) मार्ग मत रोक, अहो, बड़ा ही निर्लज्ज है तू, हट जा, ( कर्तव्यपालन में परतन्त्र होने के कारण ) हमें अवसर ( फुसत ) ही नहीं है क्योंकि ( हमें ) सूने घर की रखवाली करनी पड़ती है।

आशय यह है कि मार्ग में क्यों छोड़ रहा है ? चल, मेरा घर सूना है, वहीं तेरी इच्छा पूरी कर दूँगी।

अणरिक्क को अरिक्त ( अण + रिक्क = रिक्त ) के अर्थ में भी ले सकते हैं। तब गाथा के उत्तरार्ध का अर्थ इस प्रकार होगा—हम रिक्त ( खाली ) नहीं है ( हमें फुसत नहीं है ) क्योंकि हमें सूने घर की रक्षा करनी पड़ती है। गाथासप्तशती की अतिरिक्त गाथासंग्रह में स्वीकृत पाठ की संस्कृतच्छाया और उसका अर्थ :—

मा पान्थ ! रुन्द्धि पथमपेहि बालक ! अशेषित ह्रीकः ।

वयमनवसराः शून्यं गृहकमेवाक्रमसि ॥

अर्थ—अरे लज्जा को पूर्णतः नष्ट कर देने वाले ( निर्लज्ज ) बुद्धिहीन पथिक ! हट जा। मेरे सूने घर में ही घुसा चला आ रहा है, हमें ( तेरे आतिथ्य का ) अवसर ( फुसत ) ही नहीं है।

यहाँ आगमन के निषेध में विधि छिपी है। 'अवसर नहीं है।' से यह ध्वनि निकलती है कि सूने घर में आतिथ्य का पर्याप्त अवसर मिलेगा।

## ८०—पुष्पभरो णमिअभूमिगअसाहंरुण (?) विण्णवणं ।

गोलाअडविअडकुड्डंगमहुअ...

॥ ९५८ ॥

यह गाथा खंडित पाई गई है। अनुवादक ने इसका अनुवाद नहीं किया है। अपूर्ण कहकर इसे छोड़ दिया है।

यह गाथा गाथासप्तशती में निम्नलिखित पाठभेद से संगृहीत है :—

बहु पुष्पभरो णमिअभूमिगअसाह ! सुणसु विण्णत्ति ।

गोलाअडविअडकुड्डंग महुअ ! सणिअं गलिज्जासु ॥

अतः पूर्वोद्धृत गाथा का खंडित भाग स्वतः पूर्ण हो जाता है। पूर्वार्ध में द्वितीयपाद का पाठ विकृत होने के कारण अर्थ स्पष्ट नहीं है। मेरे विचार से सम्पूर्ण गाथा का निम्नलिखित पाठ करने पर भाव स्पष्ट हो जायेगा—

पुष्पभरोणमिअभूमिगअसाहंत ! उण्णविण्णवण ! ।  
गोलाअडविअडकुड्ङंगमहुअ ! सणिअं गलिज्जासु ॥

संस्कृतच्छाया—

पुष्पभरावनतभूमिगतशाखान्त ! पुण्यविज्ञपन ! ।  
गोदातटविकटनिकुञ्जमधूक ! शनैर्गलिष्यसि ॥

अर्थ—हे गोदावरी-तट के विकट निकुंज के मधूक ( महुआ ) वृक्ष ! हे पुण्यविज्ञपन ! ( पुण्य का विज्ञापन या प्रकाशन करने वाले ) तुम्हारी शाखाओं का अग्रभाग पुष्प के भार से अवनत होकर भूमि पर पहुँच गया है, तुम धीरे-धीरे चूना ( टपकना ) ।

इसमें किसी कुलटा का वर्णन है। जब तक महुआ टपकेगा तभी तक वह उसी के व्याज से अपने प्रेमी से मिल सकेगी ।

८१. गृहिणिप्रवेशितजारे गृहे गृहे ( गृहिणी ? ) स्थापिता ।

मिलिता वदति(असती?)जारउ पश्चात् गृहिणी गृहस्थश्च ॥९५९॥

इस पर निम्नलिखित टिप्पणी है :—

“गाथा अपूर्ण एवं अशुद्ध है ।”

प्रस्तुत गाथा का लगभग सम्पूर्ण भाग ( जारउ को छोड़ कर ) संस्कृत में है। छन्द की दृष्टि से बाँझित मात्राओं में भी न्यूनता है। लगता है, यह किसी लुप्त प्राकृत गाथा की विकृत संस्कृतच्छाया है। अतः सर्वप्रथम संस्कृत पाठ के आधार पर इसका प्राकृत पाठ देना है। उसके पश्चात् ही अर्थनिरूपण होगा। गाथा का प्राकृत पाठ यह होगा :—

घरिणिपवेशिअजारे घरम्मि घरम्मि हु ठाविआ घरिणि ।

मिलिआ वअति असईजारे घरणि गृहत्थं अ ॥

इस निर्धारित प्राकृत-पाठ में उपलब्ध संस्कृत पाठ में विद्यमान 'पश्चात्' शब्द छन्द के अनुरोध से छोड़ दिया गया है और अविद्यमान 'हु' का निवेश कर दिया गया है ।

'पश्चात्' अर्थ की दिशा का संकेत करने के कारण टीका का अंश प्रतीत होता है ।

गाथा का भावार्थ यह है :—

किसी सम्पन्न विलासी और बाह्यकार्यानुषक्त गृहस्थ की पत्नी घर में जार ( उपपति ) को छिपाकर रखती थी। गृहस्थ ने सोचा, यदि प्रत्येक घर (कमरे) में एक-एक गृहिणी ( पत्नी ) और लाकर रख दें तो जार को छिपाने का स्थान नहीं मिलेगा और वह भाग जायेगा। उसने ठीक वैसा ही किया। प्रत्येक कक्ष

में एक-एक पत्नी और लाकर रख दो। वे सब नवरागत पत्नियाँ मिलकर पहले से विद्यमान जार और अपनी सौत ( पूर्व पत्नी ) को गृहस्थ और गृहिणी ( पति और पत्नी ) कहगे लगीं। उन्होंने यह नहीं समझा कि यह स्त्री हमारा सौत है और उसके साथ रहने वाला पुरुष उसका उपपति है। इस प्रकार उन्होंने दोनों के अवैध सम्बन्ध को वैधता प्रदान कर दी।

८२. होमि वहत्थिअरेहो णिरंकुसो अह विवेअरहिओ वि ।

सिविणे वि तुमम्मि पुणो पत्तिहि भत्ति ण सुमिरामि ॥९९३॥

भवाम्यपहस्तितरेखो निरङ्कुशोऽथ विवेकरहितोऽपि ।

स्वप्नेऽपि त्वयि पुनः प्रतीहि भक्ति न प्रमोक्ष्यामि ॥

“हे राजन् ! मैंने मर्यादा छोड़ दी है, मैं निरंकुश और विवेकरहित भी हूँ, फिर भी तुम विश्वास करो, स्वप्न में भी तुम्हारे प्रति भक्ति नहीं छोड़ूँगा।”

‘भक्ति ण सुमिरामि’ की संस्कृतच्छाया ‘भक्ति न प्रमोक्ष्यामि’ कैसे हो जायेगी ? ‘सुमिरामि’ की संस्कृतच्छाया तो ‘स्मरामि’ है। वह मोक्षण का अर्थ दे ही नहीं सकती। मूल प्राकृत की वर्तमानकालिक क्रिया संस्कृत रूपान्तर में भविष्यकालिक नहीं हो जाती।

काव्यप्रकाश में उदाहृत इस गाथा का चतुर्थपाद इस प्रकार है : =

पत्तिहि भत्ति ण पसुमिरामि ।

परन्तु इस अंश की संस्कृतच्छाया यह दो गई है :—

प्रतीहि भक्ति न प्रस्मरामि ।

और अर्थ दिया गया है :—

“विश्वास कीजिये कि मैं आपकी भक्ति को कदापि न भूलूँगा।”

यह अनुवाद भ्रामक है। ‘न प्रस्मरामि’ का अर्थ ‘न भूलूँगा’ नहीं होता, उसका अर्थ है :—विशेषरूप से स्मरण नहीं करता हूँ।

वस्तुतः उक्त संस्कृतच्छाया अशुद्ध है। ‘भत्ति ण पसुमिरामि’ का संस्कृत-रूपान्तर भक्ति नापस्मरामि ( न अप + स्मरामि ) होगा। प्राकृत में पूर्ववर्ती ‘ण’ के अन्त्य अकार का लोप होने और ‘अपसुमिरामि’ आद्य ‘अ’ के उस स्थान पर ‘आ’ जाने से ‘णपसुमिरामि’ हो जायेगा। गाथा के ऊपर उद्धृत पाठान्तर में ‘होमि वहत्थि अरेहो’ का प्रयोग है। वहाँ होमि का अनन्तरवर्ती अव ( अप ) का आद्य अकार लुप्त हो गया है।

गाथा के चतुर्थ पाद का अर्थ यह है :—

विश्वास रखिये, भक्ति को नहीं भूलता हूँ।

## प्रथमं शतकम्

पसुवइणो रोसारुणपडिमासंकंतगोरिमुहअन्दं ।  
गहिअग्घपंकअं विअ संज्ञासलिलञ्जलिं णमह ॥१॥

[ पशुपते रोषारुणप्रतिमासंक्रान्तगौरीमुखचन्द्रम् ।  
गृहीतार्घपङ्कजमिव संध्यासलिलाञ्जलिं नमत ॥ ]

भगवान् शिव की उस सन्ध्या-सलिलाञ्जलि को नमस्कार कीजिये, जिसमें प्रतिबिम्बित होने पर गौरी का रोषारुण मुखचन्द्र अर्घ्य-पद्म-सा प्रतीत होने लगता है ॥ १ ॥

अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति ।  
कामस्स तत्तन्ति कुणन्ति ते कहँ ण लज्जन्ति ॥२॥

[ अमृतं प्राकृतकाव्यं पठितुं श्रोतुं च ये न जानन्ति ।  
कामस्य तत्त्वचिन्तां कुर्वन्तस्ते कथं न लज्जन्ते ॥ ]

जो प्राकृत भाषा के अमृतमय काव्यों को पढ़ना-सुनना नहीं जानते, वे काम-शास्त्र की चिन्ता करते हुए लज्जित क्यों नहीं होते ? ॥ २ ॥

सत्त सताइं कइवच्छलेण कोडीअ मज्झआरम्मि ।  
हालेण विरइआइं सालङ्काराणँ गाहाणं ॥३॥

[ सप्तशतानि कविवत्सलेन कोटेर्मध्ये ।  
हालेन विरचितानि सालङ्काराणां गाथानाम् ॥ ]

कविवत्सल हाल ने कोटि गाथाओं से सात सौ अलंकृत गाथायें चुन कर इस ग्रंथ को बनाया है ॥ ३ ॥

उअ णिच्चलणिप्पन्दा भिसिणीपत्तम्मि रहइ बलाआ ।  
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्टिआ संखमुत्ति व्व ॥४॥

[ पश्य निश्चलनिःस्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका ।  
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थितता शङ्खशुक्तिरिव ॥ ]

देखो, वह बलाका कमलपत्र पर निश्चल एवं निस्पन्द होकर यों बैठी है जैसे नीलम के स्वच्छ पात्र पर शंख-शुक्ति रख दी गई हो ॥ ४ ॥

तावच्चिअ रइसमए महिलाणं बिभ्रमा विराअन्ति ।

जाव ण कुवलयदलसेच्छआई मउलेन्ति णअणाई ॥५॥

[ तावदेव रतिसमये महिलानां विभ्रमा विराजन्ते ।

यावन्न कुवलयदलसच्छायानि मुकुलीभवन्ति नयनानि ॥ ]

रति के समय तभी तक महिलाओं के विभ्रम शोभित होते हैं, जब तक कुवलयदल के सदृश कान्ति वाले उनके नेत्र मुकुलित नहीं हो जाते ॥ ५ ॥

णोहलिअमप्पणो कि ण मग्गसे मग्गसे कुरबअस्स ।

एअं तुह सुहग हसइ वलिआणणपंकअं जाआ ॥६॥

[ दोहदमात्मनः किं न मृगयसे मृगयसे कुरबकस्य ।

एवं तव सुभग हसति वलिताननपङ्कजं जाया ॥ ]

अरे तुम अपना दोहद क्यों नहीं खोजते हो ? कुरबक का दोहद (फलोद्गम) खोजते हो। इस प्रकार तुम्हारी जाया कमलरूपी मुँह फिरा कर हँस रही है ॥ ६ ॥

तावज्जन्ति असोएहिँ लडहवणिआओँ दइअविरहम्मि ।

किं सहइ कोवि कस्स वि पाअपहारं पट्टुप्पन्तो ॥७॥

[ ताप्यन्ते अशोकैर्विदग्धवनिता दयितविरहे ।

किं सहते कोऽपि कस्यापि पादप्रहारं प्रभवन् ॥ ]

प्रिय की विरह बेला में विदग्ध वनिताओं को अशोक भी संतप्त कर डालता है। अपना वश चलने पर कौन किसके पैरों की मार चुपचाप सह लेगा ? ॥७॥

अत्ता तह रमणिज्जं अहां गामस्स मण्डणीहूअं ।

लुअतिलवाडिसरिच्छं सिसिरेण कअं भिसिणिसण्डं ॥८॥

[ श्वश्रु तथा रमणीयमस्माकं ग्रामस्य मण्डनीभूतम् ।

लूनतिलवाटीसदृशं शिशिरेण कृतं बिसिनीषण्डम् ॥ ]

आर्ये ! हमारे गाँव को अलङ्कृत करने वाले उस रमणीय कमल वन को लुषार ने कटे हुये तिल के खेत सा बना डाला है ॥ ८ ॥

किं रुअसि ओणअमुही धवलाअन्तेसु सालिछित्तेसु ।

हरिआलमण्डिअमुही णडि व्व सणवाडिआ जाआ ॥९॥

[ किं रोदिष्यवनतमुखी धवलायमानेषु शालिक्षेत्रेषु ।  
हरितालमण्डितमुखी नटीव शणवाटिका जाता ॥ ]

आर्ये ! शालि क्षेत्रों के पक जाने पर मुँह झुकाये रो क्यों रही हो ?  
हरिताल से लिपन मुख वाली नटी के समान यह सन की वाटिका तो प्रस्तुत  
ही है ॥ ९ ॥

सहि ईरिसिन्धिव गई मा रुवसु तंसवलिसमुहअन्द ।

एआणं बालवालुङ्कितन्तुकुडिलाणं पेम्माणं ॥१०॥

[ सखि ईदृश्येव गतिर्मा रोदोस्तिर्यग्वलितमुखचन्द्रम् ।  
एतेषां बालकर्कटीतन्तुकुटिलानां प्रेम्णाम् ॥ ]

सखी ! अपना चन्द्र सा मनोहर मुख फेर कर रूदन मत करो, ककड़ी  
के क्षीण तन्तुओं की भाँति कुटिल प्रणय की ऐसी ही सुकुमार गति होती  
है ॥ १० ॥

पाअपडिअस्स पइणो पुट्ठि पुत्ते समारुहत्तम्मि ।

दढमण्णुदुण्णिआएँ वि हासो धरिणीएँ णेवकन्तो ॥११॥

[ पादपतितस्य पत्युः पृष्ठं पुत्रे समारुहति ।  
दृढमन्युद्वनाया अपि हासो गृहिण्या निष्क्रान्तः ॥ ]

चरणों पर गिरे हुए पति की पीठ पर जब पुत्र चढ़ गया, तो दृढ़ कोप से  
तमतमाती हुई नायिका के अश्रुओं पर भी हँसी आ गई ॥ ११ ॥

सच्चं जाणइ दट्ठुं सरिसम्मि जणम्मि जुज्जए राओ ।

मरउ ण तुमं भणिस्सं मरणं वि सलाहणिज्जं से ॥१२॥

[ सत्यं जानाति द्रष्टुं सदृशे जने युज्यते रागः ।

म्रियतां न त्वां भणिष्यामि मरणमपि श्लाघनीयं तस्याः ॥ ]

वह सत्य को देखना जानती है । सहृदय व्यक्ति पर अनुरक्त होना उचित  
ही है । मर रही है तो मरे । मैं तुम से कुछ कह नहीं सकती क्योंकि उसका  
मर जाना भी श्लाघ्य है ॥ १२ ॥

धरणीएँ महाणसकम्मलग्गमसिमलिइएण हत्थेण ।

छित्तं मुहं हसिज्जइ चन्दावत्थं गअं पइणा ॥१३॥

[ गृहिण्या महानसकर्मलग्नमषीमलिनितेन हस्तेन ।

स्पृष्टं मुखं हस्यते चन्द्रावस्थां गतं पत्या ॥ ]

रसोई बनाते समय कालिख-लगा हुआ हाथ छू जाने से बेचारी गृहिणी के मुख की दशा चन्द्रमा जैसी हो गई। यह देख कर उसके पति को हँसी आ गई ॥ १३ ॥

**रन्धणकम्मणिउणिए मा जूरसु, रत्तपाडलसुअन्धं ।  
मुहमारुअं पिअन्तो धूमाइ सिहो ण पज्जलइ ॥१४॥**

[ रन्धकर्मनिपुणिके मा क्रुध्यस्व रक्तापाटलसुगन्धम् ।  
मुखमारुतं पिबन्धूमायते शिखी न प्रज्वलति ॥ ]

अरी रसोई बनाने वाली ! यदि बार-बार फूँकने पर भी धुआँ देकर अग्नि नहीं जल रहा है, तो तुम उस पर कोप मत करो। क्योंकि यदि वह शीघ्र जल जायेगा, तो उसे रक्तपाटल सा सुगन्धित तुम्हारा मुख-मारुत पीने को कहाँ मिलेगा ? ॥ १४ ॥

**किं किं दे पडिहासइ सहीहिं इअ पुच्छिआएँ मुद्धाए ।  
पढमुगअदोहणीएँ णवरं दइअं गआ दिट्ठी ॥१५॥**

[ किं किं ते प्रतिभासते सखीभिरिति पृष्टाया मुग्धायाः ।  
प्रथमोद्गतदोहदिन्याः केवलं दयितं गता दृष्टिः ॥ ]

प्रथम बार गर्भ धारण करने वाली मुग्धा से उसकी सहेलियों ने पूँछा—  
“तुम्हारी क्या इच्छा है” तो उसकी दृष्टि केवल पति की ओर दौड़ गई ॥ १५ ॥

**अमअमअ गुअणसेहर रअणीमुहतिलअ चन्द दे छिवसु ।  
छित्तो जोहिं पिअअमो ममं पि तेहिं विअ करेहिं ॥१६॥**

[ अमृतमय गगनशेखर रजनीमुखतिलक चन्द्र हे स्पृश ।  
स्पृष्टो यैः प्रियतमो मामपि तैरेव करैः ॥ ]

हे रजनी के मुखतिलक ! गगन शेखर चन्द्र ! तुम अमृतमय हो। मेरा स्पर्श अपने उन्हीं करो ( किरणों ) से करना, जिनसे मेरे प्रियतम का स्पर्श किया है ॥ १६ ॥

**एहिइ सो वि पउत्थो अहं अ कुपेज्ज सो वि अणुणेज्ज ।  
इअ कस्स वि फलइ मणोरहाणं माला पिअअमम्मि ॥१७॥**

[ एष्यति सोऽपि प्रोषितोऽहं च कुपिष्यामि सोऽप्यनुनेष्यति ।  
इति कस्या अपि फलति मनोरथानां माला प्रियतमे ॥ ]

“जब प्रवामी लौट कर आयेंगे तो मैं रूठ जाऊँगी और वे मुझे मनायेंगे ।”  
प्रियतम के विषय में किसी की ही ऐसी मधुर कल्पनायें सत्य हुआ करती  
हैं ॥ १७ ॥

**दुर्गभकुटुम्बअट्टी कहँ णु मए धोइएण सोढव्वा ।  
दसिओसरन्तसलिलेण उअह रुण्णं व पइएण ॥१८॥**

[ दुर्गतकुटुम्बाकृष्टिः कथं नु मया धीतेन सोढव्या ।  
दशापसरत्सलिलेन पश्यत रुदितमिव पटकेन ॥ ]

देख लो ! धुल जाने पर दरिद्र कुटुम्ब की खींचा तानी मैं कैसे सह पाऊँगा—  
यह सोच कर मानों वस्त्र किनारों से चूते हुए जल के व्याज से रो पड़ा  
है ॥ १८ ॥

**कोसँम्बकिसलअवणअ—तण्णअ उण्णामिएहिँ कण्णेहिँ ।  
हिअअट्टिअं घरं वचचमाण धवलत्तणं पाव ॥१९॥**

[ कोशाम्बकिसलयवर्णक-तर्णक उन्नामिताभ्यां कर्णाभ्याम् ।  
हृदयस्थितं गृहं ब्रजन्धवलत्वं प्राप्नुहि ॥ ]

हे वत्स ! ( बछड़ा ) तुम्हारा वर्ण नूतन आम्र पल्लव के तुल्य है । मन  
चाहे घर में दोनों कान उठाये चले जा रहे हो, श्रेष्ठ बैल बन जाओ ( उजले  
बन जाओ ) ॥ १९ ॥

**अलिअपसुत्तअ विणिमीलिअच्छ दे सुहअ मज्झ ओआसं ।  
गण्डपरिउम्बणापुलइअङ्ग ण पुणो चिराइस्सं ॥२०॥**

[ अलोकप्रसुप्तक विनिमीलिताक्ष हे सुगभ ममावकाशम् ।  
गण्डपरिचुम्बनापुलकिताङ्ग न पुनश्चिरयिष्यामि ॥ ]

कपोल का चुम्बन करते ही तुम्हारे अंग पुलकित हो गये हैं । तुमने सोने  
का बहाना कर अपने नेत्र बन्द कर लिये हैं । प्राणेश ! मुझे लेटने दो, अब फिर  
कभी देर न होगी ॥ २० ॥

**असमत्तमण्डणा विअ वचच घरं से सकोउहल्लस्स ।  
बोलाविअहलहलअस्स पुत्ति चित्ते ण लग्गिहिस्सि ॥२१॥**

[ असमाप्तमण्डनैव ब्रज गृहं तस्य सकौतूहलस्य ।  
व्यतिक्रान्तौत्सुक्यस्य पुत्रि चित्ते न लगिष्यसि ॥ ]



बेटी ! तुम्हारा श्रृंगार अपूर्ण है तो भी उत्कंठित प्रेमी के पास चला जाओ,  
अन्यथा उत्कंठा शिथिल हो जाने पर तुम उसे प्रिय न लगोगी ॥ २१ ॥

**आअरपणामिओट्टुं अघडिअणासं असंहअणिडालं ।  
वण्णघिअतुप्पमुहिए तीए परिउम्बणं भरिमो ॥२२॥**

[ आदरप्रणामितौष्ठमघटितनासमसंहतललाटम् ।

वर्णघृतलिप्तमुख्यास्तस्याः परिचुम्बनं-स्मरामः ॥ ]

हरिद्रामिश्रित घृतसे लिप्त मुखवाली प्रिया ने आदर से अपना ओष्ठ स्वयं  
झुका दिया था, नासिका और ललाट को संयुक्त न करते हुए तब उसका जो  
चुम्बन किया था उसका स्मरण करता हूँ ॥ २२ ॥

**अण्णासआइँ देन्ती तह सुरए हरिसविअसिअकवोला ।  
गोसे वि ओणअमुही अह सेत्ति पिआं ण सद्दहिमो ॥२३॥**

[ आज्ञाशतानि ददती तथा सुरते हर्षविकसितकपोला ।

प्रातरप्यवनतमुखी इयं सेति प्रियां न श्रद्दध्मः ॥ ]

रति के समय प्रफुल्ल मुख से जो सँकड़ों सुझाव देती थी उसी नतवदना  
प्राणेश्वरी को प्रातःकाल लाज में गड़ी हुई देखकर विश्वास नहीं होता कि वह  
वही है ॥ २३ ॥

**पिअविरहो अप्पिअदंसणं अ गरुआइँ दो वि दुक्खाइं ।  
जीएँ तुमं कारिज्जसि तीएँ णमो आहि जाईएँ ॥२४॥**

[ प्रियविरहोऽप्रियदर्शनं च गुरुके द्वे अपि दुःखे ।

यया त्वं कार्यसे तस्यै नम आभिजात्यै ॥ ]

प्रिय का वियोग और अप्रिय का दर्शन—ये संसार के दो बड़े दुःख जिसके  
कारण मुझे भोगने पड़ते हैं, मैं तुम्हारी उस कुलीनता को नमस्कार करती  
हूँ ॥ २४ ॥

**एवको वि कह्णसारो ण देइ गन्तुं पआहिणवलन्तो ।  
किं उण बाहाउलिअं लोअणजुअलं पिअअमाए ॥२५॥**

[ एकोऽपि कृष्णसारो न ददाति गन्तुं प्रदक्षिणं वलन् ।

किं पुनर्बाष्पाकुलितं लोचनयुगलं प्रियतमायाः ॥ ]

मार्ग में दायीं ओर से बायीं ओर जाता हुआ कृष्णसार (मृगविशेष) अकेला होने पर भी जाने नहीं देता है तो फिर बाधाओं से भरे हुए ( श्लेष से-आसुओं से भरे हुए ) प्रियतमा के दो-दो नेत्र [ जो कृष्णसार ही नहीं हैं, अपितु कृष्ण ( काले ) और शार ( विविध रंगों वाले ) भी हैं । ] कैसे जाने देंगे ? ॥ २५ ॥

**ण कुणन्तो विवअ माणं णिसासु सुहसुत्तदरविबुद्धाणं ।**

**सुण्णइअपासपरिमूसणवेअणं जइ सि जाणन्तो ॥२६॥**

[ नाकरिष्य एव मानं निशासु सुखसुप्तदरविबुद्धानाम् ।

शून्यीकृतपार्श्वपरिमोषणवेदनां यद्यज्ञास्यः ॥ ]

रात्रि में सुख से सोते समय किंचित् नींद टूटने पर पार्श्व में सोई हुई प्रेमिका का स्थान रिक्त जान कर अपनी बंचना पर जो वेदना होती है, यदि उसका लेशमात्र भी अनुभव होता तो तुम इस प्रकार कभी भी मान न करते ॥ २६ ॥

**पणअकुविआणं दोह्व वि अलिअपसुत्ताणं माणइल्लाणं ।**

**णिञ्चलणिइद्धणोसासदिण्णकण्णणं को मल्लो ॥२७॥**

[ प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतोः ।

निश्चलनिइद्धनिःश्वासदत्तकर्णयोः को मल्लः ॥ ]

आपस में रूठ कर निद्रा के व्याज से अपने श्वास निश्चल एवं निरुद्ध किये एक दूसरे की ओर कानलगा कर लेटे हुए दम्पति में कौन बड़ा है ? ॥ २७ ॥

**णवलअपहरं अङ्गे जेहिं जेहिं महइ देवरो दाउं ।**

**रोमञ्चदण्डराई ताहि तहि दीसइ बहए ॥२८॥**

[ तवलताप्रहारमङ्गे यत्र यत्रेच्छति देवरो दातुम् ।

रोमाञ्चदण्डराजिस्तत्र तत्र दृश्यते वध्वाः ॥ ]

चूतलतिका की क्रीड़ा में देवर जिस अंग पर लता का प्रहार करता है, वधू का वही अंग पुलकों से पूर्ण हो जाता है ॥ २८ ॥

**अज्ज मए तेण विणा अणुहअसुहाईं संभरन्तीए ।**

**अहिणवमेहाणं रवो णिसामिओ वज्झपडहो व्व ॥२९॥**

[ अद्य मया तेन विना अनुभूतसुखानि संस्मरन्त्या ।

अभिनवमेघानां रवो निशामितो वध्यपटह इव ॥ ]

आज उनके वियोग में पूर्वानुभूत सुखों का स्मरण करते हुए मैंने वच्य-पटह के समान अभिनव मेघों की गर्जना सुनी है ॥ २९ ॥

**णिविक्रव जाआभीरुअ दुद्दंसण णिम्बईडसारिच्छ ।  
गामो गामणिनन्दण तुज्ज कए तह वि तणुआइ ॥३०॥**

[ निष्कृप जायाभीरुक दुर्दर्शन निम्बकोटसदृक्ष ।  
ग्रामो ग्रामणीनन्दन तव कृते तथापि तनुकायते ॥ ]

जायाभीरु ! निर्दय !! अलम्यदर्शन !!! ग्रामणीनन्दन !!!! तुम नीम के कीड़े हो, फिर भी यह सारा गाँव तुम्हारे लिए कृश होता जा रहा है । ॥ ३० ॥

**पहरवणमग्गविसमे जाआ किच्छेण लहइ से णिद्दं ।  
गामणिउत्तस्स उरे पल्ली उण सा सुहं सुवई ॥३१॥**

[ प्रहारव्रणमार्गविषमे जाया कृच्छ्रेण लभते तस्य निद्राम् ।  
ग्रामणीपुत्रस्योरसि पल्ली पुनः सा सुखं स्वपिति ॥ ]

शस्त्रों के प्रहार से विषम, ग्रामणी-पुत्र की छाती पर उस की भार्या तो कठिनता से ही सो पाती है किन्तु एक प्रहर में समाप्त होने वाले जंगली मार्ग के कारण दुर्गम वह पल्ली सुख से सोती है ॥ ३१ ॥

**अह संभाविमग्गो सुहअ तुए जेव्व णवरँ णिव्वूहो ।  
एत्ति हिअए अण्णं अण्णं वाआइ लोअस्स ॥३२॥**

[ अयं संभावितमार्गः सुभग त्वयैव केवलं निर्व्यूढः ।  
इदानीं हृदयेऽन्यदन्यद्वाचि लोकस्य ॥ ]

लोगों के मन में कुछ रहता है और वाणी में कुछ और । सज्जनों की प्राचीन परम्परा का निर्वाह तो केवल तुम्हीं ने किया है, क्योंकि तुम्हारे मन में जो रहता है वही वाणी से व्यक्त भी करते हो ॥ ३२ ॥

**उत्ताइँ णीससन्तो किति मह परम्मुहीएँ सअणद्धे ।  
हिअअं पलीविअ वि अणुसएण पुट्ठि पलीवेसि ॥३३॥**

[ उष्णानि निःश्वसन्किमिति मम पराङ्मुख्याः शयनार्थे ।  
हृदयं प्रदोप्याप्यनुशयेन पृष्ठं प्रदोपयसि ॥ ]

तुम ने मेरे हृदय को पहले ही जला डाला था, आज आधी शैया पर पराङ्मुख होकर सो रही हूँ, तो गर्म श्वासों से मेरी पीठ को भी क्यों जला रहे हो ॥ ३३ ॥

तुह विरहे चिरआरअ तिस्सा णिवडन्तवाहमइलेण ।

रइरहसिहरधएण व मुहेण छाहि विवअ ण पत्ता ॥३४॥

[ तव विरहे चिरकारक तस्या निपतद्वाष्पमलिनेन ।  
रविरथशिखरध्वजेनेव मुखेन च्छायैव न प्राप्ता ॥ ]

हे देर करने वाले निर्मोही ! तुम्हारे वियोग में अविरल बहती हुई अश्रु-  
धारा से मलिन उस विरहिणी के मुख पर सूर्य के रथ की ध्वजा के समान  
छाया ( सौन्दर्य, परछाई ) ही नहीं है ॥ ३४ ॥

दिवरस्स असुद्धमणस्स कुलवहू णिअअकुड्डुलिहिआइं ।

दिवहं कहेइ रामाणुलग्गसोमिच्चिरिआइं ॥३५॥

[ देवरस्याशुद्धमनसः कूलवधूर्निजककुड्यलिखितानि ।  
दिवसं कथयति रामानुलग्नसोमित्रिचरितानि ॥ ]

कुलवधू देवर के मन का अपवित्र भाव समझकर दिन भर दीवार पर अंकित  
राम भक्त लक्ष्मण का चरित पढ़कर उसे सुनाया करती है ॥ ३५ ॥

चत्तरधरिणी पिअदंसणा अ तरुणी पउत्थपइआ अ ।

असई सअज्जिआ दुग्गआ अ ण हु खण्डिअं सीलं ॥३६॥

[ चत्वरगृहिणी प्रियदर्शना च तरुणी प्रोषितपतिका च ।  
असतीप्रतिवेशिनी दुर्गता च न खलु खण्डितं शीलम् ॥ ]

उसका घर चौराहे पर है । देखने से अत्यन्त सुन्दर और तरुणी है । पति  
परदेश में रहता है । पड़ोस में एक कुलटा रहती है । दरिद्रता के भार से दबी  
जा रही है, लेकिन शील पर घब्बा नहीं लगा है ॥ ३६ ॥

तालूरभमाउलखुडिअकेसरो गिरिणईएँ पूरेण ।

दरवुड्डउवुडुणिबुडुमहुअरो हीरइ कलम्बो ॥३७॥

[ जलावर्तभ्रमाकुलखण्डितकेसरो गिरिनद्याः पूरेण ।  
दरमग्नोन्मग्ननिमग्नमधुकरो ह्लियते कदम्बः ॥ ]

पहाड़ी नदी के प्रवाह में कदम्ब का वृक्ष बहता चला जा रहा है । यद्यपि  
उसका पराग-कोष आवर्तों के आघात से क्षीण हो चुका है तथापि उसमें लिपटे  
हुए लोभी भ्रमर पानी में कभी ऊपर आते हैं, कभी नीचे ॥ ३७ ॥

अहिआअमाणिणो दुग्गअस्स छाहिं पिअस्स रखन्ती ।  
णिअबन्धवाणं जूरइ धरिणी विह्वेण पत्ताणं ॥३८॥

[ आभिजात्यमानिनो दुर्गतस्य छायां पत्यू रक्षन्ती ।  
निजबान्धवेभ्यः क्रुध्यति गृहिणी विभवेनागच्छद्भ्यः ॥ ]

आभिजात्य का गर्व रखने वाले दरिद्र पति की मर्यादा की रक्षा करती हुई गृहिणी अपने यहाँ ठाट-बाट से आने वाले जाति-बान्धवों पर भी रुष्ट हो जाती है ॥ ३८ ॥

साहीणे वि पिअअमे पत्ते वि खणे ण मण्डओ अप्पा ।  
दुग्गअपउत्थवइअं सअज्झअं सण्ठन्वतीए ॥३९॥

[ स्वाधोनेपि प्रियतमे प्राप्तेपि क्षणे न मण्डित आत्मा ।  
दुर्गतप्रोषितपतिकां प्रतिवेशिनीं संस्थापयन्त्या ॥ ]

अपने प्रिय को वश में जान कर भी शीलवती नायिका ने उत्सव का दिन आने पर भी इसलिये श्रृंगार नहीं किया कि कदाचित् उसकी दरिद्रा प्रतिवेशिनी जिसका पति परदेश चला गया है—अधीर न हो जाय ॥ ३९ ॥

तुज्झ वसइ त्ति हिअअं इमेहिं विट्ठो तुमं ति अच्छीहिं ।  
तुह विरहे किसिआइं ति तीएँ अङ्गाइं वि पिआइं ॥४०॥

[ तव वसतिरिति हृदयमाभ्यां दृष्टस्त्वमित्यक्षिणी ।  
तव विरहे कृशितानोति तस्या अङ्गान्यपि प्रियाणि ॥ ]

वह अपने हृदय को इसलिये प्यार करती है कि उसमें तुम्हारा निवास है, आँखों को इसलिये प्यार करती है कि उन्होंने तुम्हारे दर्शन किये हैं और शरीर अंगों को भी इसलिए प्यार करती है कि वे तुम्हारे विरह में कृश हो गये हैं ॥ ४० ॥

सब्भावणेहभरिए रत्ते रज्जिज्जइ त्ति जुत्तमिणं ।  
अणहिअअे उण हिअअं जं दिज्जइ तं जणो हसइ ॥४१॥

[ सद्भावस्नेहभरिते रक्ते रज्यते इति युक्तमिदम् ।  
अन्यहृदये पुनर्हृदयं यद्दीयते तज्जनो हसति ॥ ]

स्नेह और सद्भावना पूर्ण एवं अनुरक्त व्यक्ति से प्रेम होना उचित है । जिसका मन अन्यत्र आसक्त हो चुका है, उससे प्रेम करने वाले का लोग उपहास करते हैं ॥ ४१ ॥

आरम्भन्तस्स ध्रुवं लच्छी मरणं वि होइ पुरिसस्स ।

तं मरणमणारम्भे वि होइ लच्छी उण ण होइ ॥४२॥

[ आरभमाणस्य ध्रुवं लक्ष्मीमरणं वा भवति पुरुषस्य ।

तन्मरणमनारम्भेऽपि भवति लक्ष्मीः पुनर्न भवति ॥ ]

जो किसी कार्य को आरम्भ कर देता है उसको या तो लक्ष्मी को ही प्राप्ति होती है या मृत्यु की । जो किसी कार्य को आरम्भ ही नहीं करता मृत्यु तो उसकी भी अवश्य ही होती है परन्तु लक्ष्मी कभी भी प्राप्त नहीं होती ॥ ४२ ॥

विरहाणलो सहिज्जइ आसाबन्धेण वल्लहजणस्स ।

एकगामप्रवासो माए मरणं विसेसेइ ॥४३॥

[ विरहानलः सह्यत आशाबन्धेन वल्लभजनस्य ।

एकग्रामप्रवासो मातर्मरणं विशेषयति ॥ ]

मिलन की आशा से प्रेमी का विरह ताप तो सहँ लिया जाता है, किन्तु माँ ! एक ही गाँव में रहकर प्रवासी सा व्यवहार तो मरण से भी बढ़ कर है ॥ ४३ ॥

अक्खडइ पिआ हिअए अण्णं महिलाअणं रमन्तस्स ।

बिट्ठे सरिसम्मि गुणे असरिसम्मि गुणे अईसन्ते ॥४४॥

[ आस्खलति प्रिया हृदये अन्यं महिलाजनं रममाणस्य ।

दृष्टे सदृशे गुणे असदृशे गुणे अदृश्यमाने ॥ ]

अन्य महिला से रमण करने वाले युवक के मन में तुल्य गुणों को देखकर एवं विपरीत गुणों को न पाकर पूर्वानुभूत प्रियतमा की स्मृति आ ही जाती है ॥ ४४ ॥

णइऊरसच्छहे जोव्वणम्मि अइपवसिएसु दिअसेसु ।

अणिअत्तासु राईसु पुत्ति किं दइढमाणेण ॥४५॥

१. निम्नलिखित गाथा में यही भाव पदावली के अनुकरण के साथ व्यक्त हुआ है—

दूरयरदेसपरिसंठियस्स पियसंगमं महन्तस्स ।

आसाबन्धो च्चिय माणुसस्स परिरक्खए जीयं ॥

—गुणपाल मुनिक्कत, जम्बूचरियं

[ नदीपूरसदृशे यौवने अतिप्रोषितेषु दिवसेषु ।  
अनिवृत्तासु च रात्रिषु पुत्रि किं दग्धमानेन ॥ ]

बेटी ! यह यौवन नदी के प्रवाह सा चंचल है तथा ये दिन और ये रातें फिर लौट कर नहीं आयेंगी । तुम मान क्यों करती हो ? ॥ ४५ ॥

**कल्लं किल खरहिअओ पवसिइहि पिओत्ति सुण्णइ जणम्मि ।  
तह बढ्ढ भअवइ णिसे जह से कल्लं विअ ण होइ ॥४६॥**

[ कल्यं किल खरहृदयः प्रवत्स्यति प्रिय इति श्रूयते जने ।  
तथा वर्धस्व भगवति निशे यथा तस्य कल्यमेव न भवति ॥ ]

मैंने सुना है कि मेरे पाषाण हृदय प्रियतम कल प्रयाण करेंगे । हे रात तुम बढो, इतना बढो कि सबेरा ही न हो ॥ ४६ ॥

**होन्तपहिअस्स जाआ आउच्छणजीअधारणरहस्सं ।  
पुच्छन्ती भमइ घरं घरेण पिअविरहसहिरीओ ॥४७॥**

[ भविष्यत्पथिकस्य जाया आपृच्छन जीवधारणरहस्यम् ।  
पृच्छन्ती भ्रमति गृहं गृहेण प्रियविरहसहनशोलाः ॥ ]

‘मेरे प्रिय परदेश चले जायेंगे’—यह जान कर वह घर-घर जाकर विरह वेदना को सहने वाली विरहनियों से पूछती है—“जब गमनोद्यत प्राणेश मुझ से प्रयाण के लिये अनुमति लेने आयें हों तो क्या उस समय शरीर से बाहर निकलते हुए प्राणों को धारण करने का कोई उपाय है” ॥ ४७ ॥

**अण्णमहिलापसङ्गं दे देव करेसु अह्म दइअस्स ।  
पुरिसा एवकन्तरसा ण हु दोषगुणे विआणन्ति ॥४८॥**

[ अन्यमहिलाप्रसङ्गं हे देव कुर्वस्माकं दयितस्य ।  
पुरुषा एकान्तरसा न खलु दोषगुणौ विजानन्ति ॥ ]

मेरा भी पति अन्य महिलाओं में अनुरक्त हो जाय, क्योंकि एक ही नारी से प्रेम करने वाले को गुण-दोष का ज्ञान नहीं होता ॥ ४८ ॥

**थोअं पि ण णीसरई मज्झण्णे उह सरीरतल्लुक्का ।  
आअवभएण छाई वि पहिअ ता कि ण वीसमसि ॥४९॥**

[ स्तोकमपि न निःसरति मध्याह्ने पश्य शरीरतल्लोना ।  
आतपभयेन च्छायापि पथिक तत्किं न विश्राम्यसि ॥ ]

देखो, मध्यान्ह में आतप से भीत होकर शरीर से चिपटी हुई छाया भी किंचित् बाहर नहीं निकलती। पथिक ! तुम विश्राम क्यों नहीं कर लेते ॥ ४९ ॥

**सुहउच्छअं जणं दुल्लहं पि दूराहि अम्ह आणन्त ।**

**उअआरअ जर जीअं पि णेन्त ण कआवराहोसि ॥५०॥**

[ सुखपृच्छकं जनं दुर्लभमपि दूरादस्माकमानयन् ।

उपकारकं ज्वर जीवमपि नयन्न कृतापराधोऽसि ॥ ]

हे ज्वर ! तुम ने मेरा सुख-दुख पूछने वाले दुर्लभ व्यक्ति को भी दूर से बुला कर बड़ा ही उपकार किया है, इससे यदि मेरे प्राण भी ले लो तो भी तुम्हारा कुछ अपराध नहीं है ॥ ५० ॥

**आमजरो मे मन्दो अहव ण मन्दो जणस्स का तन्ती ।**

**सुहउच्छअ सुहअ सुअन्ध अन्ध मा अन्धिअं छिवसु ॥५१॥**

[ आमो ज्वरो मे मन्दोऽथवा न मन्दो जनस्य का चिन्ता ।

सुखपृच्छक सुभग सुगन्धगन्ध मा गन्धितां स्पृश ॥ ]

मेरा अजीर्णोत्पन्न ज्वर मन्द है या तीव्र, दूसरे लोग इसकी चिन्ता क्यों करते हैं ? कुशल पूछने वाले सुगन्धित सुभग ! तुम मेरे दुर्गन्धपूर्ण शरीर का स्पर्श मत करना ॥ ५१ ॥

**सिहिपिच्छलुलिअकेसे बेवन्तोह विणिमोलिअद्धच्छि ।**

**बरपुरिसाइरि विसुमरि जाणसु पुरिसाणं जं दुःखं ॥५२॥**

[ सिखिपिच्छलुलितकेशे वेपमानोह विनिमीलिततार्धाक्षि ।

ईषत्पुरुषायिते विश्रामशोले जानीहि पुरुषाणां यददुःखम् ॥ ]

प्रिये ! मयूर पुच्छ के समान तुम्हारा केश पाश बिखर गया है। आँखें अर्द्ध मुकुलित हो रही हैं। तुम्हारे उरु कम्पित हो रहे हैं। तुम श्रान्त होकर विश्राम कर रही हो। थोड़ी देर में ही पुरुषों का अभिनय करके तुमने जान लिया होगा कि उन्हें कितना परिश्रम करना पड़ता है ॥ ५२ ॥

**पेम्मस्स विरोहिअसंधिअस्स पच्चक्खदिट्ठविलिअस्स ।**

**उअअस्स व ताविअसोअलस्स विरसो रसो होइ ॥५३॥**

[ प्रेम्णो विरोधितसंधितस्य प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकस्य ।

उदकस्येव तापितशोतलस्य विरसो रसो भवसि ॥ ]



एक बार टूटा हुआ प्रेम जब किसी प्रकार जुड़ जाता है, तब उसके पश्चात् फिर कोई प्रत्यक्ष त्रुटि हो जाने पर वह वैसा ही नीरस हो जाता है, जैसे तपाकर ठंडा किया हुआ जल ॥ ५३ ॥

**वज्रवडणाइरिवकं पडणो सोऊण सिज्जिणीघोसं ।**

**पुसिआइं करिमरिएँ सरिसवन्दीणं पि णअणाइं ॥५४॥**

[ वज्रपतनातिरिवतं पत्युः श्रुत्वा शिञ्जनीघोषम् ।

प्रोच्छित्तानि बन्धा सदृशबन्दीनामपि नयनानि ॥ ]

वज्रपात से भी घोर पति की प्रत्यंचा की टंकार सुनकर बन्दिनी ने अपने समान अन्य महिलाओं की भी आँखें पोंछ दीं ॥ ५४ ॥

**सहइ सहइ त्ति तह तेण रामिआ सुरअदुव्विअद्वेण ।**

**पम्पाअसिरीसाइँ व जह सेँ जाआइँ अंगाइं ॥५५॥**

[ सहते सहत इति तथा तेन रमिता सुरतदुर्विदग्धेन ।

प्रम्लानशिरीषाणीव यथास्या जातान्यङ्गानि ॥ ]

नौसिखिये ने बेचारी को बचा-बचा कर भी इतनी निर्दयता से रमण किया कि उसके सम्पूर्ण अंग मुरझाये शिरीष-पुष्प के समान शिथिल हो गये ॥ ५५ ॥

**अगणिअसेसजुआणा वालअ वोलीणलोअमज्जाआ ।**

**अह सा भमइ दिसामुहपसारिअच्छी तुह कएण ॥५६॥**

[ अगणिताशेषयुवा बालक व्यतिक्रान्तलोकमर्यादा ।

अथ सा भ्रमति दिशामुखप्रसारिताक्षी तव कृतेन ॥ ]

बालक ! तुम्हारे लिये अनेक नवयुवकों की परवाह न करने वाली वह बाला लोक-लज्जा को तिलांजलि देकर सब दिशाओं में आँखें पसारे भटक रही है ॥ ५६ ॥

**करिमरि अआलगज्जिरजलआसणिपडनपडिरवो एसो ।**

**पडणो धणुरवकडिखरि रोमञ्चं किं मुहा वहसि ॥५७॥**

[ बन्दि अकालगजनशीलजलदाशनिपतनप्रतिरव एषः ।

पत्युर्धनूरवाकाङ्क्षणशीले रोमाञ्चं किं मुधा वहसि ॥ ]

बन्दिनी ! पति के धनुष की टंकार की कल्पना से व्यर्थ पुलकित न हो जाओ, यह अकाल मेघ से गिरने वाले वज्र की प्रतिध्वनि है ॥ ५७ ॥

अज्ज व्वेअ पउत्थो उज्जाअरओ जणस्स अज्जे अ ।

अज्ज अ हलिद्दापिज्जाराइँ गोलाणइतडाइँ ॥५८॥

[ अद्यैव प्रोषित उज्जागरको जनस्याद्यैव ।

अद्यैव हरिद्रापिञ्जराणि गोदाननदीतटानि ॥ ]

आज उनके प्रवास में जाते ही लोग रात में जगने लगे हैं और गोंदावरी की तट भूमि हल्दी से पीली हो गई है ॥ ५८ ॥

असरिसच्चित्ते दिअरे सुद्धमणा पिअअमे विसमसीले ।

ण कहइ कुट्टुम्बविहडणभएण तणुआअए सोणहा ॥५९॥

[ असदृशचित्ते देवरे शुद्धमनाः प्रियतमे विषमशीले ।

न कथयति कुट्टुम्बविघटनभयेन तनुकायते स्नुषा ॥ ]

देवर का अन्तःकरण कलुषित होने पर शुद्धमना वधू दुर्बल होती जा रही है, परन्तु कौटुम्बिक कलह के भय से उद्धत स्वभाव वाले पति से कुछ नहीं कहती ॥ ५९ ॥

चित्ताणिअदइअसमागमम्मि कअमण्णुआइँ भरिऊण ।

सुण्णं कलहाअन्ती सहीहिँ रुणा ण ओहसिआ ॥६०॥

[ चित्तानोतदयितसमागमे कृतमन्युकानि स्मृत्वा ।

शून्यं कलहायमाना सखीभिः रुदिता नोपहसिता ॥ ]

ध्यानावस्था में प्रिय के समागम को कल्पना कर पुनः उसके अपराधों की स्मृति हो जाने के कारण व्यर्थ ही कलह करती हुई, उन्मत्त विरहिणी को देखकर सखियों को हँसी के स्थान पर हलाइ आ गई ॥ ६० ॥

ह्मिअण्णाएहिँ समअं असमत्ताइँ पि जह सुहावन्ति ।

कज्जाइँ मणे ण तहा इअरेहिँ समाविआइँ पि ॥६१॥

[ हृदयज्ञैः समसमाप्तान्यपि यथा सुखयन्ति ।

कार्याणिमन्ये मन्ये न तथा इतरैः समापितान्यपि ॥ ]

हृदय का रहस्य समझने वाले के साथ किया हुआ अधूरा कार्य भी जितना सुखद होता है, मैं समझती हूँ, अन्य लोगों के साथ किया हुआ कार्य पूरा हो जाने पर भी उतना सुखद नहीं होता ॥ ६१ ॥

दरफुडिअसिप्पिसंपुडणिलुक्कहालाहलग्गछेप्पणिहं ।

पक्कम्बट्टिविणिग्गअकोमलमम्बुद्धुरं उअह ॥६२॥

[ ईषत्स्फुटितशुक्लितसम्पुटनिलीनहालाहलाग्रपुच्छनिभम् ।  
पक्वाम्नास्थिविनिर्गतकोमलमात्राङ्कुरं पश्यत ॥ ]

वह देखो, आम की गुठली से निकला हुआ कोमल अंकुर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे किंचित् फूटे हुए सीप के संपुट से ब्राह्मणी (जन्तु विशेष, जो चिपकली के आकार का होता है) की पूँछ निकल पड़ी हो ॥ ६२ ॥

**उअह पडलन्तरोद्दण्णणिअतन्तुद्वपडिलगं ।**

**दुल्लक्षसुत्तगुत्थेक्कबउलकुसुमं व मक्कडअं ॥६३॥**

[ पश्यत पटलान्तरावतोर्णनिजकतन्तूर्ध्वपादप्रतिलग्नम् ।  
दुर्लक्षसूत्रग्रथितैकबकुलकुसुममिव मर्कटकम् ॥ ]

देखो, छत के भीतर मकड़ी अपने तने हुए तन्तुओं के नीचे पैर ऊपर किए यों लटक रही है जैसे दुर्लक्ष सूत्रों में गुँथा हुआ कोई बकुल-पुष्प हो ॥ ६३ ॥

**उअरि दरदिदुत्थण्णुअणिलुक्कपारावआणं विरुएहि ।**

**णित्थणइ जाअरेवेअणं सूलाहिण्णं व देअउलं ॥६४॥**

[ उपरोषद्दृष्टशंकुनिलीन पारावतानां विरुतैः ।  
निस्तनति जातवेदनं शूलाभिन्नमिव देवकुलम् ॥ ]

प्राचीन मन्दिर का कलश टूट जाने पर भी बची हुई कील पर दुबक कर बंटे हुए पारावत बोल रहे हैं, मानों यह देव मंदिर शूली पर चढ़ा दिये जाने की व्यथा से कराह रहा है ॥ ६४ ॥

**जइ होसि ण तस्स पिआ अणुदिअहं णीसहेहिं अङ्गेहिं ।**

**णवसुअपीअपेऊसमत्तपाडि व्व किं सुवसि ॥६५॥**

[ यदि भवसि न तस्य प्रियानुदिवसं निःसहैरङ्गैः ।  
नवसूतपीतपीयूषमत्तमहिषीवत्सेव किं स्वपिषि ॥ ]

यदि तुम उसकी प्रिया नहीं हो तो पीयूष ( नव प्रसूता गाय या भैंस का दूध ) पीकर मतवाले भैंस के बच्चे की तरह अलसाये अंगों से क्यों सो रही हो ॥ ६५ ॥

**हेमन्तिआसु अइदीहरासु राइसु तं सि अविणिहा ।**

**चिरअरपउत्थवइए ण सुन्दरं जं दिआ सुवसि ॥६६॥**

[ हैमन्तिकास्वतिदीर्घासु रात्रिषु त्वमस्यविनिद्रा ।  
चित्तरप्रोषितपतिके न सुन्दरं यदिदवा स्वपिषि ॥ ]

हेमन्त की लम्बी रातों में तुम्हें अवश्य जी भर सोने को नहीं मिला । तुम चिरकाल से प्रवासी की पत्नी हो, अतः तुम्हारा दिन में सोना उचित नहीं है ॥ ६६ ॥

**जइ चिक्खल्लभउप्पअपअमिणमलसाइ तुह पए दिण्णं ।**

**ता सुहअ कण्टइज्जन्तमंगमेण्ह किणो वहसि ॥ ६७ ॥**

[ यदि कर्दमभयोत्प्लुतपदमिदमलसया तव पदे दत्तम् ।  
तत्सुभगकण्टकितमङ्गमिदानीं किमिति वहसि ॥ ]

यदि पंक के भय से, उस अलसाती-सी सुन्दरी ने उछल कर तुम्हारे पदचिह्न पर अपना चरण रख दिया तो तुम्हारे अंग पुलकित क्यों हो गये ॥ ६७ ॥

**पत्तो छणो ण सोहइ अइप्पहा एण्व पुण्णिमाअन्दो ।**

**अन्तविरसो व्व कामो असंपआणो अ परिओसो ॥ ६८ ॥**

[ प्राप्तः क्षणो न शोभते अतिप्रभात इव पूर्णिमाचन्द्रः ।  
अन्तविरस इव कामोऽसम्प्रदानश्च परितोषः ॥ ]

बीता हुआ उत्सव और दान-शून्य परितोष, प्रभातकालिक चन्द्रमा और अन्त में विरस हो जाने वाले काम के समान सुशोभित नहीं होते ॥ ६८ ॥

**पाणिग्रहणे व्विअ पव्वईएँ णाअं सहीँहि सोहग्गं ।**

**पसुवइणा वासुइकङ्कणम्मि ओसारिए दूरं ॥ ६९ ॥**

[ पाणिग्रहण एव पार्वत्या ज्ञातं सखीभिः सौभाग्यम् ।  
पशुपतिना वासुकिकङ्कणेऽपसारिते दूरम् ॥ ]

विवाह-वेला में जब शिव ने वासुकी का कंकण अपने हाथसे दूर हटा दिया तभी सखियों को पार्वती के अक्षुण्ण सौभाग्य का आभास मिल गया था ॥ ६९ ॥

**गिह्ये दवग्गिमसिमइलिआइँ दीसन्ति विज्जसिहराइँ ।**

**आससु पउत्थवइए ण होन्ति णवपाउसब्भाइँ ॥ ७० ॥**

[ ग्रीष्मे दवाग्निमषीमलिनितानि दृश्यन्ते विन्ध्यशिखराणि ।  
आश्वसिहि प्रोषितपतिके न भवन्ति नवाप्रावृड्भाणि ॥ ]

अयि प्रोषित पतिके ! धीरज धारण करो, ये वर्षा के काले मेघ नहीं हैं, अपितु ग्रीष्म में लगने वाली दावाग्नि की मसि से मँले विन्ध्य पर्वत की श्रेणियाँ दिखाई दे रही हैं ॥ ७० ॥

जेत्तिअमेत्तं तीरइ णिव्वोढुं देसु तेत्तिअं पणअं ।

ण अणो विणिअत्तपसाअदुक्खसहणवखमो सब्बो ॥ ७१ ॥

[ यावन्मात्रं शक्यते निर्वोढुं देहि तावन्तं प्रणयम् ।

न जनो विनिवृत्तप्रसाददुःखसहनक्षमः सर्वः ॥ ]

सुम जितना निभा सको, मुझे उतना ही प्रेम प्रदान करना, क्योंकि सभी महिलायें प्रणय टूट जानें की व्यथा सहने में समर्थ नहीं होतीं ॥ ७१ ॥

बहुवल्लहस्स जा होइ वल्लहा कह वि पञ्च दिअहाइं ।

सा किं छट्ठं मग्गइ कत्तो मिट्ठं व बहुअं अ ॥ ७२ ॥

[ बहुवल्लभस्य या भवति वल्लभा कथमपि पञ्च दिवसानि ।

सा किं षष्ठं मृगयते कुतो मृष्टं च बहुकं च ॥ ]

जो पाँच दिन भी अनेक महिलाओं में आसक्त पुरुष का प्रेम प्राप्त कर लेती है उन्हें छठें दिन का कामना ही नहीं होती । मीठा और कठौती भर किसे मिलता है ॥ ७२ ॥

जं जं सो णिज्झाअइ अङ्गोआसं महं अणिमिसच्छो ।

पच्छाएमि अ तं तं इच्छामि अ तेण दीसन्तं ॥ ७३ ॥

[ यद्यत्स निर्धर्यायत्यङ्गावकाशं ममानिमिषाक्षः ।

प्रच्छादयामि च तं तमिच्छामि च तेन दृश्यमानम् ॥ ]

वह मेरे जिस-जिस अनावृत्त अंग को देखता था, मैं उसी उसी को ढक लेती थी, किन्तु जो चाहता था कि वह ऐसे ही देखता रहे ॥ ७३ ॥

विढमण्णुदूणिआएँ वि गहिओ दइअम्मि पेच्छह इमाए ।

ओसरइ बालुआमुट्ठी उव्व माणो सुरसुरन्तो ॥ ७४ ॥

[ दृढमन्युदूनयापि गृहीतो दयिते पश्यतानया ।

अपसरति बालुकामुष्टिरिव मानः सुरसुरायमाणः ॥ ]

प्रणयी के प्रति अत्यन्त रोषपूर्वक किया हुआ मान उसके हृदय से मुट्टी के बालू की भाँति सुरसुरा कर दूर होता जा रहा है ॥ ७४ ॥

उअ पोम्मराअमरगअसंवल्लिआ णहअलाओँ ओअरइ ।

णह सिरिकण्ठबभट्ट व्व कण्ठिआ कीररिउछोली ॥ ७५ ॥

[ पश्य पद्मरागमरकतसंवलिता नभस्तलादवतरति ।

नभःश्रोकण्ठभ्रष्टेव कण्ठका कीरपंकितः ॥ ]

देखो, आकाश से शुक्रों की पंक्ति उतर रही है, जैसे आकाश से लक्ष्मी का पद्मराग एवं मरकत मणि से बना हुआ कोई कंठभरण च्युत हो गया हो ॥ ७५ ॥

ण वि तह विएसवासो दोग्गच्चं मह जणेइ संतावं ।

आसंसिअत्थविमणो जह पणइजणो णिअत्तन्तो ॥ ७६ ॥

[ नापि तथा विदेशवासो दीर्गत्यं मम जनयति सन्तापम् ।

आशंसितार्थविमना यथा प्रणयिजनो निवर्तमानः ॥ ]

कुत्सित गाँव का निवास और दरिद्रता भी मुझे उतनी दुःखदायक नहीं है, जितना अभिलषितार्थ से वंचित होकर निराश लौटने वाला प्रेमी ॥ ७६ ॥

खन्धग्गिणा वणेमु तणेहिं गामम्मि रक्खिओ पहिओ ।

णअरवसिओ णडिज्जइ साणुसएण व्व सीएण ॥ ७७ ॥

[ स्कन्धाग्निना वनेषु तृणैग्रामि रक्षितः पथिकः ।

नगरोषितः खेद्यते सानुशयेनेव शीतेन ॥ ]

वनों में काठ एवं गाँवों में तृणों से सुरक्षित पथिक को नगर में जाने पर शीत मानो पुराने वैर को याद कर कष्ट देने लगता है ॥ ७७ ॥

भरिमो से गहिआहरधुअसोसपहोलिरालआउलिअं ।

वअणं परिमलतरलिअभमरालिपइण्णकमलं व ॥ ७८ ॥

[ स्मरामस्तस्या गृहीताधरधुतशीर्षप्रघूर्णनशीलालकाकुलितम् ।

वदनं परिमलतरलितभ्रमरालिप्रकीर्णकमलमिव ॥ ]

बुस्बन के समय अधरों का ग्रहण करने पर चंचल शोश पर लहराती हुई अलकों से व्याप्त उसका सुगन्ध में डूबा भ्रमर-मंडित कमल सा मनोहर मुख याद आ रहा है ॥ ७८ ॥

हल्लफलण्हाणपसाहिआणं छणवासरे सवत्तीणं ।

अज्जाएँ मज्जणाणाअरेण कहिअं व सोहग्गं ॥ ७९ ॥

[ उत्साहतरलत्वस्नानप्रसाधितानां क्षणवासरे सपत्नीनाम् ।

भार्यया मज्जनानादरेण कथितमिव सौभाग्यम् ॥ ]

उत्सव के दिन उत्साह से चंचल सपत्नियों ने नहा कर श्रृंगार किया, किन्तु उसने स्नान के प्रति उपेक्षा दिखला कर ही मानों अपने सौभाग्य की सूचना दे दी ॥ ७९ ॥

प्लाणहलिद्वाभरिअन्तराईं जालाईं जालवलअस्स ।  
सोहन्ति किलिञ्चिअकण्टएण कं काहिसी कअत्थं ॥ ८० ॥

[ स्नानहरिद्राभरितान्तराणि जालानि जालवलयस्य ।  
शोधयन्ती क्षुद्रकण्टकेन कं करिष्यसि कृतार्थम् ॥ ]

नहाते समय हल्दी से भरे हुये जालीदार कंकण को बाँस के काँटे से साफ़ करती हुई तू किसे कृतार्थ करेगी ॥ ८० ॥

अददंसणेण पेम्मं अवेइ अइदंसणेण वि अवेइ ।  
पिसुणजणजम्पिएण वि अवेइ एमेअ वि अवेइ ॥ ८१ ॥

[ अदर्शनेन प्रेमापैत्यतिदर्शनेनाप्यपैति ।  
पिशुनजनजल्पितेनाप्यपैत्येवमेवाप्यपैति ॥ ]

प्रेम अदर्शन से नष्ट हो जाता है और अतिदर्शन से भी । पिशुनों के सम्भाषण से भी नष्ट हो जाता है और अकारण भी ॥ ८१ ॥

अददंसणेण महिलाअणस्स अइदंसणेण णीअस्स ।  
मुक्खस्स पिसुणअणजम्पिएण एमेअ वि खलस्स ॥ ८२ ॥

[ अदर्शनेन महिलाजनस्यातिदर्शनेन नीचस्य ।  
मूर्खस्य पिशुनजनजल्पितेनैवमेवापि खलस्य ॥ ]

महिलाओं का प्रेम अदर्शन से, नीचों का अतिदर्शनसे, मूर्खों का पिशुनों के सम्भाषण से एवं खलों का अकारण ही नष्ट हो जाता है ॥ ८२ ॥

पोट्टपडिएहिं दुःखं अच्छिज्जइ उण्णाएहिं होऊण ।  
इअ चिन्तआणं मण्णे यणाणं कसणं मुहं जाअं ॥ ८३ ॥

[ उदरपतिताभ्यां दुःखं स्थीयत उन्नताभ्यां भूत्वा ।  
इति चिन्तयतीमन्ये स्तनयोः कृष्णं मुखं जातम् ॥ ]

पहले उन्नत होकर फिर पेड़ का आश्रय ले लेना कितना दुखद है, मानों यही सोचकर पयोधरों का मुख श्याम हो गया ॥ ८३ ॥

सो तुज्झ कए सुन्दरि तह छीणो सुमहिला हलिअउत्तो ।  
जह से मच्छरिणीएँ वि दोच्चं जाआएँ पडिवण्णं ॥ ८४ ॥

[ स तव कृते सुन्दरि तथा क्षीणः सुमहिलो हालिकपुत्रः ।  
यथा ॥ तस्य मत्सरिण्यापि दौत्यं जायया प्रतिपन्नम् ॥ ]

सुन्दर पत्नी वाला वह हलिक-पुत्र तेरे लिये इतना क्षीण हो गया है कि उसकी ईर्ष्यालु पत्नी ने भी दूती बनना स्वीकार कर लिया ॥ ८४ ॥

**दक्खिण्णेण वि एन्तो सुहअ सुहावास अम्ह हिअआइं ।**

**णिककइअवेण जाणं गओसि का णिव्वुदी ताणं ॥८५॥**

[ दाक्षिण्येनाप्यागच्छन्सुभग सुखयस्यस्माकं हृदयानि ।

निष्कैतवेन यासां गतोऽसि का निर्वृतिस्तासाम् ॥ ]

तुम मन में कपट रखकर आते हो तो भी हमारे हृदयों को आनन्दित कर देते हो, जिनके साथ तुम्हारा निष्कपट प्रेम होगा उनकी तृप्ति का क्या कहना है ॥ ८५ ॥

**एकं पहहव्विण्णं हत्थं मुहमारुएण वोअन्तो ।**

**सो वि हसन्तोएँ मए गहिओ बोएण कण्ठम्मि ॥ ८६ ॥**

[ एकं प्रहारोद्विग्नं हस्तं मुखमारुतेन वोजयन् ।

सोऽपि हसन्त्या मया गृहीतो द्वितीयेन कण्ठे ॥ ]

जब मैंने उन्हें थपड़ से मार दिया तो वे मेरा पीड़ित हाथ पकड़ कर मुँह से फूँकने लगे । उस समय मैंने भी हँस कर दूसरे बाहु से उनका आलिंगन कर लिया ॥ ८६ ॥

**अवलम्बिअमाणपरम्मुहोएँ एन्तस्स माणिणि पिअस्स ।**

**पुट्टुपुलउगगमो तुह कहेइ संमुहट्टिअं हिअअं ॥८७॥**

[ अवलम्बितमानपराङ्मुख्या आगच्छतो मानिनि प्रियस्य ।

पूष्ठपुलकोदनमस्तव कथयति सम्मुखस्थितं हृदयम् ॥ ]

मानिनी ! तू यद्यपि प्रिय के आने पर रूठ कर मुँह फिराये बैठी है, फिर भी तेरी रोमांचित पीठ बतला रही है कि तेरा हृदय सम्मुख है ॥ ८७ ॥

**जाणइ जाणावेउं अणुणअविट्टविअमाणपरिसेसं ।**

**अइरिक्कम्मि वि विणआवलम्बणं सच्चिअ कुणन्ती ॥ ८८ ॥**

[ जानाति ज्ञापयितुमनुनयविद्रावितमानपरिशेषम् ।

विजनेऽपि विनयावलम्बनं सेव कुर्वती ॥ ]

एकान्त में भी निश्चेष्ट रह कर सुन्दरी नायिका यह बतलाना चाहती है कि अनुनय-विनय के पश्चात् भी मान का कुछ अंश शेष रह गया है ॥ ८८ ॥



मुहमारुएण तं कण्ह गोरअं राह्मिआएँ अवणेन्तो ।  
एताणँ वल्लवीणं अण्णाण वि गोरअं हरसि ॥ ८९ ॥

[ मुखमारुतेन त्वं कृष्ण गोरजो राधिकाया अपनयन् ।

एतासां वल्लवीनामन्यासामपि गौरवं हरसि ॥ ]

कृष्ण ! तुम अपने मुख-मारुत से राधा के नेत्रों की धूलि ( गोरज ) दूर करते हुए वल्लवियों का गौरव भी दूर कर देते हो ॥ ८९ ॥

किं दाव कआ अहवा करेसि कारिस्सि सुहअ एत्ता हे ।  
अवराहाणं अल्लज्जिर साहसु कअए खमिज्जन्तु ॥ ९० ॥

[ किं तावत्कृता अथवा करोषि करिष्यसि सुभगेदानोम् ।

अपराधानामलज्जाशील कथय कतरे क्षम्यन्ताम् । ]

निर्लज्ज ! तुमने जो अपराध किये हैं, जो कर रहे हो तथा जो भविष्य में करोगे, बताओ, उनमें से कौन सा क्षमा कर दूँ ॥ ९० ॥

णूमेन्ति जे पहुत्तं कुविअं दासा व्व जे पसाअन्ति ।  
ते व्विअ माह्लाणं पिआ सेसा सामि व्विअ वराआ ॥ ९१ ॥

[ गोपायन्ति ये प्रभुत्वं कुपितां दासा इव ये प्रसादयन्ति ।

त एव महिलानां प्रियाः शेषाः स्वामिन एव वराकाः ॥ ]

जो अपना स्वामित्व प्रकट नहीं करते तथा कुपित हो जाने पर दास की भाँति मनाया करते हैं, वे ही पुरुष तो महिलाओं को प्रिय होते हैं, शेष केवल पति कहलाने के पात्र हैं ॥ ९१ ॥

तइआ कअघ महुअर ! ण रमसि अण्णासु पुप्फजाईसु ।  
बद्धफलभारिगुरुईं मालईं एण्ह परिच्चअसि ॥ ९२ ॥

[ तदा कृतार्धमधुकर न रमसेऽन्यासु पुष्पजातिषु ।

बद्धफलभारगुर्वी मालतीमिदानीं परित्यजसि ॥ ]

मधुकर ! जिससे तृप्त होकर अन्य जाति के पुष्पों से रमण नहीं करते थे, अब फलों के भार से झुकी हुई उसी मालती को त्याग रहे हो ॥ ९२ ॥

अविअण्ह पेक्खणिज्जेण तक्खणं मामि ! तेण विट्ठेण ।  
सिक्खिणअपीएण व पाणिएण तण्ह व्विअ ण फिट्ठा ॥ ९३ ॥

[ अवितृष्णप्रेक्षणीयेन तत्क्षणं मातुलानि तेन दृष्टेन ।  
स्वप्नपीतेनेव पानोयेन तृष्णैव न भ्रष्टा ॥ ]

मामी ! उन्हें देख कर भी देखने की साध पूरी नहीं होती । स्वप्न के जल-  
पान के समान उनके आकस्मिक दर्शन से मेरी तृष्णा शान्त नहीं हुई ॥ ९३ ॥

**सुअणो जं देसमलंकरेइ, तं विअ करेइ पवसन्तो ।**

**गामासण्णुम्मूलिअमहावडट्टाणसारिच्छं ॥ ९४ ॥**

[ सुजनो यं देशमलं करोति तमेव करोति प्रवसन् ।  
ग्रामासन्नोन्मूलितमहावटस्थानसदृशम् ॥ ]

सज्जन जिस देश को अलंकृत करता है उसे ही अपने वियोग से गाँव के  
निकट की उस भूमि के समान बना देता है, जिस पर छाया करनेवाला वट-वृक्ष  
काट डाला गया हो ॥ ९४ ॥

**सो णाम संभरिज्जइ पढभसिओ जो खणं पि हिअआहि ।**

**संभरिअठ्वं च कअं गअं च पेम्मं निरालम्बं ॥ ९५ ॥**

[ स नाम संस्मयते प्रभ्रष्टो यः क्षणमपि हृदयात् ।  
स्मर्तव्यं च कृतं गतं च प्रेम निरालम्बम् ॥ ]

जो क्षण मात्र भी हृदय से पृथक् न हो, स्मरण उसी का किया जाता है ।  
जहाँ प्रेमी की स्मृति बनाये रखने की आवश्यकता हो, वह प्रेम तो आश्रयहीन हो  
गया है ॥ ९५ ॥

**णासं व सा कपोले अज्ज वि तुह दन्तमण्डलं बाला ।**

**उब्भिण्णपुलअवइवेठपरिगअं रक्खइ वराई ॥ ९६ ॥**

[ न्यासमिव सा कपोलेऽद्यापि तव दन्तमण्डलं बाला ।  
उद्भिन्नपुलकवृत्तिवेषटपरिगतं रक्षति वराकी ॥ ]

उस बाला ने कपोल पर उद्भिन्न पुलकों के वेष्टन में तुम्हारा दन्तक्षत न्यास  
की तरह आज भी सुरक्षित रखा है ॥ ९६ ॥

**टिट्ठा चूआ, अग्घाइआ सुरा, दक्खिणाणिलो सहिओ ।**

**कज्जाइं विअ गरुआइं, मामि ! को वल्लहो कस्स ? ॥ ९७ ॥**

[ दृष्टाश्चूता आघ्राता सुरा दक्षिणानिलः सोढः ।  
कार्याण्येव गुरुकाणि मातुलानि को वल्लभः कस्य ॥ ]

नूतन रसाल-पल्लव देखे, मतवाली सुरा की गन्ध का अनुभव किया। दक्षिण-पवन का घातक स्पर्श भी सह लिया। मामी संसार में कार्यों का ही अधिक गौरव है, प्रेमी कौन किसका है? ॥ ९७ ॥

**रमिऊण पअं पि गओ जाहे उवऊहिऊं पडिणिउत्तो ।**

**अहअं पउत्थपइआ व्व तक्खणं सो पवासि व्व ॥ ९८ ॥**

[ रत्त्वा पदमपि गतो यदोपगूहितुं प्रतिनिवृत्तः ।

अहं प्रोषितपतिकेव तत्क्षणं स प्रवासीव ॥ ]

मेरे प्रिय रमण के पश्चात् जैसे ही एक डग बाहर गये कि आलिंगन की तृष्णा से पुनः लौट आये। क्षण भर के लिये वे प्रवासी थे और मैं प्रोषित पतिका ॥ ९८ ॥

**अविइण्णहेच्छणिज्जं समसुहदुःखं विइण्णसब्भावं ।**

**अण्णोण्णहिअअलगं पुण्णेहिं जणो जणं लहइ ॥ ९९ ॥**

[ अविदृष्टप्रक्षणीयं समसुखदुःखं वितीर्णसद्भावम् ।

अन्योन्यहृदयलग्नं पुण्यैर्जनो जनं लभते ॥ ]

जिन्हें देखने पर भी साध पूरी नहीं होती, जिनका सुख-दुःख एक हो गया है, जो सद्भाव प्रकट करते हैं, और जिनका परस्पर प्रगाढ़ अनुराग रहता है, लोग ऐसे प्राणियों को पुण्य से ही प्राप्त करते हैं ॥ ९९ ॥

**दुःखं देन्तो वि सुह जणेइ जो जस्स वल्लहो होइ ।**

**दइअणहइणिआणं वि वड्ढइ थणाणं रोमाञ्चो ॥ १०० ॥**

[ दुःखं दददपि सुखं जनयति यो यस्य वल्लभो भवति ।

दयितनखदूनयोरपि वर्धते स्तनयो रोमाञ्चः ॥ ]

जो जिसे प्रिय लगता है उसका दुःखद व्यवहार भी सुखदायक हो जाता है। प्रिय के नखों से आहत होकर भी पयोधर आनन्द से पुलकित हो उठते हैं ॥ १०० ॥

**रसिअजणहिअअइए कवइच्छलपमुहसुकइणिम्मविए ।**

**सत्तसअम्मि समत्तं पढमं गाहासअं एअं ॥ १०१ ॥**

[ रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते ।

सप्तशतके समाप्तं प्रथमं गाथाशतकमेतत् ॥ ]

जिनमें कविवत्सल हाल प्रमुख हैं उन कवियों द्वारा बनाये हुए, रसिकों के प्यारे सप्तशतक का प्रथम शतक पूर्ण हो गया ॥ १०१ ॥

## द्वितीय शतकम्

धरिओ धरिओ विअलइ उअएसो पिहसहोहिँ दिज्जन्तो ।

मअरद्धअबाणपहारजजरे तीएँ हिअअम्मि ॥ १ ॥

[ धृतो धृतो विगलत्युपदेशः प्रियसखोभिर्दीयमानः ।

मकरध्वजबाणप्रहारजजरे तस्या हृदये ॥ ]

मकरध्वज के बाणों से जर्जर सुन्दरी के हृदय में सखियों द्वारा दिया हुआ उपदेश बार-बार स्थिर करने पर भी बाहर निकल जाता है ॥ १ ॥

तडसंठिअणीडेक्कन्तपोलुआरक्खणेक्कदिण्णमणा ।

अगणिअविणिबाअभआ पूरेण समं वहइ काई ॥ २ ॥

[ तटसंस्थितनोडैकान्तशावकरक्षणैकदत्तमनाः ।

अगणितविनिपातभया पूरेण समं वहति काको ॥ ]

नदी के तट पर स्थित नीड में बँठे शावकों की रक्षा में दत्तचित्त काकी अपनी मृत्यु का भय छोड़ कर प्रवाह में बही जा रही है ॥ २ ॥

बहुपुष्पभरोणामिअभूमोगअसाह सुणसु विण्णत्ति ।

गोलातडविअडकुडङ्ग महुअ सणिअं गलिज्जासु ॥ ३ ॥

[ बहुपुष्पभरावनामितभूमोगतशाख शृणु विज्ञप्तिम् ।

गोदातटविकटनिकुञ्जमधूक शनैर्गलिष्यसि ॥ ]

पुष्पों के प्रचुर भार से झुकी हुई शाखाओं से भूमि को चूमने वाले, गोदावरी तट के गहन कुञ्ज में खड़े विशाल मधूक ने मेरी विनती सुन ली ! धीरे-धीरे चूँओ ॥ ३ ॥

णिप्पच्छिमाई असई दुःखालोआई महुअपुष्पाइं ।

चीए बन्धुस्स व अठ्ठिआईं रुअई सगुच्चिणइ ॥ ४ ॥

[ निष्परिचिमान्यसतो दुःखालोकानि मधूकपुष्पाणि ।

चितायां बन्धोरिवास्थोनि रोदनशोला समुच्चिवनोति ॥ ]

जिन्हें देखते ही हृदय आहत हो जाता है, झड़े हुये मधूक के उन अवशिष्ट पुष्पों को आज रोती हुई व्यभिचारिणी बाला ऐसे चुन रही है जैसे कोई चिता पर अपने बन्धु की अस्थिर्या चुनता हो ॥ ४ ॥

ओ हिअ मडहसरिआजलरअहोरन्तदीहदारु व्व ।  
ठाणे ठाणे विअ लगमाण केणावि डज्झहसि ॥ ५ ॥

[ हे हृदय स्वल्पसरिज्जलरयत्थियमाणदीर्घदारुवत् ।  
स्थाने स्थाने एव लगत्केनापि धक्ष्यसे ॥ ]

हे हृदय ! तुम उथली नदी की धारा में बहते हुये दीर्घकाष्ठ के समान स्थान-  
स्थान पर रुकते हुये कहीं-न-कहीं अवश्य दग्ध हो जाओगे ॥ ५ ॥

जो तीएँ अहरराओ रत्ति उव्वासिओ पिअअमेण ।  
सो विअ दीसइ गोसे सवत्तिणअणेसु संक्रान्तो ॥ ६ ॥

[ यस्तस्या अधररागो रात्रावुद्वासितः प्रियतमेन ।  
स एव दृश्यते प्रातः सपत्नीनयनेषु संक्रान्तः ॥ ]

रात्रि में प्रिय के अवरिल चुम्बन से नायिका के अधरों की जो अरुणिमा हट-  
गई थी, वही सबेरे सपत्नियों के नेत्रों में संक्रान्त हो गई ॥ ६ ॥

गोलाअडट्टिअं पेच्छिऊण गहवइसुअं हलिअसोण्हा ।  
आढत्ता उत्तरिउं - दुःखुत्ताराएँ पअवीए ॥ ७ ॥

[ गोदावरीतटस्थितं प्रेक्ष्य गृहपतिमुतं हलिकस्तुषा ।  
आरब्धा उत्तरीतुं दुःखोत्तारया पदव्या ॥ ]

हलवाहे की बधू गृहपति के पुत्र को गोदावरी तट पर देख कर उस स्थान पर-  
नदी पार करने लगी जहाँ उसको पार करना कठिन था ॥ ७ ॥

चलणोआसणिसण्णस्स तस्य भरिमो अणालवन्तस्स ।  
पाअङ्गुट्ठावेट्टिअकेसदिढाअड्ढणसुहेल्लि ॥ ८ ॥

[ चरणावकाशनिषण्णस्य तस्य स्मरामोऽणालपतः ।  
पादाङ्गुष्ठावेष्टितकेशदृढाकर्षणमुखम् ॥ ]

आज मुझे उस घटना की स्मृति आ रही है, जब वह मेरे चरणों पर चुप-  
चाप पड़ा हुआ था। उस समय मैंने अपने अँगूठे में फँसे हुए उसके केशों को  
बलपूर्वक खींच-खींच कर कितनी सुखमय क्रीडा की थी ॥ ८ ॥

फालेइ अछ्छभल्लं व उअह कूगामदेउलद्वारे ।  
हेमन्तआलपहिओ विज्झाअन्तं पलालिंगि ॥ ९ ॥

[ पाटयत्यच्छभल्लमिव पर्यत कुग्रामदेवकुलद्वारे ।  
हेमन्तकालपथिको विधमायमानं पलालाग्निम् ॥ ]

वह देखो, इस कुत्सित गाँव में मन्दिर के द्वार पर टिका हुआ हेमन्त-पथिक पयाल की बुझी हुई आग फूँक-फूँक कर यों जला रहा है, जैसे किसी भालू का पेट फाड़ रहा हो ॥ ९ ॥

कमलाअरा ण मलिआ हंसा उड्डाविआ ण अ पिउच्छा ।  
केणांवि गामतडाए } अब्भं उत्ताणअं व्वूढं ॥ १० ॥

[ कमलाकरा न मृदिता हंसा उड्डायिता न च पितृष्वसः ।  
केनापि ग्रामतडागे अभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम् ॥ ]

फूफो ! किसी ने गाँव के सरोवर में आकाश ( या मेघ ) को उतान कर फेंक दिया है, किन्तु न तो कमलों का मर्दन हुआ और न हंस ही उड़े ॥ १० ॥

केण मणे भग्गमणोरहेण संलाविअं पवासो त्ति ।  
सविसाइँ व अलसाअन्ति जेण बहुआएँ अज्जाइँ ॥ ११ ॥

[ केन मन्ये भग्गमनोरथेन संलापितं प्रवास इति ।  
सविषाणीवालसायन्ते येन न वध्वा अज्जानि ॥ ]

किस अभागे ने प्रवास का नाम ले लिया, जिसे सुनकर बहू के अंग यों शिथिल हो गये हैं जैसे उसे विष दे दिया गया हो ॥ ११ ॥

अज्जावि बालो दामोअरो त्ति इअ जम्पिए जसोआए ।  
कल्हमुहपेसिअच्छं णिहुअं हसिअं वअवहूँहि ॥ १२ ॥

[ अद्यापि बालो दामोदर इति इति जल्पिते यशोदया ।  
कृष्णमुखप्रेषिताक्षं निभृतं हसितं व्रजवधूभिः ॥ ]

“अब भो मेरा ‘दामोदर’ निरा बालक हो है” यशोदा के यह कहने पर व्रज की बधूटियाँ कृष्ण के मुँह पर आँखें डाले घोरे से छिप कर हँस पड़ीं ॥ १२ ॥

ते विरला सप्पुरिसा जाण सिणेहो अहिण्णमुहराओ ।  
अणुदिअह वड्डमाणो रिणं व पुत्तेसु संकमइ ॥ १३ ॥

[ ते विरलाः सत्पुरुषा येषां स्नेहोऽभिन्नमुखरागः ।  
अनुदिवसवर्धमान ऋणमिव पुत्रेषु संकामति ॥ ]

वे सत्पुरुष संसार में कम हैं, जिनका प्रेम मुख की प्रसन्नता में कमी नहीं करता, अनुदिन बढ़ता हुआ ऋण की तरह पुत्रों में संक्रान्त हो जाता है ॥ १३ ॥

**णच्चणसलाहणणिहेण पासपरिसंठिआ णिउणगोवी ।**

**सरिसगोविआणं चुम्बइ कपोलपडिमागअं कण्हं ॥ १४ ॥**

[ नर्तनश्लाघननिभेन पार्श्वपरिसंस्थिता निपुणगोपी ।

सदृशगोपीनां चुम्बति कपोलप्रतिमागतं कृष्णम् ॥ ]

नृत्य की श्लाघा के व्याज से निपुण गोपी पार्श्व में स्थित अपनी सहेली के कपोल पर प्रतिबिंबित कृष्ण को चूम रही है ॥ १४ ॥

**सव्वत्थ दिसामुहपसारिएहिं अण्णोण्णकडअलन्गोहिं ।**

**छल्लिव्व मुअइ विउञ्जो मेहेहिं विसंघडन्तेहिं ॥ १५ ॥**

[ सर्वत्र दिशामुखप्रसूतैरन्योन्यकटकलग्नैः ।

छल्लीमिव मुञ्चति विन्ध्या मेघैर्विसंघटमानैः ॥ ]

एक दूसरे के श्रृंगों से संलग्न एवं दिशाओं में सर्वत्र फँले हुये मेघों के विघटित होने से विन्ध्याचल ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह अपना वल्कल उतार रहा हो ॥ १५ ॥

**आलोअन्ति पुलिन्दा पव्वअसिहरट्टिआ धणुणिसण्णा ।**

**हत्थिउलेहिं व विउञ्जं पूरिज्जन्तं णवब्भेहिं ॥ १६ ॥**

[ आलोकयन्ति पुलिन्दाः पर्वतशिखरस्थिता धनुर्निषण्णाः ।

हस्तिकुलैरिव विन्ध्यं पूर्यमाणं नवाभ्रैः ॥ ]

शैल-श्रृंग पर धनुष टेक कर बैठे हुये पुलिन्द, गजराजों के समूह के समान नवीन मेघों से व्याप्त विन्ध्याचल की छटा देख रहे हैं ॥ १६ ॥

**वणदवमसिमइलङ्गी रेहइ विउञ्जो गणेहिं धवलेहिं ।**

**क्षीरोअमन्थणुच्छलिअदुद्धसित्तो व्व महुमहणो ॥ १७ ॥**

[ वनदवमषीमलिनाङ्गो राजते विन्ध्यो धनैर्धवलैः ।

क्षीरोदमथनोच्छलितदुग्धसिक्त इव मधुमथनः ॥ ]

दावानल के घुघुं से मलिन विन्ध्य शैल शुभ्र मेघमाला से आच्छादित होने पर यों प्रतीत होता है जैसे क्षीरोदमन्थन से उच्छलित दुग्ध में स्नात भगवान् विष्णु ॥ १७ ॥

वन्दीअ णिहअबन्धवविमणाइ वि पक्कला ति चोरजुआ ।

अनुराएण पलोइओँ, गुणेषु को मच्छरं वहइ ॥ १८ ॥

[ वन्द्या निहितबान्धवविमनस्कयापि प्रवोर इति चारयुवा ।

अनुरागेण प्रलोकितो गुणेषु को मत्सरं वहति ॥ ]

बान्धवों की हत्या से उदास वन्दिनी ने भी तरुण चोर को वोर जान कर अनुराग से देखा । गुणों से किसे द्वेष होता है ॥ १८ ॥

अज्ज कइमो वि दिअहो वाहवहू रूवजोव्वणुम्मत्ता ।

सोहगं धणुरुम्पच्छलेण रच्छासु विविकरइ ॥ १९ ॥

[ अद्य कतमोऽपि दिवसो व्याधवधू रूपयौवनोन्मत्ता ।

सौभाग्यं धनुस्तष्टत्वक्छलेन स्थ्यासु विविकरति ॥ ]

आज कितने दिनों से रूप और यौवन से मतवाली व्याधवधू पति द्वारा उठाने में अशक्य धनुष को हल्का करने के लिये छोल कर गिराई हुई किर्च को अपने सौभाग्य के समान गलियों में बिखेर रही है ॥ १९ ॥

उक्खिप्पइ मण्डलिमारुएण गेहङ्गणाहि वाहोए ।

सोहगवअवडाअ वव उअह धणुरुम्परिउछोली ॥ २० ॥

[ उत्क्षिप्यते मण्डलीमारुतेन गेहाङ्गणाद्व्याधस्त्रियाः ।

सौभाग्यध्वजपताकेव पश्यत धनुः सूक्ष्मत्वक्पङ्क्तिः ॥ ]

देखो, व्याध वधू के आँगन से उसके सौभाग्य की पताका के समान धनुष की सूक्ष्म किर्च को मण्डलाकार हवा उड़ा रही है ॥ २० ॥

गअगण्डत्थलणिहसणमअमइलोकअकरञ्जसाहार्हि ।

एत्तीअ कुलहराओ णाणं वाहीअ पइमरणं ॥ २१ ॥

[ गजगण्डस्थलनिघर्षणमदमलिनोक्तकरञ्जशाखाभिः ।

आगच्छन्त्या कुलगृहाज्जातं व्याधस्त्रिया पतिमरणम् ॥ ]

गजों के कपोल-कर्षण से छूटने वाले मद से मलिन करंज की शाखाओं को देख कर नहर से आती हुई व्याध वधू को अपने पति की मृत्यु का आभास मित्र गया ॥ २१ ॥

णववहुपेम्मतणुइओ पणअं पढमघरणोअ रक्खन्तो ।

आलिहिअदुप्परिल्लं पि णेइ रणं धणुं वाहो ॥ २२ ॥



[ नववधूप्रेमतनूकृतः प्रणयं प्रथमगृहिष्या रक्षन् ।  
तनूकृतदुराकर्षमपि नयत्यरण्यं धनुर्व्याधः ॥ ]

नववधू के प्रेम से दुर्बल होने पर भी पहली पत्नी के प्रणय की रक्षा करता हुआ व्याध उसके दिये हुये धनुष को—जो छील डालने पर भी दुराकर्ष था—वन में ले जाया करता था ॥ २२ ॥

**हासाविओ जणो सामलीअ पढमं पसूअमाणाए ।  
वल्लहवाएण अलं मम त्ति बहुसो भणन्तीए ॥ २३ ॥**

[ हासितो जनः श्यामया प्रथमं प्रसूयमानया ।  
वल्लभवादेनालं ममेति बहुशो भणन्त्या ॥ ]

षोडश वर्षीया सुकुमारी ने प्रथम बार प्रसव वेदना से आकुल होकर कहा—“अब मैं पति का नाम भी न लूँगी” यह सुन कर सखियाँ हँस पड़ीं ॥ २३ ॥

**कइअवरहिअं पेम्मं ण त्थि विवअ मामि माणुसे लोए ।  
अइ होइ कस्स विरहो विरहे होत्तमि को जिअइ ॥ २४ ॥**

[ कैतवरहितं प्रेम नास्त्येव मातुलानि मानुषे लोके ।  
अथ भवति कस्य विरहो विरहे भवति को जीवति ॥ ]

सखी ! मनुष्य लोक में निष्कपट प्रेम नहीं है । यदि होता तो किसी का किसी से वियोग कैसे होता ? और यदि होता भी तो कौन जीवित रहता ! ॥ २४ ॥

**अच्छेरं व णिहिं विअसग्गे रज्जं व अमअपाणं व ।  
आसि म्ह तं म्हुत्तं विणिअंसणदंसणं तीए ॥ २५ ॥**

[ आश्चर्यमिव निधिमिव स्वर्गं राज्यमिवामृतपानमिव ।  
आसीदस्माकं तन्मुहूर्तं विनिवसनदर्शनं तस्याः ॥ ]

मैंने जब नितान्त नग्नावस्था में उस सुन्दरी को देखा तब आश्चर्य में पड़ गया, उस क्षण ऐसा लगा जैसे कोई निधि मिल गई है, स्वर्ग का राज्य मिल गया है और अमृत पी लिया है ॥ २५ ॥

**सा तुज्झ वल्लहा तं सि मज्झ वेसो सि तीअ तुज्झ अहं ।  
बालअ फुडं भणामो पेम्मं किर बहुविआरं त्ति ॥ २६ ॥**

[ सा तव वल्लभा त्वमसि मम द्वेष्योऽसि तस्यास्तवाहम ।  
बालक स्फुटं भणामः प्रेम किल बहुविकारमिति ॥ ]

वह तुझे प्रिय है और तू मुझे । वह तुझसे घृणा करती है और तू मुझसे ।  
बालक ! प्रेम में अनेक दोष होते हैं ॥ २६ ॥

अहं लज्जालुङ्घणी तस्स अ उम्मच्छराइँ पेम्माइँ ।

सहिआअणो वि णिउणो अलाहि किं पाअराएण ॥ २७ ॥

[ अहं लज्जालुस्तस्य चोन्मत्सराणि प्रेमाणि ।

सखीजनोऽपि निपुणोऽपगच्छ किं पादरागेण ॥ ]

उनका प्रेम अत्यन्त उत्कट है और मैं लज्जाशील हूँ । सखियाँ भाग्यपूर्ण पट्ट  
हैं, हटो ! मेरे चरणों में यावक मत लगाओ ॥ २७ ॥

मधुमासमारुआहमहूअरझंकारणिअभंरे रण्णे ।

गाअइ विरहक्खराँबद्धपहिअमणमोहणं गोवी ॥ २८ ॥

[ मधुमासमारुताहतमधुकरझंकारनिभंरेऽरण्ये ।

गायति विरहाक्षराबद्धपथिकमनोमोहनं गोपी ॥ ]

वसन्त-पवन से आहत भ्रमरों की झंकार से पूर्ण कानन में कोई गोपी पथिकों  
को मोहने वाला, विरह के अक्षरों से ग्रथित, गीत गा रही है ॥ २८ ॥

तह माणो माणघणाएँ तीअ एमेअ दूरमणुबद्धो ।

जह से अणुणीअ पिओ एककगाम व्विअ पउत्थो ॥ २९ ॥

[ तथा मानो मानधनया तथा एवमेव दूरमनुबद्धः ।

यथा तस्या अनुनीय प्रिय एकग्राम एव प्रोषितः ॥ ]

उस मानधना सुन्दरी का मान अब इतना आगे बढ़ चुका है कि उसका  
प्रिय अनुनय-विनय करते-करते हार कर एक ही गाँव में रहता हुआ भी प्रवासी-  
सा हो गया है ॥ २९ ॥

सालोएँ व्विअ सूरै घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण ।

णैच्छन्तस्स वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स ॥ ३० ॥

[ सालोक एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिनो गृहीत्वा ।

अनिच्छतोऽपि पादौ धावति हसन्ती हसतः ॥ ]

अभी सूर्य का प्रकाश शेष है तो भी हँसती हुई गृहिणी हँसते हुए गृहस्वामि  
का पैर, उसकी अनिच्छा होने पर भी धा रही है ॥ ३० ॥

बाहरउ मं सहीओ तित्सा गोत्तेण किं त्थ भणिण्ण ।

थिरपेम्मा होउ जहिं तहिं पि मा किं पि णं भणइ ॥ ३१ ॥

[ व्याहरतु मां सख्यस्तस्या गोत्रेण किमत्र भणितेन ।

स्थिरप्रेमा भवतु यत्र तत्रापि मा किमप्येनं भणत ॥ ]

वे मुझे सपत्नी के नाम से पुकारते हैं, तो पुकारने दो, सखी ! तुम कुछ मत कहना । उनका प्रेम कहीं भी तो स्थिर हो जाय ॥ ३१ ॥

ह्रअं अच्छीसु ठिअं फरिसो अङ्गेषु जम्पिअं कण्णे ।

ह्रिअअं ह्रिअए णिह्रिअं विओइअं किं त्थ देव्वेण ॥ ३२ ॥

[ रूपमक्ष्णोः स्थितं स्पर्शोऽङ्गेषु जल्पितं कर्णे ।

हृदयं हृदये निहितं वियोजितं किमत्र देवेन ॥ ]

उनका रूप आँखों में, स्पर्श अंगों में, वाणी कानों में और हृदय हृदय में समाया है । देव ने वियोग किसका किया है ? ॥ ३२ ॥

सअणे चिन्तामइअं काऊण पिअं णिमीलिअच्छीए ।

अप्पाणो उवऊढो पसिठिलवलआहिं बाह्राहिं ॥ ३३ ॥

[ शयने चिन्तामयं कृत्वा प्रियं निमीलिताक्ष्या ।

आत्मा उपगूढः प्रशिथिलवलयाभ्यां बाहूभ्याम् ॥ ]

विरहिणी ने ध्यानावस्था में शैया पर प्रिय की कल्पना कर आँखें बन्द कर लीं, फिर जिनके कंकण शिथिल हो चुके थे उन भुजाओं से केवल अपना ही आलिंगन करके रह गई ॥ ३३ ॥

परिहूएण वि दिअहं घरघरभमिरेण अण्णकज्जम्मि ।

चिरजीविएण इमिणा खविअहो दड्ढकाएण ॥ ३४ ॥

[ परिभूतेनापि दिवसं गृहगृहभ्रमणशीलेनान्यकार्ये ।

चिरजीवितेनानेन क्षपिताः स्मो दग्धकायेन ॥ ]

अपमानित होकर भी पराये कार्य के लिये एक घर से दूसरे घर में घूमने वाले अन्नलोभी कौए के समान मैं अपने दीर्घजीवी पापी शरीर से ऊब गई ॥ ३४ ॥

वसइ जहिं चेअ खलो पोसिज्जन्तो सिणेहदाणेहिं ।

तं चेअ आलअं दीअओ व्व अइरेण मइलेइ ॥ ३५ ॥

[ वसति तत्रैव खलः पोष्यमाणः स्नेहदानैः ।  
तमेवालयं दीपक इवाचिरेण मलिनयति ॥ ]

कुष्ठ मनुष्य दीपक की तरह जहाँ भी स्नेहदान ( प्रेम या तेल ) से पुष्ट होता है, उसी गृह को मलिन कर देता है ॥ ३५ ॥

होन्ती वि णिष्फलच्चिअ धणरिद्धी होइ किंविणपुरिसस्स ।

गिह्याअवसंतत्तस्स णिअअच्छाहि व्व पहिअस्स ॥ ३६ ॥

[ भवन्त्यपि निष्फलैव धनऋद्धिर्भवति कृपणपुरुषस्य ।  
ग्रीष्मातपसंतप्तस्य निजकच्छायेव पथिकस्य ॥ ]

कृपण पुरुष के पास धन सम्पत्ति रहने पर भी वैसे ही व्यर्थ हो जाती है जैसे ग्रीष्म के आतप से संतप्त पथिक की परछाईं ॥ ३६ ॥

फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओ ज्ज ता सुइरं ।

संमीलिअ दाहिणअं तुइ अबि एहं पलोइस्सं ॥ ३७ ॥

[ स्फुरिते वामाक्षि त्वयि यद्येष्यति स प्रियोऽद्य तत्सुचिरम् ।  
संमील्य दक्षिणं त्वयैवैतं प्रेक्षिष्ये ॥ ]

अरी बायीं आँख ! यदि तेरे फड़कने पर मेरे परदेशी घर आ जायेंगे तो दाहिनी आँख मूँद कर तुझसे ही उन्हें देर तक निहारती रहूँगी ॥ ३७ ॥

सुत्तअपउरम्मि गामे हिण्डन्ती तुह कएण सा बाला ।

पासअसारिक्ख घरं घरेण कइआ वि खज्जिहिइं ॥ ३८ ॥

[ शुनकप्रचुरे ग्रामे हिण्डमाना तव कृतेन सा बाला ।  
पाशकशारीव गृहं गृहेण कदापि खादिष्यते ॥ ]

प्रचुर कुत्तों वाले गाँव में तुम्हारे लिये चौपड़ की सार की तरह एक घर से दूसरे घर में भटकती हुई वह बाला पाशबद्ध सारिका की भाँति कभी-न-कभी खा बाली जायगी ॥ ३८ ॥

अण्णणं कुसुमरसं जं किर सो महइ महुअरो पाउं ।

तं णिरसाणं दोसो कुसुमाणं णेअ भमरस्स ॥ ३९ ॥

[ अन्यमन्यं कुसुमरसं यत्किल स इच्छति मधुकरः पातुम् ।  
तन्नीरसानां दोषः कुसुमानां नैव भ्रमरस्य ॥ ]

भ्रमर एक पुष्प को त्याग कर रसपान की इच्छा से अन्य पुष्प पर बैठ जाता है—यह नीरस पुष्पों का ही दोष है, भ्रमर का नहीं ॥ ३९ ॥

**रत्थापद्मणगणपुपला तुमं सा पडिच्छए एन्तं ।**

**दारणिहिएहिं दोहिं वि मङ्गलकलसेहिं व थणोहि ॥ ४० ॥**

[ रथ्याप्रकीर्णनयनोत्पला त्वां सा प्रतीक्ष्यते आयान्तम् ।

द्वारनिहिताभ्यां द्वाभ्यामपि मङ्गलकलशाभ्यामिव स्तनाभ्याम् ॥ ]

रथ्या के भीतर कमल-सी सुन्दर आँखें बिछाये वह तुम्हारी प्रतीक्षा करती है। उसके दोनों पयोधर द्वार पर रखे मंगलकलश के समान प्रतीत होते हैं ॥ ४० ॥

**ता रुणं जा रुव्वइ ता छीणं जाव छिज्जए अङ्गं ।**

**ता णीससिअं वराइअ जाव अ सासा पट्टप्पन्ति ॥ ४१ ॥**

[ तावद्रुदितं यावद्रुद्यते तावत्क्षीणं यावत्क्षीयतेऽङ्गम् ।

तावन्नःश्वसितं वराक्या यावत् [ च ] श्वासाः प्रभवन्ति ॥ ]

वह दुःखिनी जितना रो सकी, रोई, जितना दुर्बल हो सकी, हुई, और जितना हो सका उतनी लम्बी साँसें ले चुकी है ॥ ४१ ॥

**समसोक्खदुक्खपरिवड्ढिआणं कालेण रुढपेम्माणं ।**

**मिहुणाणं मरइ जं तं खु जिअइ इअरं मुअं होइ ॥ ४२ ॥**

[ समसोख्यदुःखपरिवर्धितयोः कालेन रुढप्रेम्णोः ।

मिथुनयोऽन्यते यत्तस्खलु जीवति इतरन्मृतं भवति ॥ ]

जो अपना सुख-दुःख एक मान कर रहते आये हैं और समय पाकर जिनका प्रेम पूर्ण पल्लवित हो चुका है, उन दम्पतियों में जिसकी मृत्यु पहले हो जाती है वह तो जीवित रहता है और जो जीवित रहता है, उसकी मृत्यु हो जाती है ॥ ४२ ॥

**हरिहिइ पिअस्स णवचूअपल्लवौ पढममञ्जरिसणाहो ।**

**मा रुवसु पुत्ति पत्थाणकलसमुहसंठिओ गमणं ॥ ४३ ॥**

[ हरिष्यति प्रियस्य नवचूतपल्लवः प्रथममञ्जरीसनाथः ।

मा रोदीः पुत्रि प्रस्थानकलशामुखसंस्थितो गमनम् ॥ ]

रोती क्यों हो बेटी ? प्रयाण के समय मंगल-घट पर रखा हुआ नई मंजरी से युक्त रसाल पल्लव ही प्रिय को परदेश न जाने देगा ॥ ४३ ॥

जो कहँ वि मह सहीँहि छिदं लहिऊण पसिओ हिअए ।  
सो माणो चोरिअकामुअ व्व दिट्ठे पिए णट्ठो ॥४४॥

[ यः कथमपि मम सखीभिश्छिद्रं लब्ध्वा प्रवेशितो हृदये ।  
स मानश्चोरकामुक इव दृष्टे प्रिये नष्टः ॥ ]

सहेलियों ने किसी प्रकार छिद्र देख कर जिसे मेरे हृदय में बैठा दिया था,  
वही मान प्रिय को देखते ही चोर—कामुक की भाँति न जाने कहाँ सरक  
गया ॥ ४४ ॥

सहिआहिँ भण्णमाणा थणए लग्गं कुसुम्भपुष्पं त्ति ।  
मुद्धबहुआ हसिज्जइ पप्फोडन्ती णहवआइँ ॥ ४५ ॥

[ सखीभिर्भण्यमाना स्तने लग्नं कुसुम्भपुष्पमिति ।  
मुग्धवधूर्हस्यते प्रस्फोटयन्ती नखपदानि ॥ ]

सखियों ने कहा—“तेरे स्तन पर कुसुम्भ पुष्प लगा है।” यह सुनकर  
मुग्धा-वधू जब नखचिह्न को झाड़ने लगी तब वे सखियाँ हँस पड़ीं ॥ ४५ ॥

उन्मूलेन्ति व हिअअं इमाइँ रे तुह विरज्जमाणस्स ।  
अवहीरणवसविसंठुलवलन्तणअणद्धदिट्ठाइँ ॥ ४६ ॥

[ उन्मूलयन्तीव हृदयं इमानि रे तव विरज्यमानस्य ।  
अवधोरणवशविसंठुलवलन्नयनार्धदृष्टानि ॥ ]

मुझसे विरक्त होनेवाले ! तेरे नयनों की अनादर के कारण शून्य, पराङ्मुख  
एवं विवर्तित अधूरी दृष्टियाँ मेरे हृदय को उन्मूलित कर रही हैं ॥ ४६ ॥

ण मुअन्ति दीहसासं ण रुअन्ति चिरं ण होंन्ति किसिआओ ।  
घण्णाओ ताओ जाणं बहुवल्लह वल्लहो ण तुमं ॥४७॥

[ न मुञ्चन्ति दीर्घश्वासान् रुदन्ति चिरं न भवन्ति कृशाः ।  
धन्यास्ता यासां बहुवल्लभ वल्लभो न त्वम् ॥ ]

वे देवियाँ धन्य हैं, जिन्होंने तुम्हारे जैसे बहुवल्लभ पुरुष से प्रेम नहीं किया  
है । वे न तो दीर्घ उच्छ्वास ही छोड़ती हैं, न देर तक रोती हैं और न दुर्बल ही  
होती हैं ॥ ४७ ॥

णिहालसपरिघुम्मिरतंसवलन्तद्धतारआलोआ ।  
कामस्स वि दुव्विसहा दिट्ठिणिआवा ससिमुहीए ॥ ४८ ॥

[ निद्रालसपरिघूर्णनशीलतिर्यग्बलदर्धतारकालोकाः ।  
कामस्यापि दुर्विषहा दृष्टिनिपाताः शशिमुख्याः ॥ ]

निद्रा के आलस्य से आघूर्णित, तिर्यक् चलने वाली आधी पुतलियों की चपल चितवन वाले तेरे कटाक्ष अनंग के लिये भी असह्य हैं ॥ ४८ ॥

**जीविअसेसाइ मए गमिआ कहँ कहँ वि पेम्मदुहोली ।**

**एण्ह विरमसु रे डद्धहिअअ मा रज्जसु कहि पि ॥ ४९ ॥**

[ जीवितशेषया मया गमिता कथं कथमपि प्रेमदुर्दोली ।

इदानीं विरम रे दग्धहृदय मा रज्यस्व कुत्रापि ॥ ]

इतने दिनों से किसी प्रकार प्रणय की ग्रंथि सम्भालती आ रही हूँ । मेरे प्राण-मात्र शेष रह गये हैं । हृदय ! अब तुम रुक जाओ, कहीं भी अनुरक्त मत होना ॥ ४९ ॥

**अज्जाएँ णवणहवस्सअणिरीक्खणे गरुअजोव्वणुत्तुङ्गं ।**

**पडिमागअणिअणअणुप्पलच्चिअं होइ थणवट्ठं ॥ ५० ॥**

[ आर्याया नवनखक्षतनिरीक्षणे गुर्यौवनोत्तुङ्गम् ।

प्रतिमागतनिजनयनोत्पलाचितं भवति स्तनपृष्ठम् ॥ ]

प्रगाढ़ यौवन से उन्नत पयोधर पर अंकित नवीन नख-चिह्न को देखते समय उस पर नायिका के नेत्रों का प्रतिबिम्ब पड़ने से ऐसा लगता था जैसे दो कमलों से उसकी अर्चना की गई हो ॥ ५० ॥

**तं णमह जस्स वच्छे लच्छिमुहं कोत्थहम्मि संकन्तं ।**

**दोसइ मअपरिहीणं ससिबिम्बं सूरबिम्ब व्व ॥ ५१ ॥**

[ तं नमत यस्य वक्षसि लक्ष्मोमुखं कौस्तुभे संक्रान्तम् ।

दृश्यते मृगपरिहीनं शशिविम्बं सूर्यबिम्ब इव ॥ ]

जिसके वक्षस्थल पर कौस्तुभमणि में प्रतिबिम्बित लक्ष्मी का मुख रविमण्डल में प्रविष्ट निष्कलंक चन्द्र सा प्रतीत होने लगता है, उसे नमस्कार कीजिये ॥ ५१ ॥

**मा कुण पडिवक्खसुहं अणुणेहि पिअं पसाअलोहिल्लं ।**

**अइगहिअगरुअमाणेण पुत्ति रासि व्व छिज्जिहिसि ॥ ५२ ॥**

[ मा कुरु प्रतिपक्षसुखमनुनथ प्रियं प्रसादलोभयुतम् ।

अतिगृहीतगुरुकमानेन पुत्रि राशिरिव क्षीणा भविष्यसि ॥ ]

प्रसाद—लोभी प्रियतम का अनुनय करो । प्रतिपक्षियों को प्रसन्न होने का अवसर मत दो । तुम भारी मान से अन्न की राशि के समान क्षीण हो जाओगी ॥ ५२ ॥

**विरहकरवत्तदूसहफालिज्जन्तम्मि तीअ ह्मिअम्मि ।**

**अंसू कज्जलमइलं प्रमाणसुत्तं व्व पडिहाइ ॥ ५३ ॥**

[ विरहकरपत्रदुःसहपाठ्यमाने तस्या हृदये ।

अश्रु कज्जलमलिनं प्रमाणसूत्रमिव प्रतिभाति ॥ ]

विरहरूपी आरी से चीरते समय उसके श्वक्ष पर बहती हुई अंजन-मिश्रित अश्रुधारा प्रमाणसूत्र सो प्रतीत होती है ॥ ५३ ॥

**दुण्णिक्खेवअमेअं पुत्तअ मा साहसं करिज्जासु ।**

**एत्थ णिहिताइँ मण्णे ह्मिअआइँ पुण्णे ण लब्भन्ति ॥ ५४ ॥**

[ दुर्निक्षेपकमेतत्पुत्रक मा साहसं करिष्यसि ।

अत्र निहितानि मन्ये हृदयानि पुनर्न लभ्यन्ते ॥ ]

उसके पास हृदय रूपी धरोहर रखने का दुस्साहस मत करो । बेटा ! यहाँ रखे हुए हृदय फिर वापस नहीं मिलते ॥ ५४ ॥

**णिव्वुत्तरआ वि व्हू सुरअविरामट्टिइँ अआणन्तो ।**

**अविरअहिअआ अण्णं पि किं पि अत्थि त्ति चिन्तेइ ॥ ५५ ॥**

[ निवृत्तरतापि वधूः सुरतविरामस्थितिमजानंती ।

अविरतहृदयान्यदपि किमप्यस्तीति चिन्तयति ॥ ]

रति के समाप्त हो जाने पर भी, उसकी समाप्ति कैसे की जाती है, यह न जानने वाली वधू का अनुरक्त हृदय विराम नहीं ले रहा था । वह सोचती थी शायद अभी कुछ और शेष है ॥ ५५ ॥

**णन्दन्तु सुरअसुहरसतह्लावहराइँ सअललोअस्स ।**

**बहुकैअवमग्गविणिम्मिआइँ वेसाणँ पेम्माइँ ॥ ५६ ॥**

[ नन्दन्तु सुरतमुखरसतृष्णापहराणि सकललोकस्य ।

बहुकैतवमार्गविनिमितानि वेश्यानां प्रेमाणि ॥ ]

जो सभी प्रकार के लोगों की सुरत—काम-क्रीड़ा को शान्त करते हैं तथा जिनका निर्माण छल-पाखंड से पूर्ण है, वारांगनाओं की वे प्रेम-क्रीड़ाएँ सदैव विजयो हैं ॥ ५६ ॥



अप्पत्तमण्णुदुक्खो किं मं किसिअत्ति पुच्छसि हसन्तो ।

पावसि जइ चलचित्तं पिअं जणं ता तुह कहिस्सं ॥५७॥

[ अप्राप्तमन्युदुःख किं मां कृशेति पृच्छसि हसन् ।  
प्राप्स्यसि यदि चलचित्तं प्रियं जनं तदा तव कथयिष्यामि ॥ ]

तुम दुबली हो—यह हँसकर क्यों पूछ रही हो ? तुमने पराई पीर का अनुभव ही कब किया है ? जिस दिन किसी चंचल चित्त वाले प्रेमी से तुम्हारी भेंट हो जायगी तो बता दूँगी ॥ ५७ ॥

अवहत्थिरुण सहिजम्पिआइँ-जाणं कएण रमिओसि ।

एआइँ ताइँ सोक्खाइँ संसओ जेहिँ जीअस्स ॥ ५८ ॥

[ अपहृस्तयित्वा सखीजल्पितानि येषां कृते न रमितोऽसि ।  
एतानि तानि सैख्यानि संशोय यैर्जोवस्य ॥ ]

सखियों की बातें न मान कर, जिनके लिये तुमसे रमण किया था, मेरे प्राणों को संशय में डालने वाले ये वे ही सुख हैं ॥ ५८ ॥

ईसालुओ पई से रत्ति महुअं ण देइ उच्चेउं ।

उच्चेइ अप्पण च्चिअ माए अइउज्जुअसुहाओ ॥ ५९ ॥

[ ईर्ष्याशीलः पतिस्तस्या रात्रौ मधूकं न ददात्युच्चेतुम् ।  
उच्चिनोत्यात्मनैव मातरतिऋजुकस्वभावः ॥ ]

उसका ईर्ष्यालु पति उसे रात को मधूक-पुष्प का चयन नहीं करने देता । वह इतना सरल-स्वभावी है कि स्वयं चुन लेता है ॥ ५९ ॥

अच्छोडिअवत्थद्धन्तपत्थिए मन्थरं तुमं वच्च ।

चिन्तेसिन्थणहराआसिअस्स मज्झस्स वि ण भङ्गं ॥ ६० ॥

[ बलादाकृष्टवस्त्रार्धान्तप्रस्थिते मन्थरं त्वं व्रज ।  
चिन्तयसि स्तनभरायासितस्य मध्यस्यापि न भङ्गम् ॥ ]

बलात् अंचल का छोर छुड़ा कर जाने वाली ! धीरे-धीरे जाओ । क्या तुम्हें अपनी कटि की चिन्ता नहीं है, जो पयोधरों के भार से दब कर टूट जायगी ? ॥ ६० ॥

उद्धच्छो पिअइँ जलं जह जह विरलङ्गुली चिरं पहिओ ।

पावालिया वि तह तह धारं तणुइं पि तणुएइ ॥ ६१ ॥

[ ऊर्ध्वाक्षः पिबति जलं यथा यथा विरलाङ्गुलिश्चिरं पथिकः ।  
प्रपापालिकापि तथा तथा धारां तनुकामपि तनूकरोति ॥ ]

तृषित पथिक आँखें ऊपर किये शिथिल अंजलि से पानी पीने में जैसे-जैसे विलम्ब करता जाता था वैसे-वैसे पिलाने वाली भी पानी की पतली धार और भी पतली करती जा रही है ॥ ६१ ॥

**भिच्छाअरो पेच्छइ णाहिमण्डलं सावि तस्स मुहअन्दं ।**

**तं चटुअं अ. करङ्कं दोह्व वि काआ विलुम्पन्ति ॥ ६२ ॥**

[ भिक्षाचरः प्रेक्षते नाभिमण्डलं सापि तस्य मुखचन्द्रम् ।  
तच्चटुकं च करङ्कं द्वयोरपि काका विलुम्पन्ति ॥ ]

भिक्षुक वधू की अघखुली नाभि को निहार रहा है और वह उसके मुख चन्द्र को । इस तन्मयता में उनके कलघो और भिक्षापात्र का अन्न कौए खा गये है ॥ ६२ ॥

**जेण विणा ण जिविज्जइ अणुणिज्जइ सो कआवराहो वि ।**

**पत्ते वि णअरदाहे भण कस्स ण वल्लहो अगो ॥ ६३ ॥**

[ येन विना न जीव्यतेऽनुनीयते स कृतापराधोऽपि ।  
प्राप्तेऽपि नगरदाहे भण कस्य न वल्लभोऽग्निः ॥ ]

जिसके बिना जीवित रहना ही कठिन है, अपराध करने पर भी उसका अनुनय करना ही पड़ता है । सारे नगर को जला कर भस्म कर देने वाली आग किसे प्रिय नहीं होती ? ॥ ६३ ॥

**वक्कं को पुलइज्जउ कस्स कहिज्जउ सुहं व दुक्खं वा ।**

**केण समं व हसिज्जउ पामरपउरे हअगामे ॥ ६४ ॥**

[ वक्रं कः प्रलोक्यतां कस्य कथ्यतां सुख वा दुःखं वा ।  
केन समं वा हस्यतां पामरप्रचुरे हतग्रामे ॥ ]

वक्रवृष्टि से किसे देखें ? किससे सुख-दुख कहें ? दुष्टों के इस पापी गाँव में किससे हास-परिहास करें ॥ ६४ ॥

**फलहीवाहणपुण्णाहमङ्गलं लङ्गले कुणन्तीए ।**

**असईअ मणोरहवभिणीअ हत्था थरहरन्ति ॥ ६५ ॥**

[ कार्पासीक्षेत्रकर्षणपुण्याहमङ्गलं लाङ्गले कुर्वत्याः ।  
असत्या मनोरथगभिण्या हस्ती धरधरायेते ॥ ]

कपास का खेत जोतने के शुभ दिन, हल पर मांगलिक आलेपन करने वाली कुलटा के हाथ भविष्य की अनेक आकांक्षाओं की कल्पना से काँप उठे ॥ ६५ ॥

**पहिउल्लूरणसङ्काउलाहिँ असईहिँ वहलतिमिरस्स ।  
आइप्पणेण णिहुअं वडस्स सित्ताइँ पत्ताइँ ॥ ६६ ॥**

[ पथिकच्छेदनशङ्काकुलाभिरसतीभिर्बहलतिमिरस्य ।  
आलेपनेन निभृतं वटस्य सिक्तानि पत्राणि ॥ ]

टिकने वाले बटोही उसके पत्ते तोड़ न डाले—इस आशंका से कुलटा स्त्रियों ने अन्धकारमय वटवृक्ष के समस्त पत्तों पर लेप लगा दिया ॥ ६६ ॥

**भञ्जन्तस्स वि तुह सग्गगामिणो णइकरञ्जसाहाओ ।  
पाआ अज्ज वि धम्मिअ तुह कहँ धरणि विह छिवन्ति ॥ ६७ ॥**

[ भञ्जतोऽपि तव स्वर्गगामिणो नदीकरञ्जशाखाः ।  
पादावद्यापि धामिक तव कथं धरणीमेव स्पृशतः ॥ ]

ऐंडी उठा कर नदी-किनारे की करंज शाखा तोड़ने वाले पुजारी ! जान पड़ता है तुम अभी स्वर्ग चले जाओगे किन्तु पता नहीं अब भी तुम्हारे चरण पृथ्वी का ही स्पर्श क्यों कर रहे हैं ? ॥ ६७ ॥

**अच्छउ दाव मणहरं पिआइ मुहदंसणं अइमहग्घं ।  
तग्गामछेत्तसीमा वि झत्ति दिट्ठा सुहावेइ ॥ ६८ ॥**

[ अस्तु तावन्मनोहरं प्रियाया मुखदर्शनमतिमहार्घम् ।  
तद्ग्रामक्षेत्रसीमापि झटिति दृष्टा सुखयति ॥ ]

प्रिया के मुख के अमूल्य और मनोहर दर्शन दूर रहे, उसके गाँव के खेतों की सीमा को भी सहसा देखकर मैं आनन्द-मग्न हो जाता हूँ ॥ ६८ ॥

**णिवक्कम्महिँ वि छेत्ताहिँ पामरो णेअ वचचए वसइँ ।  
मुअपिअजाआसुण्णइअगेहदुःखं परिहरन्तो ॥ ६९ ॥**

[ निष्कर्मणोऽपि क्षेत्रात्पामरो नैव व्रजति वसतिम् ।  
मृतप्रियजायाशून्यीकृतगेहदुःखं परिहरन् ॥ ]

खेत में कोई काम न होने पर भी कृषक इसलिये लौट कर नहीं आता कि  
द्विवंगता प्रिय पत्नी से शून्य गृह को देख कर उसे शोक होगा ॥ ६९ ॥

**जज्ञावाउत्तिणिअघरविवरपलोट्टसलिलधाराहिं ।**

**कुडुलिहिओहिअहं रक्खइ अज्जा करअर्लेहि ॥ ७० ॥**

[ जज्ञावातोत्तृणोक्तगृहविवरप्रपतत्सलिलधाराभिः ।

कुडयलिखितावधिदिवसं रक्षत्यार्या करतलः ॥ ]

जज्ञावात से जिसकी फूस की छाजन उड़ गई है, उस घर में दीवार पर  
लिखी हुई परदेशी के आगमन की अवधि को, दीन विरहिणी अपने दोनों हाथों  
से ढक कर छिद्रों से चूती हुई जलघार से बचा रहती है ॥ ७० ॥

**गोलाणइए कच्छे चक्खन्तो राइआइ पत्ताइं ।**

**उप्फडइ मक्कडो खोक्खएइ पोट्टं अ पिट्टेइ ॥ ७१ ॥**

[ गोदावरी नद्याः कच्छे चर्वयन्राजिकायाः पत्राणि ।

उत्पतति मर्कटः खोक्खशब्दं करोत्युदरं च ताडयति ॥ ]

गोदावरी की कछार में राई के पत्तों को चबाता हुआ बंदर कूदता हुआ  
'खोक्खो' शब्द कर अपना पेट पीट रहा है ॥ ७१ ॥

**गह्वइणा मुअसैरिहडुण्डुअदामं चिरं वहेऊण ।**

**वग्गसआइं णेउण गवरिअ अज्जाघरे बद्धं ॥ ७२ ॥**

[ गृहपतिना मृतसैरिभवृहद्वण्टादाम चिरमूढ्वा ।

वर्गशतानि नीत्वानन्तरमार्यागृहे बद्धम् ॥ ]

गृहस्वामी ने मृत भैंसे के गले से पुरानी घंटो उतार कर रख दी। सैकड़ों  
भैंसों के झुण्ड में ले गया और अन्त में उसे भवानी के मंदिर में बाँध  
दिया ॥ ७२ ॥

**सिहिपेहुणावअंसा बहुआ वाहस्स गव्विरी भमइ ।**

**गअमोत्तिअरइअपसाहणाणं मज्झे सवत्तोणं ॥ ७३ ॥**

[ सिखिपिच्छावत्तंसा वधूर्व्याधस्य गर्विता भ्रमति ।

गजमौक्तिकरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम् ॥ ]

जिन्होंने गजमुक्ताओं से शृंगार किया था, उन सपत्नियों में मयूर-पुच्छ  
का आभूषण धारण करने वाली व्याघ्रवध गर्व से फिरती है ॥ ७३ ॥

वङ्कच्छिपेच्छरीणं उङ्कल्लविरीणं वङ्कभमिरीणं ।

उङ्कुहसिरीणं पुत्तअ पुण्णेहिं जणो पिओ होइ ॥ ७४ ॥

[ वक्राक्षिप्रेक्षणशीलानां वक्रोल्लपनशीलानां वक्रभ्रमणशीलानाम् ।

वक्रहासशीलानां पुत्रक पुण्यैर्जनः प्रियो भवति ॥ ]

जो टेढ़ा देखती हैं, टेढ़ा बोलती हैं, टेढ़ा चलतो हैं और टेढ़ा ही परिहास करती हैं, उन महिलाओं का प्रेम पुण्य से ही कोई पुरुष प्राप्त कर पाता है ॥ ७४ ॥

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।

गोलाअडविअडकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥ ७५ ॥

[ भ्रम धार्मिक विस्त्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।

गोदातटविकटकुकुञ्जवासिना दृत्सिहेन ॥ ]

अरे पुजारी ! निर्भय होकर विचरण करो, उस कुत्ते को गोदावरी तट के घने कुंज में रहने वाले अभिमानी सिंह ने आज मार डाला ॥ ७५ ॥

वाएरिएण भरिअं अच्छि कणऊरउप्पलरण ।

फुवकन्तो अविइल्लं चुम्बन्तो को सि देवाणं ॥ ७६ ॥

[ वातेरितेन भूतमक्षि कर्णपूरोत्पलरजसा ।

फूत्कुर्वन्नवितृष्णं चुम्बन्कोऽसि देवानाम् ॥ ]

सुन्दरी के नेत्रों में मारुत कम्पित कर्णोत्पल का पराग पड़ जाने पर मुख से फूँक कर निकालते हुए अतृप्त चुम्बन करने वाले तुम देवताओं में कौन हो ॥ ७६ ॥

सहि दुम्मेन्ति कलम्बाइं जह मं तह ण सेसकुसुमाइं ।

णूणं इमेसु दिअहेसु वहइ गुडिआधणुं कामो ॥ ७७ ॥

[ सखि व्यथयन्ति कदम्बानि यथा मां तथा न शेषकुसुमानि ।

नूनमेषु दिवसेषु वहति गुटिकाधनुः कामः ॥ ]

सखी ! ये कदम्ब मुझे जितना व्यथित करते हैं, उतना अन्य पुष्प नहीं । अवश्य इन दिनों कामदेव अपने हाथों में गुल्ले धारण करता है ॥ ७७ ॥

णाहं दूई ण तुमं पिओ त्ति को अम्ह एत्थ वावारो ।

सा मरइ तुज्झ अअसो तेण अ धम्मवखरं भणिमो ॥ ७८ ॥

[ नाहं दूती न त्वं प्रिय इति कोऽस्माकमत्र व्यापारः ।

सा म्रियते तवायशस्तेन च धर्माक्षरं भणामः ॥ ]

मैं न तो दूती हूँ और न तुम प्रेमी हो । मेरा यहाँ कोई प्रयोजन भी नहीं है । वह मर रही है, तुम्हें अपयश होगा, इसलिये धर्म की बात कहती हूँ ॥ ७८ ॥

**तीअ मुहाहिं तुह मुहँ तुज्जा मुहाओ अ मज्झ चलणम्मि ।**

**हत्थाहत्थीअ गओ अइदुवकरआरओ तिलओ ॥ ७९ ॥**

[ तस्या मुखात्तव मुखं तव मुखाच्च मम चरणे ।

हस्ताहस्तिकया गतोऽतिदुष्करकारकस्तिलकः ॥ ]

अत्यन्त दुष्कर कार्य करने वाला यह तिलक उसके मुख से तुम्हारे मुख पर और तुम्हारे मुख से मेरे चरणों पर हाथों हाथ आ गया है ॥ ७९ ॥

**सामाइ सामलिज्जइ अद्धच्छिपलोइरीअ मुहसोहा ।**

**जम्बूदलकअकण्णावअंसभरिए हल्लिअपुत्ते ॥ ८० ॥**

[ श्यामायाः श्यामलायतेऽर्धाक्षिप्रलोकनशीलाया मुखशोभा ।

जम्बूदलकृतकर्णावतंसमभ्रमणशीले हल्लिकपुत्रे ॥ ]

जम्बू-पत्र का कर्णाभरण धारण कर विचरते हुए नवयुवक किसान को आधी चितवन से देखकर षोडशी वाला के मुख की कान्ति श्याम हो गई ॥ ८० ॥

**दूइ तुमं विअ कुसला कक्खमउआइँ जाणसे वोल्लु ।**

**कण्डूहअपण्डुरँ जह ण ल्लोई तह तं करेज्जासु ॥ ८१ ॥**

[ दूति त्वमेव कुशला कर्कशमृदुकानि जानासि वक्तुम् ।

कण्डूयितपाण्डुरं यथा न भवति तथा तं करिष्यसि ॥ ]

दूती ! तुम कुशल हो, कठोर और मृदु बोलना जानती हो । अब उसको कुछ ऐसा करो, जिससे खुजली भा दूर हो जाये और चमड़ा भी विरूप न हो ॥ ८१ ॥

**महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुअह सा अमाअन्ती ।**

**दिअहं अणणकम्मा अङ्गं तणुअं पि तणुएइ ॥ ८२ ॥**

[ महिलासहस्रभृते तव हृदये सुभग सा अमान्ती ।

दिवसमनन्यकर्मा अङ्गं तनुकमपि तनूकरोति ॥ ]

तुम्हारे हृदय में, जहाँ हजारों महिलायें भरी हुई हैं, अपने लिये पर्याप्त स्थान न पाकर वह तन्वंगी दिन भर सब काम छोड़कर अपने पहले से ही दुर्बल शरीर को और भी दुर्बल करती जा रही है ॥ ८२ ॥

**क्षणमेत्तं पि ण फिट्ठइ अणुदिअह्विह्वण्णगरुअसंतावा ।**

**पच्छण्णपावसङ्के व्व सामली मज्झ हिअआओ ॥ ८३ ॥**

[ क्षणमात्रमपि नापयात्यनुदिवसवित्तीर्णगुरुकसंतापा ।

प्रच्छन्नपापशङ्केव श्यामला मम हृदयात् ॥ ]

गुप्त पाप की शंका के समान प्रतिदिन प्रचण्ड संताप प्रदान करने वाली प्रिया क्षणभर भी मेरे हृदय से दूर नहीं होती ॥ ८३ ॥

**अज्जअ णाहं कुविआ अबऊहसु किं मुहा पसाएसि ।**

**तुह मण्णुसमुप्पाअएण मज्झ माणेण वि ण कज्जं ॥ ८४ ॥**

[ अयं क नाहं कुपिता उपगूह किं मुधा प्रसादयसि ।

तव मन्युसमुत्पादकेन मम मानेनापि न कार्यम् ॥ ]

स्वामी ! ( अयं क ) व्यर्थ क्यों मुझे प्रसन्न कर रहे हो ? निर्भय आलिंगन करो । मैं कुपित नहीं हूँ । तुम्हें दुःख देने वाले मान से भी मेरा अब कोई प्रयोजन नहीं रह गया ॥ ८४ ॥

**दीहुल्लपउरणीसासपआविओ वाहसलिलपरिसित्तो ।**

**साहेइ सामसवलं व तीएँ अहरो तुह विओए ॥ ८५ ॥**

[ दीर्घोष्णप्रचुरनिःश्वासप्रतप्तो बाष्पसलिलपरिसिक्तः ।

साधयति श्यामशबलमिव तस्या अधरस्तव वियोगे ॥ ]

जो दीर्घ और ऊष्ण श्वासों से संतप्त हो गया है तथा जो, अश्रु जल से सिक्त हो गया है, वह विरहिणी का अधर मानों तेरे वियोग में 'श्याम-शबल' ( व्रत विशेष ) की साधना कर रहा है ॥ ८५ ॥

**सरए महद्धदाणं अन्ते सिसिराई वाहिरुल्लाई ।**

**जाआई कुविअसज्जणहिअअसरिच्छाई सलिलाई ॥ ८६ ॥**

[ शरदि महाहृदानामन्तः शिशिराणि बहिरुष्णानि ।

जातानि कुपितसज्जनहृदयसदृक्षाणि सलिलानि ॥ ]

शरत्काल में सरोवरों का जल कुपित सज्जनों के हृदय की भाँति ऊपर गर्म होने पर भी भीतर शीतल हो गया है ॥ ८६ ॥

आअस्स कि णु करिहिम्मि किं बोलिस्स कहं णु होइहि इमिति ।  
पढमुग्गअसाहसआरिआइ हिअअं थरहरेइ ॥ ८७ ॥

[ आगतस्य किं नु करिष्यामि किं वक्ष्यामि कथं नु भविष्यति [इदम्] इति ।  
प्रथमोद्गतसाहसकारिकाया हृदयं थरथरायते ॥ ]

उनके आने पर क्या कहूँगी ? क्या कहूँगी ? कैसे होगा ? यह सोचते ही  
पहली बार साहस करने वाली अभिसारिका का हृदय घड़कने लगता है ॥ ८७ ॥ ]

णेउरकोडिविअगं च्चिउरं दइअस्स पाअपडिअस्स ।

हिअअं पउत्थमाणं उम्मोअन्ती विअ कहेइ ॥ ८८ ॥

[ नूपुरकोटिविलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य ।

हृदयं प्रोषितमानमुन्मोचयन्त्येव कथयति ॥ ]

चरणों पर गिरे हुए प्रिय के बालों को—जो नूपुर की कोटि में फँस गये  
थे—मुक्त करती हुई चन्द्रमुखी ने बतला दिया कि अब उसके हृदय से मान  
निकल गया है ॥ ८८ ॥

तुज्झङ्गराअसेसेण सामली तह खरेण सोमारा ।

सा किर गोलाऊले ल्लाआ जम्बूकसाएण ॥ ८९ ॥

[ तवाङ्गराग शेषेण श्यामला तथा खरेण सुकुमारा ।

सा किल गोदाकूले स्नाता जम्बूकषायेण ॥ ]

गोदावरी के किनारे तुम्हारे लगाने से बचे हुए उतने तोखे जामुन के अंग-  
राग से सुकुमारी श्यामांगी ने स्नान किया ॥ ८९ ॥

अज्ज वेअ पउत्थो अज्ज विअ सुण्ण आइँ जाआइँ ।

रथ्यामुखदेउलचत्तराइँ अहं च हिअआइँ ॥ ९० ॥

[ अद्यैव प्रोषितोऽद्यैव शून्यकानि जातानि ।

रथ्यामुखदेवकुलचत्तराण्यकस्माकं च हृदयानि ॥ ]

उन्होंने आज ही प्रयाण किया और आज ही गली, देव मन्दिर का प्रांगण  
और हमारे हृदय सूने हो गये हैं ॥ ९० ॥

चिराडि पि अआणन्तो लोआ लोएहिं गोरववभहिआ ।

सोणारतुले व्व गिरवखरा वि खन्धेहिं उव्वभन्ति ॥ ९१ ॥



[ वर्णावलीमप्यजानन्तो लोका लोकैर्गौरवाभ्यधिकाः ।  
सुवर्णकारतुला इव निरक्षरा अपि स्कन्धैरुह्यन्ते ॥ ]

जैसे सोनार की तुला निरक्षर होने पर भी आदर से रखी जाती है वैसे ही कुछ निरक्षर (अपढ़-मूर्ख) लोग कन्धों पर बैठा लिये जाते हैं (अतिशय आदरास्पद बना दिये जाते हैं) ॥ ९१ ॥

आअम्बरन्तकवोलं खलिअक्खरजम्पिरं फुरन्तोट्टि ।  
मा छिवसु त्ति सरोसं समोसरान्ति पिअं भरिमो ॥ ९२ ॥

[ आताम्रान्तः कपोलां खलिताक्षरजल्पशोलां स्फुरदोष्ठोम् ।  
मा स्पृशेति सरोषं समपसर्पन्तीं प्रियां स्मरामः ॥ ]

जिसके कपोल आरक्त हो गये थे, बोलते समय जिसको वाणी खलित हो जाती थी, जिसके ओंठ फड़क रहे थे तथा क्रोध से "मुझे मत छुओ" कहती हुई पीछे हट रही थी, उस प्राणेश्वरी की स्मृति को मैं भूलता नहीं हूँ ॥ ९२ ॥

गोलाविसमोआरच्छलेण अप्पा उरम्मि से मुक्को ।  
अणुअम्पाणिट्ठोसं तेण वि सा आढमुवऊढा ॥ ९३ ॥

[ गोदावरी विषमावतारच्छलेनात्मा उरसि तस्य मुक्तः ।  
अनुकम्पानिर्दोषं तेनापि सा गाढमुपगूढा ॥ ]

नायिका ने गोदावरी के ऊँचे-नीचे ढालों से उतरने के बहाने अपने को नायक के वक्ष पर गिरा दिया और उसने उसको भुजाओं में कस लिया तो कोई दोष नहीं, क्योंकि यह उसकी दयालुता थी ॥ ९३ ॥

सा तुइ सहत्थदिण्णं अज्ज वि रे सुहअ गन्धरहिअं पि ।  
उव्वसिअणअरघरदेवदे व्व ओमालिअं वहइ ॥ ९४ ॥

[ सा त्वया स्वहस्तदत्तामद्यापि रे सुभग गन्धरहितामपि ।  
उद्वसितनगरगृहदेवतेव अवमालिकां वहति ॥ ]

नगर की विसर्जित गृह देवी के समान वह बाला आज भी तुम्हारे हाथों से दी हुई माला, गन्धहीन हो जाने पर भी पहनती है ॥ ९४ ॥

केलोअ वि रुसेउं ण तीरए तम्मि चुक्कविणअम्मि ।  
जाइअएहिँ व माए इमेहिँ अवसेहिँ अङ्गेहिँ ॥ ९५ ॥

[ केल्यापि रुषितुं न शक्यते तस्मिच्युतविनये ।  
याचितकैरिव मातरेभिरवशैरङ्गैः ॥ ]

माँ मैं विनय को भूल जाने वाले प्रेमान्ध पति से हँसी में भी रूठ नहीं  
सकती क्योंकि उनके सम्मुख अपने विवश-अंगों पर मेरा अधिकार ही नहीं रहता,  
जैसे मैंने इन्हें किसी से माँग कर पाया हो ॥ ९५ ॥

**उत्फुल्लिआइ खेल्लउ मा णं वारेहि होउ परिऊढा ।**

**मा जहणभारगहई पुरिसाअम्तो किलिम्मिहिइ ॥ ९६ ॥**

[ उत्फुल्लिकया खेलतु मैनां वारयत भवतु परिक्षामा ।

मा जघनमारगुर्वी पुरुषायितं कुवतो क्लमिष्यति ॥ ]

उसे 'उत्फुल्लिका' खेलने दो, रोको मत, दुबली हो जायगी तो साँसों के बँध  
जाने पर रति क्रीड़ा में पुरुष का नाट्य करती हुई मोटी जाँघों के भार से श्रान्त  
न होगी ॥ ॥ ९६ ॥

**पउरजुवाणो गामो महमासो जोअणं पई ठेरो ।**

**जुणसुरा साहीणा असई या होउ किं मरउ ॥ ९७ ॥**

[ प्रचुरयुवा ग्रामो मधुमासो यौवनं पतिः स्थविरः ।

जीर्णसुरा स्वाधीना असती मां भवतु किं म्रियताम् ॥ ]

युवकों से भरा गाँव, वसन्त का समय, यौवन की उड़ान, वृद्ध पति और  
पुरानी सुरा—इनके रहते स्वाधीन नारी यदि व्यभिचारिणी न हो जाये तो क्या  
मर जाये ? ॥ ९७ ॥

**बहुसो वि कहिज्जन्तं तुह वअणं मज्झ हत्थसंदिट्ठं ।**

**ण सुअं ति जम्पमाणा पुणरुत्तसअं कुणई अज्जा ॥ ९८ ॥**

[ बहुशोऽपि कथ्यमानं तव वचनं मम हस्तसंदिष्टम् ।

न श्रुतमिति जल्पन्ती पुनरुत्तशतं करोत्यार्या ॥ ]

मेरे हाथों द्वारा भेजा हुआ तुम्हारा सन्देश जब मैंने उस मृगनयनी को  
सुनाया तो बार-बार सुनने की इच्छा से "मैंने नहीं सुना, मैंने नहीं सुना" कहकर  
उसने सैकड़ों बार मुझसे कहलाया ॥ ९८ ॥

**पाअडिअणेहसबभावणिबभरं तीअ जह तुमं दिट्ठो ।**

**संवरणवावडाए अण्णो वि जणो तह व्वेअ ॥ ९९ ॥**

[ प्रकटितस्नेहसद्भावनिर्भरं तथा यथा त्वं दृष्टः ।

संवरणव्यापृतया अन्योऽपि जनस्तथैव ॥ ]

कुलांगना ने पूर्ण स्नेह और सद्भाव व्यक्त करते हुए जैसे तुम्हें देखा था वैसे ही आत्म संवरण में संलग्न होकर अन्य व्यक्ति को भी ॥ ९९ ॥

**गेह्णह पलोअह इमं पहसिअवअणा पइस्स अप्पेइ ।**

**जाआ सुअपढमुब्भिण्णदन्तजुअलङ्किअं बोअं ॥ १०० ॥**

[ गृह्णीत प्रलोकयतेदं प्रहसितवदना पत्युरर्पयति ।

जाया सुतप्रथमोद्भिन्नदन्तयुगलाङ्कितं बदरम् ॥ ]

“लो यह देखो” ! कह कर मुस्कराती हुई पत्नी ने बालक की नन्हीं दंतुलियों से अंकित बेर पति को अर्पित कर दिये ॥ १०० ॥

**रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मइए ।**

**सत्तसअम्मि समत्तं बीअं गाहासअं एअं ॥ १०१ ॥**

[ रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिमिते ।

सप्तशतके समाप्तं द्वितीयं गाथाशतकमेतत् ॥ ]

जिनमें हाल का स्थान प्रमुख है, उन कवियों द्वारा बनाए हुए रसिकों के प्यारे सप्तशतक का द्वितीय शतक पूरा हुआ ॥ १०१ ॥



## तृतीयं शतकम्

अच्छउ ता जणवाओ, हिअअं विअ अत्तणो तुह पमाणं ।  
तह तं सि मन्दणेहो जह ण उवालम्भजोगो सि ॥ १ ॥

[ अस्तु तावज्जनवादो हृदयमेवात्मनस्तव प्रमाणम् ।  
तथा त्वमसि मन्दस्नेहो यथा नोपालम्भयोग्योऽसि ॥ ]

लोग जो कहते हैं, उसे छोड़िये, तुम्हारा हृदय ही तुम्हारी करतूत का प्रमाण है । अब तो इतने विरक्त हो गये हो कि मैं उपालम्भ भी नहीं दे सकती ॥ १ ॥

अप्पच्छन्दपहाविर दुल्लहलम्भं जणं वि मगन्त ।  
आआसपहेहिं भमन्त हिअअ कइआ वि भज्जिहिसि ॥ २ ॥

[ आत्मच्छन्दप्रधावनशील दुर्लभलम्भं जनमपि मृगयमाण ।  
आकाशपथैर्भ्रमद्हृदय कदापि भङ्क्ष्यसे ॥ ]

तुम अपनी रुचि से सर्वत्र दौड़ लगाते हो । दुर्लभ व्यक्ति को भी खोजने लगते हो । मेरे आकाशचारी हृदय ! किसी दिन गिर कर चूर-चूर हो जाओगे ॥ २ ॥

अह्व गुणध्विअ लहुआ अहवा गुणअणुओं ण सों लोओ ।  
अहव ह्मि णिग्गुणा वा बहुगुणवन्तो जणो तस्स ॥ ३ ॥

[ अथवा गुणा एव लघवोऽथवा गुणज्ञो न स लोकः ।  
अथवास्मि निर्गुणा वा बहुगुणवाञ्छजनस्तस्य ॥ ]

या तो गुणों का आदर नहीं होता या वह गुणज्ञ ही नहीं है अथवा मैं गुणहीन हूँ या उसकी प्रेयसी मुझसे अधिक गुणवती है ॥ ३ ॥

फुट्टन्तेण विव हिअएण मामि कह णिव्वरिज्जए तम्मि ।  
आदसे पडिबिम्बं विव ज्जम्मि दुःखं ण संकमइ ॥ ४ ॥

[ स्फुटितापि हृदयेन मातुलानि कथं निवेद्यते तस्मिन् ।  
आदर्शो प्रतिबिम्बमिव यस्मिन्दुःखं न संक्रामति ॥ ]

मामी ! हृदय फट रहा है तब भी जिसके भीतर दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति मेरा दुःख नहीं पहुँच पाता, उससे कैसे कहूँ ? ॥ ४ ॥

पासासङ्की काओ णेच्छदि दिण्णं पि पहिअघरणीए ।  
ओअन्तकरअलोगलितवलअमज्झट्टिअं पिण्डं ॥ ५ ॥

[ पाशाशङ्की काको नेच्छति दत्तमपि पथिकगृहिण्या ।  
अवनतकरतलावगलितवलयमधप्रस्थितं पिण्डम् ॥ ]

परदेशी की प्रिया ने बलि प्रदान करने के लिये हाथ झुकाया तो कंकण भी गिर पड़ा । कंकण के बीच में पड़े हुए पिण्ड को जाल समझ कर कौआ देने पर भी नहीं खाता ॥ ५ ॥

ओहिदिवहागमासंकिरीहिं सहिआहिं कुडुलिहिआओ ।  
दोतिणिण तहिं विअ चोरिआएँ रेहा पुसिज्जन्ति ॥ ६ ॥

[ अवधिदिवसागमाशङ्किनीभिः सखीभिः कुड्यलिखिताः ।  
द्वित्रास्तत्रैव चोरिकया रेखाः प्रोञ्छन्ते ॥ ]

अवधि का दिन कहीं आकर चला न जाये—इस आशंका से सहेलियाँ दोवार पर अंकित रेखाओं में से दो तीन रेखायें वहीं छिप कर पोंछ देती हैं ॥ ६ ॥

तुह मुहसारिच्छं णलहइ त्ति संपुण्णमण्डलो विहिणा ।  
अण्णमअं व्व घडइउं पुणो वि खण्डिज्जइ मिअङ्को ॥ ७ ॥

[ तवमुखसादृश्यं न लभत इति संपूर्णमण्डलो विधिना ।  
अन्यमयमिव घटयितुं पुनरपि खण्डयते मृगाङ्कः ॥ ]

चन्द्रमा में तेरे मुख का सादृश्य नहीं मिलता, मानों यही सोचकर विधाता नया बनाने के लिये सम्पूर्ण चन्द्रमा को एक बार बनाकर फिर तोड़ डालते हैं ॥ ७ ॥

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गणरीए ।  
पढम व्विअ दिअहद्वे कुडुओ रेहाहिं चित्तलिओ ॥ ८ ॥

[ अद्य गत इत्यद्य गत इत्यद्य गत इति गणनशीलया ।  
प्रथम एव दिवसार्धे कुड्यं रेखाभिश्चित्रितम् ॥ ]

वे आज गये हैं, आज गये हैं, 'आज गये हैं' इस प्रकार गणना करती हुई विरहिणी ने पहले ही दिन दोपहर तक सारी दोवार चित्रित कर डाली ॥ ८ ॥

ण वि तह पढमसमागमसुरअसुहे पाविएवि परिओसो ।

जह वीअदिअहसविलवखलक्खिए वअणकमलम्मि ॥ ९ ॥

[ नापि तथा प्रथमसमागमसुरतमुखे प्राप्तेऽपि परितोषः ।

यथा द्वितीयदिवससविलक्षलक्षिते वदनकमले ॥ ]

प्रथम समागम के समय सम्भोग सुख प्राप्त करने पर भी मुझे उतना सन्तोष नहीं हुआ, जितना दूसरे दिन सलज्ज दृष्टि वाला उसका मुख कमल देख कर ॥ ९ ॥

जे सँमुहागअवोलन्तवलिअपिअपेसिअच्छिविच्छोहा ।

अम्हं ते मअणसरा, जणस्स जे होन्ति ते होन्तु ॥ १० ॥

[ ये संमुखागतव्यतिक्रांतवलितप्रियप्रेषिताक्षिविक्षोभाः ।

अस्माकं ते मदनशरा जनस्य ये भवन्ति ते भवन्तु ॥ ]

एक बार अनुनय के लिये सम्मुख आकर निराश लौटते समय प्रिय ने मेरी ओर मुड़ कर जो तरल दृष्टि डाली थी—दूसरे लोग चाहे जो समझें—मैं तो उसे ही मदन-बाण मानती हूँ ॥ १० ॥

इअरो जणो ण पावइ तुह जहणारुहणसंगमसुहेल्लिँ ।

अणुहवइ कणअडोरो हुअवहवरुणणोँ माहप्पं ॥ ११ ॥

[ इतरो जनो न प्राप्नोति तव जघनारोहणसंगममुखकेलिम् ।

अनुभवति कनकदोरो हुतवहवरुणयोर्माहात्म्यम् ॥ ]

तुम्हारी जाँघों पर चढ़कर रमण करने का सुख अन्य कोई न प्राप्त कर सका, अकेला कनक-सूत्र ही अग्नि और वरुण के माहात्म्य का अनुभव कर रहा है ॥ ११ ॥

जो जस्स विहवसारो तं सो देइ त्ति किं त्थ अच्छेरं ।

अणहोन्तं पि खु दिण्णं दोहगं तइ सवत्तीणं ॥ १२ ॥

[ यो यस्य विभवसारस्तं स ददातीति किमत्राश्चर्यम् ।

अभवदपि खलु दत्तं दौर्भाग्यं त्वया सपत्नीनाम् ॥ ]

जिसके पास जो धन है, वह उसे प्रदान करे तो कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु सुमने अपने पास न रहने वाला दुर्भाग्य सपत्नियों को दे डाला ॥ १२ ॥

चन्द्रसरिसं मुहं से सरिसो अमअस्स मुहरसो तिस्सा ।

सकअग्गहरहसुज्जलचुम्बणअं कस्स सरिसं से ॥ १३ ॥

[ चन्द्रसदृशं मुखं तस्याः सदृशोऽमृतस्य मुखरसस्तस्याः ।

सकचग्रहरभसोज्वलचुम्बनकं कस्य सदृशं तस्याः ॥ ]

उसका मुख तो चन्द्र के सदृश है और अघर अमृत के किन्तु मैंने प्रेमावेग से उसकी केश-राशि को पकड़ कर जो पवित्र चुम्बन किया था, उसकी उपमा किससे दूँ ॥ १३ ॥

उत्पण्णत्थे कज्जे अइच्चिन्तन्तो गुणागुणे तम्मि ।

चिरआलमन्दपेच्छित्तणेण पुरिसो हणइ कज्जं ॥ १४ ॥

[ उत्पन्नार्थे कार्येऽतिचिन्तयन्गुणागुणौ तस्मिन् ।

चिरकालमन्दप्रेक्षित्वेन पुरुषो हन्ति कार्यम् ॥ ]

कार्य के फलोन्मुख हो जाने पर जो गुण-दोष की अधिक मीमांसा करने लगता है, वह पुरुष देर तक अनिष्ट की शंका करने के कारण बने कार्य को भी नष्ट कर देता है ॥ १४ ॥

बालअ तुमाहि अहिअं णिअअं विअ वल्लहं महं जीअं ।

तं तइ विणा ण होइ त्ति तेण कुविअं पसाएमि ॥ १५ ॥

[ बालक त्वत्तोऽधिकं निजकमेव वल्लभं मम जीवितम् ।

तत्त्वया विना न भवतीति तेन कुपितं प्रसादयामि ॥ ]

मुझे अपने प्राण तुमसे अधिक प्रिय हैं, किन्तु वे तुम्हारे बिना रह ही नहीं सकते, इसीलिए बार-बार रूठ जाने पर भी तुम्हें मनाती हूँ ॥ १५ ॥

पत्तिअ ण पत्तिअन्ती जइ तुज्झ इमे ण मज्झ रुअईए ।

पुट्ठीअ बाह्विन्दू पुलउबभेएण निज्जन्ता ॥ १६ ॥

[ प्रतीहि न प्रतीयन्ती यदि तवेमे न मम रोदनशोलायाः ।

पृष्ठस्य वाष्पविन्दवः पुलकोद्भेदेन भिद्यमानाः ॥ ]

विश्वास न करने वाली प्रिये ! यदि तेरे नेत्रों से गिरे हुये आँसू मेरी पीठ के पुलकांकुरों से जर्जर न हो गये हों तो विश्वास कर लो ॥ १६ ॥

तं मित्तं काअव्वं जं किर वसणम्मि देसआलम्मि ।

आल्लिहियभित्ति वाउल्लअं व ण परम्मुहं ठाइ ॥ १७ ॥

[ तन्मित्रं कर्तव्यं यत्किल व्यसने देशकालेषु ।  
आलिखितभित्तिपुत्तलकमिव न पराङ्मुखं तिष्ठति ॥ ]

मित्र उसी को बनाना चाहिये जो हर समय और हर स्थान पर दीवार में लिखित पुतले के समान संकट में विमुख न हो ॥ १७ ॥

**बहुआइ णइणिउञ्जे पढमुग्गअसीलखण्डणविलक्खं ।**

**उड्डेइ विहंगउलं हा हा पक्खेहिं व भणन्तं ॥ १८ ॥**

[ वध्वा नदीनिकुञ्जे प्रथमोद्गतशीलखण्डनविलक्षम् ।  
उड्डीयते विहंगकुलं हा हा पक्षैरिव भणत् ॥ ]

नदी के कि कुंज में पहली बार तरुणवधू का शील खंडित होने से लज्जित विहंग अपने पंखों से हाहाकार सा करते हुए उड़ रहे हैं ॥ १८ ॥

**सच्चं भगामि बालअ णत्थि असक्कं वसन्तमासस्स ।**

**गन्धेण कुरवआणं मणं पि असइत्तणं ण गता ॥ १९ ॥**

[ सत्यं भगामि बालक नास्त्यशक्यं वसन्तमासस्य ।  
गन्धेन कुरवकाणां मनागप्यसतीत्वं न गता ॥ ]

सत्य कहती हूँ वसन्त मास के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है, परन्तु वह शरणी कुरवक की गन्ध से रंच भर सतीत्व से नहीं डिगी है ॥ १९ ॥

**एक्वेक्कमवइवेठणविवरन्तरदिण्णतरलणअणाए ।**

**तइ बोलन्ते बालअ पञ्जरसउणाइअं तीए ॥ २० ॥**

[ एकैकवृत्तिवेषटनविवरान्तरदत्ततरलनयनया ।  
त्वयि व्यतिक्रान्ते बालक पञ्जरशकुनायितं तथा ॥ ]

तुम्हारे अदृश्य हो जाने पर वह मृगनयनी बाइ के वेठन के प्रत्येक छिद्र में अपने तरल नेत्र डालकर पंजरबद्ध विहंगिनी-सी विवश होकर झाँकती रही ॥ २० ॥

**ता किं करेउ जइ तं सि तीअ वइवेट्टपेलिअथणोए ।**

**पाअङ्कुट्टुद्धविखत्तणीसहङ्गीअ वि ण दिट्ठो ॥ २१ ॥**

[ तर्किकं करोतु यदि त्वमसि तथा वृत्तिवेषटनप्रेरितस्तनया ।  
पादाङ्कुष्ठाधक्षिप्तनिःसहाङ्ग्यापि न दृष्टः ॥ ]

पैरों के पंजों पर असहाय अंगों का भार रख कर खड़ी होने पर जब उसके



सन्नत उरोज बाढ़ की बेड़ियों में छू गये थे तब भी तुम दिखाई न दिये तो वह क्या करे ? ॥ २१ ॥

**पिअसंभरणपलोदृन्तवाहधाराणिवाअभीआए ।**

**दिज्जइ वड्ढग्गीवाएँ दीवओ पहिअजाआए ॥ २२ ॥**

[ प्रियसंस्मरणप्रलुप्तद्वाष्पधारानिपातभोतया ।

दीयते वक्रगोवया दीपकः पथिकजायया ॥ ]

प्रिय की स्मृति में उमड़े हुए आँसुओं के गिरने से कहीं दीपक बुझ न जाय, इस शंका से पथिक-प्रिया अपनी ग्रीवा मोड़ कर दीप-दान कर रही है ॥ २२ ॥

**तइ वोलन्ते बालअ तिससा अङ्गाइँ तह णु बलिआइँ ।**

**जह पुट्टिमज्झणिवतन्तवाहधाराओँ दीसन्ति ॥ २३ ॥**

[ तत्रयि व्यतिक्रामति बालक तस्या अङ्गानि तथा नु वलितानि ।

यथापृष्ठमध्यनिपतद्वाप्यधारा दृश्यन्ते ॥ ]

उसके निकट से तुम जैसे ही दूसरी ओर गये, उसने अपने अंगों को इतना मोड़ लिया है कि आँसुओं की धार पीठ पर गिरती हुई दिखाई दे रही है ॥ २३ ॥

**ता मज्झिमो विवअ वरं दुज्जणसुअणेहिँ दोहिँ वि ण कज्जं ।**

**जह दिट्ठो तवइ खलो तहेअ सुअणो अईसन्तो ॥ २४ ॥**

[ तन्मध्यम एव वरं दुर्जनसुजनाभ्यां द्वाभ्यमपि न कार्यम् ।

यथा दृष्टस्तापयति खलस्तथैव सुजतोऽदृश्यमानः ॥ ]

सज्जन और दुर्जन दोनों का काम नहीं है । मध्यम पुरुष ही अच्छे हैं, क्योंकि जैसे दुर्जनों को देखने पर दुःख होता है, वैसे ही सज्जनों को न देखने पर ॥ २४ ॥

**अद्धच्छिपेच्छिअं मा करेहि साहाविअं पलोएहि ।**

**सो वि सुदिट्ठो होहिइ तुमं पि मुद्धा कलिज्जिहिसि ॥ २५ ॥**

[ अर्द्धाक्षिप्रेक्षितं मा कुरु स्वाभाविकं प्रलोकय ।

सोऽपि सुदृष्टो भविष्यति त्वमपि सुग्धा कलिष्यसे ॥ ]

अरी ! आधी चित्तवन से क्यों देखती है, स्वाभाविक रूप से देख ले । वह भी अर्द्धाक्षि दिख जायगा और तुझे भी लोग मुग्धा ही समझेंगे ॥ २५ ॥

दिअहं खुडक्किआए तीए काऊण गेहवावरं ।  
गरुए वि मण्णुदुःखे भरिमो पाअन्तसुत्तस्स ॥ २६ ॥

[ दिवसं रोषमूकायास्तस्याः कृत्वा गेहव्यापारम् ।  
गुरुकेऽपि मन्युदुःखे स्मरामः पादान्तसुप्तस्य ॥ ]

दिन-भर क्रोध से चुपचाप गृह-कार्य में संलग्न रहकर अन्त में भारी दुःख में डूबी हुई प्रिया का पैरों की ओर आकर सो जाना स्मरण करता हूँ ॥ २६ ॥

पाणउडीअ वि जलिऊण हुअवहो जलइ जण्णवाडम्मि ।  
ण हु ते परिहरिअव्वा विसमदसासंठिआ पुरिसा ॥ २७ ॥

[ पानकुट्यामपि ज्वलित्वा हुतवहो ज्वलति यज्ञवाटेऽपि ।  
न खलु ते परिहर्तव्या विषमदशासंस्थिताः पुरुषाः ॥ ]

आगमदिरालय में जल कर यज्ञशाला में भी जलती है । तुम्हें विषम परि-  
स्थिति में पड़े सत्पुरुषों का त्याग न करना चाहिये ॥ २७ ॥

जं तुज्झ सई जाआ असईओ जं च सुहअ अहो वि ।  
ता किं फुट्टउ बीअं तुज्झ समाणो जुआ णत्थि ॥ २८ ॥

[ यत्तव सती जाया असत्यो यच्च सुभग वयमपि ।  
तत्किं स्फुटतु बीजं तव समानो युवा नास्ति ॥ ]

तुम्हारी पत्नी पतिव्रता है और हम सब व्यभिचारिणी हैं, इसका कारण  
क्या है ? तुम्हारे समान सुन्दर युवक नहीं है ॥ २८ ॥

सम्भ्वस्सम्मि वि दद्धै तहवि हु हिअअस्स णिव्वुदि च्चेअ ।  
जं तेण गामडाहे हत्थाहत्थि कुडो गहिओ ॥ २९ ॥

[ सर्वस्वेऽपि दग्धे तथापि खलु हृदयस्य निर्वृतिरेव ।  
यत्तेन ग्रामदाहे हस्ताहस्तिकया कुटो गृहीतः ॥ ]

सब कुछ जल कर स्वाहा हो गया फिर भी हृदय को आनन्द ही मिला  
क्योंकि गाँव में आग लगने पर उन्होंने शीघ्रता में मेरे हाथ से घड़ा ले  
लिया ॥ २९ ॥

जाएज्ज वणुद्देसे कुज्जो वि हु णीसाहो झडितपत्तो ।  
मा माणुसम्मि लोए ताई रसिओ दरिदो अ ॥ ३० ॥

[ जायतां वनोद्देशे कुब्जोऽपि खलु निःशाखः शिथिलपत्रः ।  
मा मानुषे लोके त्यागी रसिको दरिद्रश्च ॥ ]

वन में शाखा-पत्रहीन, कुबड़ा वृक्ष होना अच्छा है किन्तु मानव जगत् में त्यागी, रसिक और दरिद्र होना नहीं ॥ ३० ॥

तस्स अ सोहृगगुणं अमहिलसरिसं च साहसं मज्झ ।

जाणइ गोलाऊरो वासारत्तोद्धरत्तो अ ॥ ३१ ॥

[ तस्य च सौभाग्यगुणममहिलासदृशं च साहसं मम ।  
जानाति गादापुरो वर्षारान्नार्धरात्रश्च ॥ ]

उनके सौभाग्य का उत्कर्ष और मेरा साहस—जो महिलाओं में दुर्लभ है— या तो गोदावरी की धारा जानती है या पावस की अँधेरी आधी रातें ॥ ३१ ॥

ते वोलिआ वअस्सा ताण कुडङ्गाण थाणुआ सेसा ।

अहो वि गअवआओ मूलुच्छेअं गअं पेम्मं ॥ ३२ ॥

[ ते व्यतिक्रान्ता वयस्यास्तेषां कुञ्जानां स्थानवः शेषाः ।  
वयमपि गतवयस्का मूलोच्छेद्यं गतं प्रेम ॥ ]

वे रसीले मीत अब नहीं रहे । उन कुञ्जों के टूँठ ही रह गये हैं । हमारी अवस्था भी ढल चुकी । प्रेम की जड़ ही छिन्न हो चुकी है ॥ ३२ ॥

थणजहणणिअम्बोपरि गहरङ्का गअवआणें वणिआणं ।

उव्वसिआणङ्गणिवासमूलबन्ध व्व दीसन्ति ॥ ३३ ॥

[ स्तनजघननितम्बोपरि नखराङ्का गतवयसां वनितानाम् ।  
उद्वसितानङ्गनिवासमूलबन्धा इव दृश्यन्ते ॥ ]

गतयोवना वनिताओं के जघन एवं उरोजों पर अंकित नख-चिह्न, कूच करने वाले अनंग के भग्न भवन की नींव के समान प्रतीत होते हैं ॥ ३३ ॥

जस्स जहं विअ पढमं तिस्सा अङ्गम्मि णिवडिआ दिट्ठो ।

तस्स तर्हि चेअ ठिआ सव्वङ्गं केण वि ण दिट्ठं ॥ ३४ ॥

[ यस्य यत्रैव प्रथमं तस्या अङ्गे निपतिता दृष्टिः ।  
तस्य तत्रैव स्थिता सर्वाङ्गं केनापि न दृष्टम् ॥ ]

उस तरुणी के जिस अंग पर दृष्टि पड़ती है, वहाँ रह जाती है, किष्कि ने उसे भरपूर नहीं देखा है ॥ ३४ ॥

विरहे विसं व विसमा अमममा होइ संगमे अहिअं ।

कि विहिणा समअं विअ दोहि वि पिआ विणिम्मिअआ ॥ ३५ ॥

[ विरहे विषमिव विषमामृतमया भवति संगमेऽधिकम् ।

कि विधिना सममेव द्वाभ्यामपि प्रिया विनिर्मिता ॥ ]

मेरी प्रिया संयोग में अमृत-सी मधुर और वियोग में विष-सी विषम हो जाती है । क्या विधाता ने दोनों को समान भाग लेकर उसकी सृष्टि की है ॥ ३५ ॥

अद्दंसणेण पुत्तअ सुट्ठु वि णेहाणुबन्धघडिआइं ।

हत्थउडपाणिआइं व कालेण गलन्ति पेम्माइं ॥ ३६ ॥

[ अदर्शनेन पुत्रक सुष्ट्वपि स्नेहानुबन्धघटितानि ।

हस्तपुटपानीयानोव कालेन गलन्ति प्रेमाणि ॥ ]

अत्यन्त उत्कट और सुदृढ़ प्रेम, न देखने से अंजलि में रखे हुए जल की भाँति कालान्तर में च्युत हो जाता है ॥ ३६ ॥

पइपुरओ विअ णिज्जइ विच्छुअदट्ठेत्ति जारवेज्जहरं ।

णिउणसहीकरधारिअ भुअजुअलन्दोलिणी बाला ॥ ३७ ॥

[ पतिपुरत एव नीयते वृश्चिकदष्टेत्ति जारवैद्यगृहम् ।

निपुणसखीकरधृता भुजयुगलान्दोलनशीला बाला ॥ ]

“बिच्छू ने डंक मार दिया है” इस बहाने से दोनों हाथ झिटकती हुई चन्द्रमुखी को निपुण सखी पति के सामने ही पकड़ कर प्रेमी विष वैद्य के घर ले जाती है ॥ ३७ ॥

विक्रणइ माहमासम्मि पामरो पाईंइ वइल्लेण ।

णिद्धूममुग्गुर विअ सामलोअ थणो पडिच्छन्तो ॥ ३८ ॥

[ विक्रोणीते माघमासे पामरः प्रावरणं बलोवर्देन ।

निधूममुग्गरनिभौ श्यामल्याः स्तनौ पश्यन् ॥ ]

षोडशी प्रिया के निधूम करोषाग्नि सदृश पयोधरों को देख कर किसान ने आष में कम्बल बँच कर बैल खरीद लिये ॥ ३८ ॥

सच्चं भणामि मरणे द्विअह्मि पुण्णे तडम्मि तावोए ।

अज्ज वि तत्थ कुडङ्गे णिवडइ दिट्ठा तह च्चेअ ॥ ३९ ॥

[ सत्यं भणामि मरणे स्थितास्मि पुण्ये तटे ताप्याः ।

अद्यापि तत्र निकुञ्जे निपतित दृष्टिस्तथैव ॥ ]

सत्य कहती हूँ, आज तापी के पुनोत तट पर मृत्यु की प्रतीक्षा में बैठी हूँ।  
तथापि उस कुञ्ज पर वैसी ही प्रणय तृषाकुल दृष्टि पड़ रही है ॥ ३९ ॥

**अन्धअरबोरपत्तं व माउआ मह पइं विलुम्पन्ति ।**

**ईसाअन्ति महं विअ छेप्पाहिन्तो फणो जाओ ॥ ४० ॥**

[ अन्धकरबदरपात्रमिव मातरो मम पतिं विलुम्पन्ति ।

ईर्ष्यन्ति मह्यमेव लाङ्गूलेभ्यः फणो जातः ॥ ]

माँ, वे मेरे प्राणेश्वर को अन्धे के हाथ में स्थित का बेर के पात्र के समान  
छीन रही हैं और मुझसे ईर्ष्या भी करती है। पूँछों में भी फण निकलने  
लगे ! ॥ ४० ॥

**अप्पत्तपत्तअं पाविऊण णवरङ्गअं हल्लिअसोणहा ।**

**उअह तणुई ण माअइ रुन्दासु वि गामरच्छासु ॥ ४१ ॥**

[ अप्राप्तप्राप्तं प्राप्य नवरङ्गकं हल्लिकस्तुषा ।

पश्यत तन्वी न माति विस्तीणस्वपि ग्रामरथ्यासु ॥ ]

हल्लावाहक की वधू जीवन में कभी न मिलने वाली नई कुसुम्भी चीर पा  
कर दुबली होने पर भी देखो, गाँव की चौड़ी गलियों में नहीं समा रही  
है ॥ ४१ ॥

**आवखेवआइँ पिअजम्पिआइँ परहिअअणिव्वुदिअराइँ ।**

**विरलो खु जाणइ जणो उत्पण्णे जम्पिअव्वाइँ ॥ ४२ ॥**

[ वाक्क्षेपकाणि प्रियजल्पितानि परहृदयनिर्वृतिकराणि ।

विरलः खलु जानाति जन उत्पन्ने जल्पितव्यानि ॥ ]

जो प्रतिवादियों का मुँह बन्द कर दे, जो सुनने में मधुर हो और शत्रुओं  
को भी तृप्त कर दे, समय पर ऐसी उपयुक्त बात कहना कोई बिरला ही जानता  
है ॥ ४२ ॥

**छज्जइ पटुस्स ललिअं पिआइ माणो खमा समत्थस्स ।**

**जाणन्तस्स अ भणिअं मोणं च अआणमाणस्स ॥ ४३ ॥**

[ शोभते प्रलोल्लितं प्रियाया मानः क्षमा समर्थस्य ।

जानतश्च भणितं मौनं चाजानातः ॥ ]

घनवान् का स्वच्छन्द विहार, प्रिया का मान, समर्थ की क्षमा, विद्वान् का भाषण और मूर्ख की मौन—ये शोभित होते हैं ॥ ४३ ॥

**वेविरसिण्णकरङ्गुलिपरिग्रहस्खलितलेखनीमार्गे ।**

**सोत्थि विवअ ण समप्पइ पिअसहि लेहम्मि किं लिहिमो ॥ ४४ ॥**

[ वेपनशीलस्विन्नकराङ्गुलिपरिग्रहस्खलितलेखनीमार्गे ।

स्वस्त्येव न समाप्यते प्रियसखि लेखे किं लिखामः ॥ ]

सखी ! कर्पती हुई स्वदार्द अँगुलियों से पकड़ने पर स्खलित हो जाने वाली लेखनी से 'स्वस्ति' ही पूरा-पूरा नहीं लिख पा रही हूँ तो पत्र कैसे लिखूँगी ॥ ४४ ॥

**देव्वम्मि पराहुत्ते पत्तिअ घडिअं पि विहडइ णराणं ।**

**कज्जं बालुअवरणं व्व कहँ वि बन्धं विअ ण एइ ॥ ४५ ॥**

[ देवे पराङ्गमुखे प्रतीहि घटितमपि विघटते नराणाम् ।

कार्यं बालुकावरण इव कथमपि बन्धमेव न ददाति ॥ ]

विश्वास रखो, दैव के विमुख हो जाने पर बनी हुई वस्तु भी नष्ट हो जाती है । बालू की दीवार के समान कोई भी कार्य स्थिर नहीं हो पाता ॥ ४५ ॥

**मामि हिअअं व पीअं तेण जुआणेण मज्जमाणाए ।**

**ण्हाणहलिद्दाकडुअं अणुसोत्तजलं पिअन्तेण ॥ ४६ ॥**

[ मातुलानि हृदयमिव पीतं तेन यूना मज्जन्त्याः ।

स्नानहरिद्राकटुकमनुस्रोतो जलं पिबता ॥ ]

मामी ! स्नान करते समय नदी की धारा के पानी को जो हल्दी का अंग-राग मिल जाने से कटु हो गया था—पीने वाले युवक ने मानों मेरा हृदय भी पी लिया है ॥ ४६ ॥

**जिविअं असासअं विअ ण णिवत्तइ जोव्वणं अतिवकन्तं ।**

**दिअहा दिअहेहिं समा ण होन्ति किं णिठ्ठुरो लोओ ॥ ४७ ॥**

[ जीवितमशाश्वतमेव न निवर्तते यौवनमतिक्रान्तम् ।

दिवसा दिवसैः समा न भवन्ति किं निष्ठुरो लोकः ॥ ]

जीवन क्षण भंगुर है । गया हुआ यौवन फिर लौट कर नहीं आता । सभी दिन समान नहीं होते, फिर भी लोग इतने निष्ठुर क्यों हो जाते हैं ? ॥ ४७ ॥

उत्पाइअदव्वाणं वि खलारणं को भाअणं खलो च्चेअ ।

पक्काइँ वि णिम्बफलाइँ णवरं काएहिँ खज्जन्ति ॥ ४८ ॥

[ उत्पादितद्रव्याणामपि खलानां को भाजनं खल एव ।

पक्कान्यपि निम्बफलानि केवलं काकैः खाद्यन्ते ॥ ]

धनोपार्जन करने वाले खलों के दान का पात्र कौन है ? खल ! पके हुए नीम के फल कोए ही खाते हैं ॥ ४८ ॥

अज्ज मए गन्तव्वं घणन्धआरे वि तस्स सुहअस्स ।

अज्जा णिमीलिअच्छी पअपरिवाडि घरे कुणइ ॥ ४९ ॥

[ अद्य मया गन्तव्यं घनान्धकारेऽपि तस्य सुभगस्य ।

आर्या निमीलिताक्षी पदपरिपाटि गृहे करोति ॥ ]

आज रात्रि में घना अन्धकार होने पर भी प्रिय के लिये अभिसार करना है, यह सोचकर नायिका घर में ही आँखें बन्द कर चलने का अभ्यास करने लगी ॥ ४९ ॥

सुअणो ण कुप्पइ विवअ अह कुप्पइ विप्पिअं ण चिन्तेइ ।

अह चिन्तेइ ण जम्पइ अह जम्पइ लज्जिओ होइ ॥ ५० ॥

[ सुजनो न कुप्यत्येव अथ कुप्यति विप्रियं न चिन्तयति ।

अथ चिन्तयति न जल्पति अथ जल्पति लज्जितो भवति ॥ ]

सज्जन कभी कोप ही नहीं करते, यदि करते हैं तो किसी का अहित नहीं चाहते, यदि चाहते हैं तो मुँह से नहीं कहते, यदि कहते हैं तो लज्जित हो जाते हैं ॥ ५० ॥

सो अत्थो जो हत्थे तं मित्तं जं णिरन्तरं वसणे ।

तं रूअं जत्थ गुणा तं विण्णाणं जहिँ धम्मो ॥ ५१ ॥

[ सोऽर्थो यो हस्ते तन्मित्रं यन्निरन्तरं व्यसने ।

तद्रूपं यत्र गुणास्तद्विज्ञानं यत्र धर्मः ॥ ]

घन वही है, जो अपने हाथ में हो, मित्र वही है, जो विपत्ति में निरन्तर साथ दे, रूप वही है, जिसमें गुण हो और ज्ञान वही है, जिसमें धर्म हो ॥ ५१ ॥

चन्द्रमुहि चन्द्रधवला दोहा दीहच्छि तुह विओअम्मि ।

चउजामा सअजाम व्व जामिणी कहँ वि वोलीणा ॥ ५२ ॥

[ चन्द्रमुखि चन्द्रधवला दीर्घा दीर्घाक्षि तव त्रियोगे ।

चतुर्थीमा शतयामेव यामिनी कथमप्यतिक्रान्ता ॥ ]

चन्द्रवदने ! विशाल नेत्रे ! तेरे वियोग में चार पहर की लम्बी शुभ्र चाँदनी रात सौ पहर के समान किसी प्रकार बीत गई ॥ ५२ ॥

अउलीणो दोमुहओ ता महुरो भोअणं मुहे जाव ।

मुरओ व्व खलो जिण्णम्मि भाअणे विरसमारसइ ॥ ५३ ॥

[ अकुलीनो द्विमुखस्तावन्मधुरो भोजनं मुखे यावत् ।

मुरज इव खलो जीर्णे भोजने विरसमारसति ॥ ]

असत्कुल में उत्पन्न दोमुह्राँ दुष्ट मनुष्य, पृथ्वी का स्पर्श न करने वाले ( अ + कु + लीन ) दोमुह्रें मृदंग के समान मुँह में भोजन ठूँप देने पर मधुर शब्द करता है परन्तु उसके जीर्ण हो जाने पर कटु शब्द करने लगता है ॥ ५३ ॥

तह सोण्हाइ पुलइओ दरवलिअन्तद्धतारअं पहिओ ।

जह वारिओ वि धरसामिण्ण ओलिन्दए वसिओ ॥ ५४ ॥

[ तथा स्नुषया प्रलोकितो दरवलितार्धतारकं पथिकः ।

यथा वारितोऽपि गृहस्वामिना अलिन्दके सुप्तः ॥ ]

आँखों की आधी पुतलियों को किञ्चित् नचातो हुई बहू ने कुछ यों देखा कि गृहस्वामी के मना करने पर भी वह पथिक अलिन्द पर टिक ( बस ) गया ॥ ५४ ॥

लहुअन्ति लहुं पुरिसं पव्वअमेत्तं पि दो वि कज्जाइं ।

णिव्वरणमनिव्वूढे णिव्वूढे जं अ णिव्वरं ॥ ५५ ॥

[ लघयतो लघु पुरुषं पर्वतमात्रमपि द्वे अपि कार्ये ।

निर्वरणमनिर्व्यूढे निर्व्यूढे यच्च निर्वरणम् ॥ ]

किसी कार्य को न करने के पूर्व और करने के पश्चात् कह देना, ये दो बातें पर्वत के भी समान मनुष्य का गौरव घटा देतो हैं ॥ ५५ ॥

कं तुक्कथणुक्खित्तेण पुत्ति दारट्टिआ पलोएसि ।

उण्णामिअकलसणिवेसिअघकमलेण व मुहेण ॥ ५६ ॥



[ कं तुङ्गस्तनोत्क्षिप्तेन पुत्रि द्वारस्थिता प्रलोकयसि ।

उन्नामितकलशनिवेशितार्धकमलेनेव मुखेन ॥ ]

तुम द्वार पर खड़ी होकर किसे निहार रही हो ? उन्नत उरोजों पर झुका हुआ तुम्हारा बदन यों प्रतीत होता है जैसे ऊँचे कलश पर पूजा का पद्म रखा हो ॥ ५६ ॥

वद्विवरणिगगदलो एरण्डो साहइ व्व तरुणाणं ।

एत्थ घरे हल्लिअवहू एद्दहमेत्तत्थणो वसइ ॥ ५७ ॥

[ वृतिविवरनिर्गतदल एरण्डः साधयतोव तरुणेभ्यः ।

अत्रागृहे हलिकवधूरेतावन्मात्रस्तनी वसति ॥ ]

जिसके पत्ते बाड़ के छिद्रों से बाहर निकल आये हैं, वह रेड़ का पौधा मानों तरुणों को सूचना दे रहा है कि इस घर में इतने बड़े स्तनों वाली कृष्ण-वधू विद्यमान है ॥ ५७ ॥

गअकलहकुम्भसंणिहघणपीणगिरन्तरेहिं तुङ्गेहिं ।

उस्ससिउं पि ण तीरइ कि उण गन्तुं हअथणेहिं ॥ ५८ ॥

[ गजकलभकुम्भसंनिभघनपीननिरन्तराभ्यां तुङ्गाभ्याम् ।

उच्छ्वसितुमपि न तीरयति कि पुनर्गन्तुं हतस्तनाभ्याम् ॥ ]

गजकुम्भ के समान कसे, मोटे और सटे हुए उत्तुंग उरोजों के भार से वह सुकुमारी साँस भी नहीं ले सकती चलना तो बहुत दूर है ॥ ५८ ॥

मासपसूअं छम्मासगभिणिं एक्कदिअहजरिअं च ।

रङ्गुत्तिण्णं च पिअं पुत्तअ कामन्तओ होहि ॥ ५९ ॥

[ मासप्रसूतां षण्मासगर्भिणीमेकदिवसज्वरितां च ।

रङ्गोत्तीर्णां च प्रियां पुत्रक कामयमानो भव ॥ ]

पुत्र ! एक दिन की रूग्णा, छः मास की गर्भिणी, मास-प्रसूता एवं रंगशाला से लोटी हुई प्रिया की कामना करो ॥ ५९ ॥

पड्विक्खमण्णुपुञ्जे लावण्णउडे अणङ्गअकुम्भे ।

परिसअहिअअधरिए कीस थणन्ती थणे वहसि ॥ ६० ॥

[ प्रतिपक्षमन्युपुञ्जो लावण्यकुटावनङ्गजकुम्भो ।

पुरुषशतहृदयघृतौ किमिति स्तनन्ती स्तनौ वहसि ॥ ]

जो प्रतिपक्षियों के संताप-पुंज, लावण्य के कलश तथा अनंग-मदकल के कुम्भ हैं, तथा जिनकी अभिलाषा सैकड़ों तरुणों के मन में रहती है, उन पयोधरों को इतने गर्व से क्यों ढो रही हो ? ॥ ६० ॥

घरिणिघणत्थणपेल्लणसुहेल्लिपडिअस्स होन्तपहिअस्स ।

अवसउणङ्गारअवारविट्ठिदिअहा सुहावेन्ति ॥ ६१ ॥

[ गृहिणीघनस्तनप्रेरणमुखकेलिपतितस्य भविष्यत्पथिकस्य ।

अपशकुनाङ्गारकवारविष्टिदिवसाः सुखयन्ति ॥ ]

लेटे-लेटे पत्नी के उन्नत कुचों का मर्दन करने की सुखद क्रीड़ा करते हुए प्रेमी को—जिसे शीघ्र ही परदेश की यात्रा करनी है—अपशकुन मंगलवार और भद्रा के दिवस बहुत सुख देते हैं ॥ ६१ ॥

सा तुह कएण बालअ अणिसं घरदारतोरणणिसण्णा ।

ओससई वन्दणमालिअ व्व दिअहं विअ वराई ॥ ६२ ॥

[ सा तव कृतेन बालकानिशं गृहद्वारतोरणनिषण्णा ।

अवशुष्यति वन्दनमालिकेव दिवसमेव वराकी ॥ ]

बेटा ! तुम्हारी प्रतीक्षा में गृह द्वार के तोरण पर अहरह बैठी हुई वह तरुणी वन्दनवार की भाँति दिनों-दिन सूखती जा रही है ॥ ६२ ॥

हसितं सहत्थतालं सुक्खवडं उवगएहिं पहिएहिं ।

पत्तअफलाणं सरिसे उड्ढोणे सूअविन्दम्मि ॥ ६३ ॥

[ हसितं सहस्ततालं शुष्कवटमुपगतैः पथिकैः ।

पत्रफलानां सदृशे उड्ढाने शुक्वृन्दे ॥ ]

बरगद का वृक्ष सूख गया था किन्तु शुकों के बसेरा लेने से पत्तों और फलों से लदा सा प्रतीत होता था । श्रान्त पथिक छाया के लोभ से जैसे हो उसके नीचे पहुँचे, वे 'फुर' से उड़ गये, यह देख वे बटोही तालियाँ बजाकर हँस पड़े ॥ ६३ ॥

अज्ज म्हि हासिआ मामि तेण पाएसु तह पडन्तेण ।

तोए वि जलन्ति दीववत्तिमब्भुणअन्तीए ॥ ६४ ॥

[ अद्यास्मि हासिता मानुलानि तेन पादयोस्तथा पतता ।

तयापि ज्वलन्ती दीपवर्तिमभ्युत्तेजयन्त्या ॥ ]

मामी ! जब वह उस प्रकार चरणों पर गिरकर प्रिया की आराधना कर रहा था तो उसने जलते हुये दीपक की बाती और भी उसका दी, यह देख मुझे हँसी आ गई ॥ ६४ ॥

**अणुवत्तणं कुणन्तो वेसे वि जणे अहिण्णमुहराओ ।**

**अप्पवसो वि हु सुअणो परव्वसो आहिआईए ॥ ६५ ॥**

[ अनुवर्तनं कुर्वन्द्रेष्येऽपि जनेऽभिन्नमुखरागः ।

आत्मवशोऽपि खलु सुजनः परवशः कुलीनतायाः ॥ ]

द्वैष्य व्यक्तियों का अनुवर्तन करने पर भी उसके मुख पर कोई विकार लक्षित नहीं होता । सज्जन स्वच्छन्द होने पर भी कुलीनता के अधीन होता है ॥ ६५ ॥

**अणुद्विअहवड्ढिआअरविण्णाणगुणेहिं जणिअमाहप्पो ।**

**पुत्तअ अहिआअजणो विरज्जमाणो वि दुल्लक्खो ॥ ६६ ॥**

[ अनुद्विसर्वाधितादरविज्ञानगुणेर्जनितमाहात्म्यः ।

पुत्रकाभिजातजनो विरज्यमानोऽपि दुर्लक्ष्यः ॥ ]

बेटा ! अहरह वर्द्धमान आदर एवं विज्ञान के गुणों से जिसने महत्त्व प्राप्त कर लिया है । वह कुलीन पुरुष विरक्त होने पर भी कठिनाई से लक्षित होता है ॥ ६६ ॥

**विण्णाणगुणमहग्घे पुरिमे वेसत्तणं पि रमणिज्जं ।**

**जणणिन्दिए उण जणे पिअत्तणेणावि लज्जामो ॥ ६७ ॥**

[ विज्ञानगुणमहार्घे पुरुषे द्वेष्यत्वमपि रमणीयम् ।

जननिन्दिते पुनजने प्रियत्वेनापि लज्जामहे ॥ ]

ज्ञान सम्पन्न होने से जिसका मूल्य बढ़ गया है, वह व्यक्ति यदि द्वेष भी रखे तो श्लाघ्य है किन्तु लोक में दिन पुरुष के प्रेम से भी मैं लज्जित हूँ ॥ ६७ ॥

**कहँ णाम तीअ तह सो सहावगुरुओ वि थणहरो पडिओ ।**

**अहवा महिलाणँ चिरं को वि ण हिअअम्मि संठाइ ॥ ६८ ॥**

[ कथं नाम तस्यास्तथा स स्वभावगुरुकोऽपि स्तनभरः पतितः ।

अथवा महिलानां चिरं कोऽपि न हृदये संतिष्ठते ॥ ]

स्वभाव से ही उन्नत उसके पयोधर अब गिर गये हैं, महिलाओं के हृदय में कोई चिरकाल तक स्थान नहीं पाता ॥ ६८ ॥

सुअणु वअणं छिवन्तं सूरं मा साउलीअ वारेहि ।

एअस्स पङ्कअस्स अ जाणउ कअरं सुहण्फंसं ॥ ६९ ॥

[ सुतनु वदनं स्पृशन्तं सूर्यं मा वस्त्राञ्चलेन वारय ।

एतस्य पङ्कजस्य च जानातु कतरत्सुखस्पर्शम् ॥ ]

कृशांगि ! आनन का स्पर्श करते हुये सूर्य को वस्त्राञ्चल से मत रोको, जिससे वह समझ ले कि इसमें और पंकज में किसका स्पर्श अधिक सुखद है ॥ ६९ ॥

माणोसहं व पिज्जइ पिआइ माणंसिणीअ दइअस्स ।

करसंपुटवल्लिउद्धाणणाइ मइराइ गण्डूसो ॥ ७० ॥

[ मानौषधमिव पीयते प्रियया मनस्विन्या दयितस्य ।

करसंपुटवल्लितोर्ध्वाननया मदिराया गण्डूषः ॥ ]

प्रिय ने दोनों हाथों से पकड़ कर जिसका मुख उन्नमित कर लिया था, वह मनस्विनी दयिता मदिरा का घूँट मानौषधि के समान पी रही है ॥ ७० ॥

कहं सा णिव्वणिणज्जइ जीअ जहा लोइअम्मि अङ्गम्मि ।

द्विट्ठी दुव्वलगाई व्व पङ्कपडिआ ण उत्तरइ ॥ ७१ ॥

[ कथं सा निर्वर्ण्यतां यस्या यथालोकितेऽङ्गे ।

दृष्टिदुर्बला गौरिव पङ्कपतिता नोत्तरति ॥ ]

उसे कैसे देखूँ ? जिसके अंग पर दृष्टि पड़ने पर, पंक में फँसी दुर्बल गाय के समान निकल ही नहीं पाती ॥ ७१ ॥

कौरन्ती द्विअ णासइ उअए रेह व्व खलअणे मेत्ती ।

सा उण सुअणम्मि कआ अणहा पाहाणरेह व्व ॥ ७२ ॥

[ क्रियमाणैव नश्यत्युदके रेखेव खलजने मैत्री ।

सा पुनः सुजने कृता अनघा पाषाणरेखेव ॥ ]

खलों को मैत्री पानी की रेखा के समान होते ही मिट जाती है और सज्जनों की मैत्री शिलारेख के समान अमिट रहती है ॥ ७२ ॥

अव्वो दुक्करआरअ पुणो वि तन्ति करेसि गमणस्स ।

अज्ज वि ण होन्ति सरला वेणीअ तरङ्गिणो च्चिउरा ॥ ७३ ॥

[ अब्बो दुष्करकारक पुनरपि चिन्तां करोषि गमनस्य ।  
अद्यापि न भवन्ति सरला वेण्यास्तरङ्गिणाश्चिकुराः ॥ ]

अरे दुष्करकारक ! तुम फिर प्रवास की चिन्ता करने लगे, अभी तो विरह-  
वेला में बिखरी हुई मेरी कुटिल अलकें सीधी भी नहीं हुई हैं ॥ ७३ ॥

ण वि तह छेअरआई वि हरन्ति पुणरुत्तराअरसिआई ।

जह जत्थ व तत्थ व जह व तह व सबभावणेहरमिआई ॥७४॥

[ नापि तथा छेकरतान्यपि हरन्ति पुनरुत्तरागरसिकानि ।  
यथा यत्र वा तत्र वा यथा वा तथा वा सद्भावस्नेहरमितानि ॥ ]

विदग्ध पुरुषों के द्वारा जो बार-बार आसक्तिपूर्ण एवं रसमय रमण किया  
जाता है, वह भी वैसा मनोरंजक नहीं होता जैसा प्रेम में आप्लुत पुरुषों द्वारा  
जैसे-तैसे और जहाँ-तहाँ भी किया हुआ रमण ॥ ७४ ॥

उज्झसि पिआई समअं तह वि हु रे भणसि कीस किसिअं त्ति ।

उवरिभरेण अ अण्णुअ मुअइ बइल्लो वि अङ्गाइं ॥७५॥

[ उह्यसे प्रियया समं तथापि खलु रे भणसि किमिति कृशेति ।  
उपरि भरेण च हे अज्ज मुञ्चति वलोवदोऽप्यङ्गानि ॥ ]

तेरो प्रिया के साथ तुझे हृदय में धारण कर रही हूँ । मूर्ख ! फिर भी तू  
पूछता है—“दुर्बल क्यों हो गई हो ।” अधिक भार पड़ने पर बैल भी क्षीण हो  
जाता है ॥ ७५ ॥

दिढमूलबन्धगण्ठि व्व मोइआ कहँ वि तेण मे बाहू ।

अहोहिँ वि तस्स उरे खुत्त व्व समुव्वखा थणआ ॥ ७६ ॥

[ दृढमूलबन्धग्रन्थो इव मोचितौ कथमपि तेन मे बाहू ।  
अस्माभिरपि तस्योरसि निखाताविव समुत्खातौ स्तनौ ॥ ]

उन्होंने दृढ़ता से ग्रन्थि के समान बँधो हुई मेरी भुजाओं से अपने को किसी  
प्रकार मुक्त किया और मैंने भी उनके वक्ष में धँसे हुए उरोजों को मानों उखाड़  
लिया ॥ ७६ ॥

अणुअपसाइआए तुज्ज वराहे चिरं गणन्तीए ।

अपहुत्तोहअहत्थङ्गुरीअ तोए चिरं रुणं ॥ ७७ ॥

[ अनुनयप्रसादितया तत्रापराधाश्चिरं गणयन्त्या ।  
अप्रभूतोभयहस्ताङ्गुल्या तया चिरं रुदितम् ॥ ]

अनुनय से प्रसन्न होने पर भी वह मुन्दरी देर तक तुम्हारे अपराध गिनती रही । जब गिनते-गिनते दोनों हाथों की अँगुलियाँ समाप्त हो गईं तब देर तक रोती रही ॥ ७७ ॥

**सेअच्छलेण पेच्छह तणुए अङ्गम्मि से अमाअन्तं ।  
लावणं ओसरइ व्व तिवलिसोवाणवत्तीए ॥ ७८ ॥**

[ स्वेदच्छलेन पश्यत तनुकेऽङ्गे तस्या अमात् ।  
लावण्यमपसरतीव त्रिवलोसोपानपंक्तिभिः ॥ ]

तन्वंगी नायिका के शरीर में न समाता हुआ सौन्दर्य मानों स्वेद के ब्याज से त्रिवली की सोपान-पंक्ति द्वारा नीचे उतर रहा है ॥ ७८ ॥

**देव्वाअत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं पुणो भणिमो ।  
कङ्कल्लिपल्लवानं ण पल्लवा होन्ति सारिच्छा ॥ ७९ ॥**

[ देवायत्ते फले किं क्रियतामियत्पुनर्भणामः ।  
कङ्कल्लिपल्लवानां न पल्लवा भवन्ति सदृशाः ॥ ]

क्या किया जाय ? फल तो दैवाधीन है परन्तु मैं इतना कहे देती हूँ कि अन्य वृक्षों के पल्लव अशोक के पल्लवों की समानता नहीं कर सकते ॥ ७९ ॥

**धुअइ व्व मअकलङ्कं कपोलपडिअस्स माणिणी, उअह ! ।  
अणवरअवाहजलभरिअणअणकलसेहिं चन्दस्स ॥ ८० ॥**

[ धावतीव मृगकलङ्कं कपोलपतित्तस्य मानिनी पश्यत ।  
अनवरतबाष्पजलभृतनयनकलशाभ्यां चन्द्रस्य ॥ ]

देखो, वह मानिनी मानों अनवरत अध्रु-सलिल-पूर्ण नेत्र कलशों से कपोल पर प्रतिबिम्बित मृगांक का कलंक धो रही है ॥ ८० ॥

**गन्धेण अप्पणो मालिआणो गोमालिआ ण फुट्टिहइ ।  
अण्णो को वि हआसइ मंसलो परिमलुगारो ॥ ८१ ॥**

[ गन्धेनात्मनो मालिकानां नवमालिका त च्युता भविष्यति ।  
अन्याःकोऽपि हतशाया मांसलः परिमलोद्गारः ॥ ]

पुष्प-मालाओं में अपने गन्ध के कारण नवमालिका का स्थान न्यून नहीं हो सकता क्योंकि उस भूँहजलो का परिमल-कोष ही कुछ और है ॥ ८१ ॥

फलसंपत्तीअ समोणआइँ तुङ्गाइँ फलविपत्तीए ।

हिअआइ सुपुरिसाणं महातरूणं व सिहराइँ ॥ ८२ ॥

[ फलसंपत्त्या समवनतानि तुङ्गानि फलविपत्या ।

हृदयानि सुपुरुषाणां महातरूणामिव शिखराणि ॥ ]

सत्पुरुषों का हृदय विशाल वृक्ष की शाखा के समान फल-संपत्ति में अवनत एवं फलहीन होने पर उन्नत हो जाता है ॥ ८२ ॥

आसासेइ परिअणं परिवत्तन्तीअ पहिअजाआए ।

णित्थाणुवत्तणे वलितहत्थमुहलो वलअसद्दो ॥ ८३ ॥

[ आश्वासयति परिजनं परिवर्तमानायाः पथिकजायायाः ।

निःस्थामवर्तने वलितहस्तमुखरो वलयशब्दः ॥ ]

विरह-वेदना में स्थाणु (खम्भे) के समान निश्चेष्ट पड़ी हुई पथिक-प्रिया जब करवट बदलती है तब उसके स्पन्दित हाँथों की कंकण-ध्वनि सखियों को आश्वस्त कर देती है ॥ ८३ ॥

तुङ्गो च्चिअ होइ मणो मणंसिणो अन्तिमासु वि दसासु ।

अत्थमणम्मि वि रइणो किरणा उद्धं च्चिअ स्फुरन्ति ॥ ८४ ॥

[ तुङ्गमेव भवति मनो मनस्विनोऽन्तिमास्वपि दशासु ।

अस्तमनेऽपि रवेः किरणा ऊर्ध्वमेव स्फुरन्ति ॥ ]

अन्तिम अवस्था में भी मनस्वी पुरुषों का मन उन्नत ही बना रहता है, क्योंकि सूर्य की किरणें अन्तिम बेला में भी ऊपर को स्फुरित होती हैं ॥ ८४ ॥

पोट्टं भरन्ति सउणा वि माउआ अप्पणो अणुव्विरगा ।

विहलुद्धरणसहावा हुवन्ति जइ के वि सत्पुरिसा ॥ ८५ ॥

[ उदरं विभ्रति शकुना अपि हे मातर आत्मनोऽनुद्विग्नाः ।

विह्वलोद्धरणस्वभावा भवन्ति यदि केऽपि सत्पुरुषाः ॥ ]

माँ ! अपना पेट तो पक्षी भी सरलता से भर लेते हैं, परन्तु विपन्न प्राणियों का उद्धार करना ही जिनका स्वभाव बन गया है, वे सत्पुरुष बहुत ही कम हैं ॥ ८५ ॥

ण विणा सबभावेण घेप्पइ परमत्थजाणुओ लोओ ।

को जुणमउजरं कञ्जिएण वेआरिउं तरइ ॥ ८६ ॥

[ न विना सद्भावेन गृह्यते परमार्थज्ञो लोकः ।  
को जीर्णमार्जारं काञ्जिकया प्रतारयितुं शक्नोति ॥ ]

वास्तविकता के बिना जानकार व्यक्ति कभी अनुरक्त नहीं होते, कौन बूढ़ी बिल्ली को काँजी से घोखे में डाल सकता है ॥ ८६ ॥

रण्णाउ तणं रण्णाउ पाणिअं सव्वजं सअंगाहं ।

तह वि मआणं मईणं अ आमरणन्ताइं पेम्माइं ॥ ८७ ॥

[ अरण्यात्तुणमरण्यात्पानोयं सर्वतः स्वयंग्राहम् ।  
तथापि मृगाणां मृगीणां चामरणान्ताति प्रेमाणि ॥ ]

यद्यपि हरिन और हरिनियों को वन से ही तृण और वन से ही जल स्वतः उपलब्ध हो जाते हैं, फिर भी उनके प्रेम का आमरण अन्त नहीं होता ॥ ८७ ॥

तावमवणेइ ण तहा चन्दणपङ्को विकामिमिहुणाणं ।

जह दूसहे वि गिम्हे अण्णोण्णालिङ्गणसुहेल्ली ॥ ८८ ॥

[ तापमपनयति न तथा चन्दनपङ्कोऽपि कामिमिथुनानाम् ।  
यथा दूःसहेऽपि ग्रीष्मे अन्योन्यालिङ्गन सुखकेलिः ॥ ]

ग्रीष्म में विलासी दम्पति का ताप चन्दन भी उतना नहीं दूर कर पाता, जितना परस्पर आलिंगन की सुखमय क्रीडा ॥ ८८ ॥

तुप्पाणणा किणो चिट्ठसि त्ति पडिपुच्छिआएँ वहुआए ।

विउणावेट्ठिअजहणत्थलाइ लज्जोणअं हसिअं ॥ ८९ ॥

[ घृतलिप्तानना किमिति तिष्ठसीति परिपृष्ट्या बध्वा ।  
द्विगुणावेष्टितजघनस्थलया लज्जावनतं हसितम् ॥ ]

तुमने मुख में घृत क्यों लगा लिया है” यह पूछने पर अपनी जाँघों को और भी छिपाती हुई लज्जीली बहू ने सिर झुकाकर मुस्करा दिया ॥ ८९ ॥

हिअअ च्चेअ विलीणो ण साहिओ जाणिऊण घरसारं ।

बान्धवदुर्ववणं विअ दोहलंओ दुग्गअवहए ॥ ९० ॥

[ हृदय एव विलीनो न कथितो ज्ञात्वा गृहसारम् ।  
बान्धवदुर्वचनमिव दोहदो दुर्गतवध्वा ॥ ]

घर की दोन दशा जानकर दरिद्र की गर्भिणी वधू का मनोरथ हृदय में ही विलीन हो गया, बन्धुओं को खलने वाली वाणी के समान वह बाहर न निकला ॥ ९० ॥



धावइ विअलिअधम्मिल्लसिचअसंजमणवावडकरग्गा ।

चन्दिलभअविवलाअन्तडिम्भपरिमग्गिणी घरिणी ॥ ९१ ॥

[ धावति विगलितधम्मिल्लसिचयसंयमनव्यापृतकराग्गा ।

चन्दिलभयविपलायमानडिम्भपरिमार्गिणी गृहिणी ॥ ]

जिसका हाथ छूटे हुये केशपाश और शिथिल वस्त्रों को सँभालने में संलग्न है, वह गृहिणी नाई के भय से भागने वाले बालक को ढूँढती हुई दौड़ रही है ॥ ९१ ॥

जह जह उव्वहइ व्हू णवजोव्वणमणहराई अङ्गाई ।

तह तह से तणुआअइ मज्झो दइओ अ पडिवक्खो ॥ ९२ ॥

[ यथा यथोद्धृते वधूर्नवयौवनमनोहराण्यङ्गानि ।

तथा तथा तस्यास्तनूयते मध्यो दयितश्च प्रतिपक्षः ॥ ]

वह जैसे-जैसे युवावस्था के मनोहर अंगों को धारण करती है, वैसे-वैसे उसका पति, कटि और सपत्नियाँ क्षीण होने लगती हैं ॥ ९२ ॥

जह जह जरापरिणओ होइ पई दुग्गओ विरूओ वि ।

कुलवालिआणँ तह तइ अहिअअरं वल्लहो होइ ॥ ९३ ॥

[ यथा यथा जरापरिणतो भवति पतिदुर्गतो विरूपोऽपि ।

कुलपालिकानां तथा तथाधिकतरं वल्लभो भवति ॥ ]

दरिद्र और कुरूप पति भी जैसे-जैसे वृद्ध होता जाता है वैसे-वैसे कुलांगनाओं को अधिक प्रिय होता जाता है ॥ ९३ ॥

एसो मामि जुवाणो वारंवारेण जं अडअणाओ ।

गिम्हे गामेक्कवडोअअं व किच्छेण पावन्ति ॥ ९४ ॥

[ एष मातुलानि युवा वारंवारेण यमसत्त्वः ।

ग्रीष्मे ग्रामैकवटोदकमिव कृच्छ्रेण प्राप्नुवन्ति ॥ ]

मामी ! यह वही युवक है, जिसे ग्रीष्म में छायादार बरगद के नीचे एकमात्र कूएँ के पानी के समान असती युवतियाँ बारी-बारी से कठिनाई से प्राप्त कर पाती हैं ॥ ९४ ॥

गामवडस्स पिउच्छा आवण्डुमुहीणँ पण्डुरच्छाअं ।

हिअएण समं असईणँ पडइ वाआहअं पत्तं ॥ ९५ ॥

[ ग्रामवटस्य पितृष्वस आपाण्डुमुखीनां पाण्डुरच्छायम् ।  
हृदयेन सममसतीनां पतति वाताहतं पत्रम् ॥ ]

फूफी ग्राम्य वट के पोले पत्ते वायु से आहत होकर पाण्डु-वदना पुंश्चलियों के हृदय के साथ नोचे गिर रहे हैं ॥ ९५ ॥

पेच्छइ अलद्धलवखं दीहं णीससइ सुण्णअं हसइ ।  
जह जम्पइ अफुडत्थं तह से हिअअट्ठअं किं पि ॥ ९६ ॥

[ पश्यत्यलब्धलक्ष्यं दीर्घं निःश्वासिति शून्यं हसति ।  
यथा जल्पत्यस्फुटार्थं तथा तस्या हृदयस्थितं किमपि ॥ ]

यह सुन्दरी लक्ष्यहीन नेत्रों से देखती है । दीर्घ निःश्वास लेती है । शून्य में हँसती है । अर्थहीन प्रलाप करती है । अतः इसके हृदय में कुछ अवश्य होगा ॥ ९६ ॥

गहबइ गओम्ह सरणं रक्खसु एअं त्ति अडअणा भणिरी ।  
सहसागअस्स तुरिअं पइणो विअ जारमप्येइ ॥ ९७ ॥

[ गृहपते गतोऽस्माकं शरणं रक्षेनमित्यसती भणित्वा ।  
सहसागतस्य त्वरितं पत्युरेव जारमर्पयति ॥ ]

“गृहस्वामी ! यह हमारी शरण में आया है, इसकी रक्षा कीजिये” यह कह कर व्यभिचारिणी युवती ने सहसा आगये पति के हाथों में जार को सौंप दिया ॥ ९७ ॥

हिअअट्ठअस्स दिज्जउ तणुआअन्ति ण पेच्छह पिउच्छा ? ।  
हिअअट्ठिओम्ह कंतो भणिउं मोहं गआ कुमरी ॥ ९८ ॥

[ हृदयेप्सितस्य दीयतां तनूभवन्तीं न पश्यथ पितृष्वसः ।  
हृदयेप्सितोऽस्माकं कुतो भणित्वा मोहं गता कुमारी ॥ ]

“फूफी ! देख नहीं रही हो ? यह कितनी दुबली होती जा रही है । जो इसके हृदय में बस गया है, उसी से इसका विवाह कर दो ।” यह सुनते ही “हम कुमारियों के हृदय में कोई कैसे बसेगा ।” यह कह कर वह कन्या मूर्च्छित हो गई ॥ ९८ ॥

खिणस्स उरे पइणो ठवेइ गिम्हावरणहरमिअस्स ।  
ओलं गलन्तकुसुमं ण्हाणसुअन्धं चिउरभारं ॥ ९९ ॥

[ खिन्नस्पोरसि पत्युः स्थापयति ग्रीष्मापराह्णरमितस्य ।  
आर्द्रं गलत्कुसुमं स्नानसुगन्धं चिकुरभारम् ॥ ]

जिसके पुष्प विगलित हो गये थे, जो स्नान से आर्द्र एवं सुगन्धित था, सुन्दरी बधू अपना वही केशपाश ग्रीष्म के अपराह्ण में रमण से थके हुए प्रिय के वक्ष पर फैला देती है ॥ ९९ ॥

अहं सरदन्तमण्डलकवोलपडिमागओ मअच्छोए ।

अन्तो सिन्दूरिअसङ्खवत्तकरणिं वहइ चन्दो ॥१००॥

[ असौ सरसदन्तमण्डलकवोलप्रतिमागतो मृगाक्षयाः ।

अन्तः सिन्दूरितशङ्खपात्रसादृश्यं वहति चन्द्रः ॥ ]

मृगनयनी के कवोल पर अंकित मण्डलाकार दशनलेखा में बिम्बित चन्द्रमा उस शंख पात्र-सा प्रतीत होने लगता है, जिसके भीतर सिन्दूर लगा हो ॥१००॥

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मअए ।

सत्तसअम्मि समत्तं तीअं गाहासअं एअं ॥१०१॥

[ रतिकजन हृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिमिते ।

सप्तसतके समाप्तं तृतीयं गाथाशतकमेतत् ॥ ]

जिनमें कविवत्सल हाल का प्रमुख स्थान है, उन कवियों द्वारा बनाये हुए रसिकों को प्यारे सप्तशतक का तृतीय शतक समाप्त हो गया ॥१०१॥



## चतुर्थं शतकम्

अह अम्ह आअदो अज्ज कुलहराओ त्ति छेच्छई जारं ।  
सहसागतस्स तुरिअं पइणो कण्ठं मिलावेइ ॥ १ ॥

[ असावस्माकमागतोऽद्य कुलगृहादित्यसती जारम् ।  
सहसागतस्य त्वरितं पत्युः कण्ठे लगयति ॥ ]

‘ये आज ही हमारे पिता जी के यहाँ से पधारें हैं’ कह कर व्यभिचारिणी पत्नी अपने प्रेमी को सहसा आये हुए पति के गले मिलवा देती है ॥ १ ॥

पुसिआ अण्णाहरणेन्दणीलकिरणाहभा ससिमऊहा ।  
माणिणिवअणम्मि सकज्जलंसुसङ्काइ दइएण ॥ २ ॥

[ प्रोज्झिताः कर्णाभरणेन्द्रनीलकिरणाहताः शशिमयूखाः ।  
मानिनीवदने सकज्जलाश्रुशङ्कया दयितेन ॥ ]

मानिनी प्रिया के कर्णाभरण में खचित नील मणि की प्रभा से मिली हुई चन्द्रमा की किरणों को उसके आनन पर कज्जल-मिश्रित अश्रु की आशंका से पति ने पोंछ दिया ॥ २ ॥

एदहमेत्तम्मि जए सुन्दरमहिलासहस्सभरिए वि ।  
अणुहरइ णवर तिस्सा वामद्धं दाहिणद्धस्स ॥ ३ ॥

[ एतावन्मात्रे जगति सुन्दर महिलासहस्रभृतेऽपि ।  
अनुहरति केवलं तस्या वामार्धं दक्षिणार्धस्य ॥ ]

सहस्रों सुन्दरी महिलाओं से भरे हुए इतने बड़े जगत् में भी उसका वामपार्श्व केवल उसी के दक्षिण पार्श्व के समान है ॥ ३ ॥

जह जह वाएइ पिओ तह तह णच्चामि चञ्चले पेम्मे ।  
वल्लो वलेइ अङ्गं सहावथद्वे वि रुक्खम्मि ॥ ४ ॥

[ यथा यथा वादयति प्रियस्तथा तथा नृत्यामि चञ्चले प्रेम्णि ।  
वल्लो वलयत्यङ्गं स्वभावस्तब्धेऽपि वृक्षे ॥ ]

प्रिय जैसे-जैसे बजाता है, मैं वैसे-वैसे प्रेम से चंचल होकर नाचती हूँ । लता स्वभावतः स्तब्ध वृक्ष से लिपट जाती है ॥ ४ ॥

दुःखेहिँ लम्भइ पिओ लद्धो दुःखेहिँ होह साहीणो ।  
लद्धो वि अलद्धो विवअ जइ जह हिअअं तत ण होइ ॥ ५ ॥

[ दुःखैर्लभ्यते प्रियो लब्धो दुःखैर्भवति स्वाधोनः ।  
लब्धोऽप्यलब्ध एव यदि यथा हृदयं तथा न भवति ॥ ]

प्रिय दुःख से ही उपलब्ध होता है और मिलने पर कठिनता से वशीभूत होता है । यदि कहीं हृदय के अनुकूल न हुआ तो मिलना न मिलने के समान हो जाता है ॥ ५ ॥

अव्वो अणुणअसुहकङ्खिरीअ अलंअ कअ कुणन्तीए ।  
सरलसहावो वि पिओ आवणअमगं बलणीओ ॥ ६ ॥

[ कष्टमनुनयसुखकाङ्क्षणशोल्याकृतं कृतं कुर्वत्या ।  
सरलस्वभावोऽपि प्रियोऽविनयमार्गं बलान्नोतः ॥ ]

हाय ! अनुनय-सुख की आकांक्षा करने वालो मैंने न किये हुए अपराधों का भी आरोप कर सरल-स्वभाव पति को हठात् कुमार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया ॥ ६ ॥

हत्थेसु अ पाएसु अ अङ्गुलिगणणाइ अइगआ दिअहा ।  
एण्हिँ उण केण गणिज्जउ त्ति भणेउ रुअइ मुद्धा ॥ ७ ॥

[ हस्तयोश्च पादयोश्चाङ्गुलिगणनयातिगता दिवसाः ।  
इदानीं पुनः केन गण्यतामिति भणित्वा रोदिति मुग्धा ॥ ]

“हाथों और पैरों की अँगुलियाँ गिन गिनकर मैंने आज तक विरह के दिन बितायें, अब कैसे गिनूँ ?” यह कहकर मुग्धा रो पड़ी ॥ ७ ॥

कीरमुहसच्छहेहिँ रेहइ वसुहा पलासकुसुमेहिँ ।  
बुद्धस्स चलणवन्दणपडिएहिँ व भिक्खुसंघेहिँ ॥ ८ ॥

[ कीरमुखसदृक्षै राजते वसुधा पलाशकुसुमैः ।  
बुद्धस्य चरणवन्दनपतितैरिव भिक्षुसंघैः ॥ ]

बुद्ध के चरणों की वन्दना के लिये गिरे हुए भिक्षु-संघ की भाँति यह पृथ्वी शुकों की चोंच के तुल्य पलाश-पुष्पों से सुशोभित हो रही है ॥ ८ ॥

जं जं पिहुलं अङ्गं तं तं जाअं किसोअरि किसं ते ।  
जं जं तणुअं तं तं वि णिट्ठअं किं त्थ माणेण ॥ ९ ॥

[ यद्यत्पृथुलमङ्गं तत्तज्जातं कृशोदरि कृशं ते ।  
यद्यत्तनुकं तत्तदपि निष्ठितं किमत्र मानेन ॥ ]

कृशोदरि ! तुम्हारे जो अंग स्थूल थे, वे कृश हो गये हैं और जो कृश थे, वे भी कृशतर हो गये हैं । अब मान से क्या लाभ है ? ॥ ९ ॥

ण गुणेण हीरइ जणो हीरइ जो जेण भाविओ तेण ।

मोत्तूण पुलिन्दा मोत्तिआइँ गुज्जाओँ गेह्वन्ति ॥ १० ॥

[ न गृणेन ह्यियते जनो ह्यियते यो येन भावितस्तेन ।  
मुक्त्वा पुलिन्दा मोत्तिकानि गुञ्जा गृह्वन्ति ॥ ]

कोई किसी के गुणों पर मोहित नहीं होता । जिस पर जिसका अनुराग हो जाता है, वह उसी के वश में हो जाता है । वनवासी पुलिन्द मुक्ता का परित्याग कर गुंजा को ही धारण करते हैं ॥ १० ॥

लङ्कालआणं पुत्तअ वसन्तमासेकलद्धप्रसराणं ।

आपीअलोहिआणं वीहेइ जणे पलासाणं ॥ ११ ॥

[ लङ्कालयानां पुत्रक वसन्तमासैकलब्धप्रसराणाम् ।  
आपीतलोहितानां बिभेति जनः पलाशानाम् ॥ ]

केवल वसन्त में फूलने वाले, डाली पर खिले, पीले और लाल पलाश-पुष्पों से वियोगी भयभीत हो जाते हैं ॥ ११ ॥

द्वितीय अर्थ—

जो वसा, आँत और मांस खाकर खूब मोटे हो गये हैं, तथा जिन्होंने रक्त-पान किया है, उन लंकावासी मांसभक्षी राक्षसों से लोग भयभीत हो जाते हैं ॥

घेत्तूण चुण्णमुट्ठिं हरिसूससिआए वेपमाणाए ।

भिसिणेमिन्ति पिअअमं हत्थे गन्धोदअं जाअं ॥ १२ ॥

[ गृहीत्वा चूर्णमुष्टिं हर्षात्सुकृताया वेपमानायाः ।  
अवकिरामोति प्रियतमं हस्ते गन्धोदकं जातम् ॥ ]

हर्ष से उत्सुक कंपित नायिका ने प्रिय के ऊपर कंकुम-चूर्ण फेंकने लिये जैसे ही मुट्टी में लिया, वह सुगन्धित जल में परिणत हो गया ॥ १२ ॥

पुट्ठिं पुससु किसोअरि पडोहरङ्कोल्लपत्तचित्तलिअं ।

छेआहिँ दिअरजाआहिँ उज्जुए मा कलिज्जिहिसि ॥ १३ ॥

[ पृष्ठं प्रोञ्छ कृशोदरि पश्चाद्गुहाङ्कोटपत्रचित्रितम् ।  
विदग्धाभिर्देवरजायामि ऋजुके मा कलिष्यसे ॥ ]

कृशांगि ! तुम कितनी सरल हो ? पिछवाड़े के अंकोट की पत्तियों से चिह्नित  
पीठ तो पोंछ डालो, नहीं तो देवर की चतुर पत्नियाँ जान लेंगी ॥ १३ ॥

अच्छीईं ता थइस्सं दोहिँ वि हस्थेहिँ वि तस्सि दिट्ठे ।

अङ्गं कलम्बकुसुमं व पुलइअं कहँ णु ढक्किस्सं ॥ १४ ॥

[ अक्षिणी तावत्स्थगयिष्यामि द्वाभ्यामपि हस्ताभ्यां तस्मिन्दृष्टे ।

अङ्गं कदम्बकुसुममिव पुलकितं कथं नु च्छादयिष्यामि ॥ ]

प्रिय को देखते ही दोनों हाथों से आँखें तो ढँक लूँगी, किन्तु कदम्ब की  
भाँति पुलकित अंग कैसे छिपा सकूँगी ? ॥ १४ ॥

झञ्झाबाउत्तणिए घरम्मि रोरुण णोसहणिसण्णं ।

दावेइ व गअवइअं विज्जुज्जोओ जलहराणं ॥ १५ ॥

[ झञ्झावातोत्तृणिते गृहे रुदित्वा निःसहनिषण्णाम् ।

दर्शयतीव गतपतिकां विद्युद्द्योतो जलधराणाम् ॥ ]

झंझा के झकोर से जिसका फूम उड़ गया था, उस गृह में रोकर असहाय  
बँठी हुई परदेशी की प्रिया को बिजली की कौंध में मेघों को दिखा देती  
है ॥ १५ ॥

भुञ्जसु जं साहीणं कुत्तो लोणं कुगामरिद्धम्मि ।

सुहअ सलोणेण वि किं तेण सिणेहो जहिँ ण त्थि ॥ १६ ॥

[ भुञ्क्ष्व यत्स्वाधीनं कुतो लवणं कुग्रामरिद्धे ।

सुभग सलवणेनापि किं तेन स्नेहो यत्र नास्ति ॥ ]

जो मेरे अधिकार में है, उसे आप स्वीकार करें, दरिद्र गाँव की रसोई में  
नमक कहाँ ? जिसमें स्नेह हो नहीं है, वह सलोना होकर ही क्या करेगा ? ॥ १६ ॥

सुहपुच्छिआइ हलिओ सुहपङ्कअसुरहिपवणणिव्वविअं ।

तह पिअइ पअइकडुअं पि ओसहं जण ण णिट्ठाइ ॥ १७ ॥

[ मुखपुच्छिकाया हलिको मुखपङ्कजसुरभिपवननिर्वापितम् ।

तथा पिबति प्रकृतिकटुकमप्योषधं यथा न तिष्ठति ॥ ]

कुशल पूछने वाली के मुख-पंकज के सुरभित पवन से शीतल की हुई स्वभाव  
से कटु ओषधि को, वह हलवाहा ऐसे पी जाता है कि लेश भी न बचता ॥ १७ ॥

अह सा तर्हि तर्हि विवअ वाणीरवणम्मि चुक्कसंकेआ ।

तुह दंसणं विमग्गइ पढ्भट्टणिहाणठाणं व ॥ १८ ॥

[ अथ सा तत्र तत्रैव वानीरवने विस्मृतसङ्केता ।

तव दर्शनं विमार्गति प्रभ्रष्टनिधानस्थानमिव ॥ ]

वह अपना संकेत स्थान भूल जाने से बेतों के उस वन में तुम्हारा दर्शन  
बूढ़ रही है, जैसे कोई गड़ी हुई निधि का स्थान भूल गया हो ॥ १८ ॥

दढरोसकलुसिअस्स वि सुअणस्स मुहाहिँ विप्पिअं कत्तो ।

राहुमुहम्मि वि ससिणो किरणा अमअं विअ मुअन्ति ॥ १९ ॥

[ दढरोषकलुषितस्यापि सुजनस्य मुखादप्रियं कुतः ।

राहुमुखेऽपि शशिनः किरणा अमृतमेव मुञ्चन्ति ॥ ]

दृढ़ रोष से कलुषित होने पर भी सज्जन के मुख से अप्रिय वाणी कब  
निकलती है ? चन्द्रमा की किरणों राहु के मुख में भी अमृत ही हैं ॥ १९ ॥

अवमाणिओ वि ण तहा दुमिज्जइ सज्जणो विहवहीणो ।

पड्डिकाउं असमत्थो माणिज्जन्तो जह परेण ॥ २० ॥

[ अवमानितोऽपि न तथा दूयते सज्जनो विभवहीनः ।

प्रतिकर्तुसमर्थो मान्यमानो यथा परेण ॥ ]

घनहीन सत्पुरुष तिरस्कृत होने पर भी उतना संतप्त नहीं होता, जितना  
दूसरे के किये हुए सम्मान का प्रत्युपकार न कर पाने पर ॥ २० ॥

कलहन्तरे वि अविणिग्गआइँ हिअअम्मि जरमुवग्गआइँ ।

सुअणकआइ रहस्साइँ डहइ आउक्खए अग्गो ॥ २१ ॥

[ कलहान्तरेऽप्यविनिर्गतानि हृदये ज्जामुपगतानि ।

सुजनश्रुतानि रहस्यानि दहत्यायुः क्षयेऽग्निः ॥ ]

जो कलह में भी बाहर नहीं निकलते तथा जो हृदय में ही जीर्ण हो जाते  
हैं, वे सत्पुरुषों के सुने हुये रहस्य मृत्यु के पश्चात् अग्नि में भस्म हो जाते  
हैं ॥ २१ ॥



लुम्बीओ अङ्गणमाहवीणें दारगलाउ जाआउ ।  
आसासो पान्थपलोअणे वि पिट्ठो गअवईणं ॥ २२ ॥

[ स्तवका अङ्गणमाहवीणां द्वारागला जाताः ।  
आश्वासः पान्थप्रलोकनेऽपि नष्टो गतपतिकानाम् ॥ ]

आँगन की माधवी लता के स्तवक द्वार पर अगला के समान फैल गये हैं  
अतः प्रोषित पतिकाओं को पथिकों को देखकर जो आश्वासन मिलता था, वह  
भी नष्ट हो गया ॥ २२ ॥

पिअदंसणमुहरसमउलिआइँ जइ से ण होन्ति णअणाइँ ।  
ता केण कण्णरइअं लक्खिज्जइ कुवलअं तिस्सा ॥ २३ ॥

[ प्रियदर्शनसुखरसमुकुलिते यदि तस्या न भवतो नयने ।  
तदा केन कर्णरचितं लक्ष्यते कुवलयं तस्याः ॥ ]

यदि प्रिय को देखकर उसकी आँखें आनन्द से मुकुलित न हो जातीं तो  
कानों में लटकते हुये कुवलयों को कौन पहचान सकता था ? ॥ २३ ॥

चिक्खिल्लखुत्तहलमुहकढ्ढणसिठिले पइम्मि पासुत्ते ।  
अप्पत्तमोहनसुहा घणसमअं पामरो सवइ ॥ २४ ॥

[ कर्दममग्नहलमुखकर्षणशिथिले पत्यौ प्रसुप्ते ।  
अप्राप्तमोहनसुखा घनसमयं पामरो शपति ॥ ]

पंक में मग्न हल को चलाकर थके हुये पति के सो जाने पर रतिक्रीड़ा से  
वंचित ग्राम्या वर्षाकाल को शाप देती है ॥ २४ ॥

दुम्मेन्ति देन्ति सोक्खं कुणन्ति अणुराअअं रमावेन्ति ।  
अरइरइबन्धवाणं णमो णमो मअणवाणाणं ॥ २५ ॥

[ दून्वन्ति ददति सौख्यं कुर्वन्त्यनुरागं रमयन्ति ।  
अरतिरबान्धवेभ्यो नमो नमो मदनबाणेभ्यः ॥ ]

अरति और रति प्रदान करने वाले उन मदन-बाणों को नमस्कार है, जो  
सन्ताप देते हैं, सुख देते हैं, अनुराग उत्पन्न करते हैं और रमण कराते हैं ॥ २५ ॥

कुसुममआ वि अइखरा अलद्धफंसा वि दूसहपआवा ।  
भिन्दन्ता वि रइअरा कामस्स सरा बहुविअप्पा ॥ २६ ॥

[ कुसुममया अप्यतिखरा अलब्धस्पर्शा अपि दुःसहप्रतापाः ।  
भिन्दन्तोऽपि रतिकराः कामस्य शरा बहुविकल्पाः ॥ ]

पुष्पमय होने पर भी अत्यन्त कठोर, स्पर्श शून्य होने पर भी असह्य-सन्ताप-  
कारी एवं हृदय को बीध डालने पर भी प्रिय लगने वाले मदन-वाणों का स्वरूप  
ही अनेक प्रकार का है ॥ २६ ॥

ईसं जणेन्ति दावेन्ति मम्महं विष्पिअं सहावेन्ति ।

विरहे ण देन्ति मरिउं अहो गुणा तस्स बहुमग्गा ॥ २७ ॥

[ ईर्ष्या जनयन्ति दीपयन्ति मन्मथं विप्रियं साहयन्ति ।  
विरहे न ददति मर्तुमहो गुणास्तस्य बहुमार्गाः ॥ ]

अहा ! उनके गुण असंख्य हैं, जो ईर्ष्या उत्पन्न कर देते हैं, काम को  
उद्दीप्त करते हैं, प्रतिकूलता को भी सद्य बना देते हैं और विरह में भी मरने  
नहीं देते ॥ २७ ॥

णीआइँ अज्ज णिविक्ख पिणद्धणवरङ्गआँइ वराईए ।

घरपरिवाडीअ पहेणआइँ तुह दंसणासाए ॥ २८ ॥

[ नीतान्यद्य निष्कृप पिनद्धनवरङ्गकया वराक्या ।  
गृहपरिपाट्या प्रहेणकानि तव दर्शनाशया ॥ ]

अरे निर्दय ! यह बेचारी तेरे दर्शन की आशा से नहीं रँगी साड़ी पहन कर  
घर-घर घूमती हुई बायने बाँटती रही ॥ २८ ॥

सूइज्जइ हेमन्तम्मि दुग्गओ पुप्फुआसुअन्धेण ।

धूमकविलेण परिविरलतन्तुणा जुण्णवडएण ॥ २९ ॥

[ सूच्यते हेमन्ते दुर्गतः करीषाग्निसुगन्धेन ।  
धूमकपिलेन परिविरलतन्तुना जोर्णपटकेन ॥ ]

जिससे करसी की आग की सुगन्ध निकल रही है, जो धूयें से पीला हो गया  
है तथा जिसके सूत्र विरल हो चुके हैं, वह जोर्ण वस्त्र हेमन्त में दरिद्र मनुष्य की  
सूचना दे देता है ॥ २९ ॥

खरसिप्परउल्लिहिआइँ कुणइ पहिओ हिमागमपहाए ।

आअमणजलोल्लिअहत्यफंसमसिणाइँ अङ्गाइँ ॥३०॥

[ तीक्ष्णपलालोल्लिखितानि करोति पथिको हिमागमप्रभाते ।  
आचमनजलाद्रितहस्तस्पर्शमसृणान्यङ्गानि ॥ ]

जाड़े की रात में सोने के लिये बिछाये हुये तीक्ष्ण पुआल से अंकित अंगों को सबेरा होने पर वह पथिक मुँह धोते समय भाँगे हाथों के स्पर्श से चिकना कर रहा है ॥ ३० ॥

**णवखक्खुडीअं सहआरमञ्जरिं पामरस्य सीसम्मि ।**

**बन्दिम्मिव हीरन्तीं भमरजुआणा अणुसरन्ति ॥ ३१ ॥**

[ नखोत्खण्डितां सहकारमञ्जरीं पामरस्य शीर्षे ।

बन्दीमिव ह्लियमाणां भ्रमरयुवानोऽणुसरन्ति ॥ ]

नखों से खंडित आम्र मंजरी को बन्दिनी की भाँति शिर पर ले जाते हुये अषम पुरुष के पोछे तरुण भ्रमर दौड़ रहे हैं ॥ ३१ ॥

**सूरच्छलेण पुत्तअ कस्स तुमं अञ्जलिं पणामेसि ।**

**हासकडक्खुम्मिस्सा ण होन्ति देवाणं जेक्कारा ॥ ३२ ॥**

[ सूर्यच्छलेन पुत्रक कस्मै त्वमञ्जलिं प्रणामयसि ।

हास्यकराक्षोन्मिथ्वा न भवन्ति देवानां जयकाराः ॥ ]

पुत्र ! तुम सूर्य के व्याज से किसे हाथ जोड़कर प्रणाम कर रहे हो ? देवताओं की जयध्वनि हास्य और कटाक्ष से मिश्रित नहीं होती ॥ ३२ ॥

**मुहविज्झविअपईवं णिरुद्धसासं ससङ्घिओल्लावं ।**

**सवहस अरक्सिओट्ठं चोरिरअरमिअं सुहावेइ ॥ ३३ ॥**

[ मुखविध्मापितप्रदीपं निरुद्धश्वासं सशङ्कितोल्लापं ।

शपथशतरक्षितोष्ठं चोरिकारमितं सुखयति ॥ ]

जहाँ मुँह से फूँककर दीपक बुझा दिया जाता है, साँसें रोककर डरते-डरते बात को जातो है और सौ-सौ शपथों से अधर सुरक्षित रखे जाते हैं, वह चोरी-चोरी होने वाली रति-क्रीड़ा कितनी सुखद होती है ॥ ३३ ॥

**गेअच्छलेण भरिउं कस्स तुमं हअसि णिबभरुक्कण्ठं ।**

**मण्णुपडिरुद्धकण्ठद्धणित्तखलिअक्खरुल्लावं ॥ ३४ ॥**

[ गेयच्छलेन स्मृत्वा कस्य त्वं रोदिषि निर्भरोत्कण्ठम् ।

मन्युप्रतिरुद्धकण्ठार्धनिर्यत्स्खलिताक्षरोल्लापम् ॥ ]

किसकी स्मृति में अत्यन्त उत्कंठित होकर गीत के व्याज से रो रही हो ? क्योंकि शोक से निरुद्ध कण्ठ से निकलने वाले तुम्हारे अधूरे वाक्य स्वल्पित होते जा रहे हैं ॥ ३४ ॥

बहलतमा हहराई अज्ज पउत्थो पई घरं सुण्णं ।

तह जग्गेषु सअज्जिअ ण जहा अम्हे मुसिज्जामो ॥ ३५ ॥

[ बलहतमाः हतरात्रिरद्य प्रोषितः पतिर्गृहं शून्यम् ।

तथा जागृहि प्रतिवेशिन्न यथा वयं मृष्यामहे ॥ ]

अंधेरी रात आ गई है । आज स्वामी भी परदेश चले गये । मेरा गृह सूना  
सूना है । पड़ोसी ! जागते रहना नहीं तो मुझे चोर लूट ले जायेंगे ॥ ३५ ॥

संजीवणोसहिम्मिव सुअस्स रक्खइ अणणवावारा ।

सासू णवब्भदंसणकण्ठागअजीविअं सोह्लं ॥ ३६ ॥

[ संजीवनौषधमिव सुतस्य रक्षत्यनन्यव्यापारा ।

श्वश्र्न्वाभ्रदर्शनकण्ठागतजीवितां स्नुषाम् ॥ ]

नये मेघों को देखते ही जिसके प्राण कंठ में आ गये हैं, सास पुत्र की  
पुनरुज्जीवनी औषधि के समान उस बहू को, सब काम छोड़कर बचाती  
है ॥ ३६ ॥

णूणं हिअअणिहत्ताइ वससि जाआइ अम्ह हिअअम्मि ।

अण्णह मणोरहा मे सुहअ क्हं तीअ विण्णाआ ॥ ३७ ॥

[ नूनं हृदयनिहितया वससि जाययास्माकं हृदये ।

अन्यथा मनोरथा मे सुभग कथं तथा विज्ञाताः ॥ ]

तुम अवश्य ही हृदयवासिनी प्रिया के साथ मेरे हृदय में निवास करते हो  
अन्यथा उसने मेरे मनोरथों को कैसे जान लिया ॥ ३७ ॥

तइ सुहअ अईसन्ते तिस्सा अच्छीहिं कण्णलग्गोहिं ।

दिण्णं घोलिरवाहेहिं पाणिअं दंसणसुहाणं ॥ ३८ ॥

[ त्वयि सुभग अदृश्यमाने तस्या अक्षिभ्यां कर्णलग्नाभ्यां ।

दत्तं घूर्णनक्षीलबाष्पाभ्यां पानीयं दर्शनसुखेभ्यः ॥ ]

प्यारे ! तुम्हारे अदृश्य होते ही कानों तक फैली हुई सजल आँखों से उसने  
दर्शन-सुख को तिलांजलि दे दी ॥ ३८ ॥

उप्पेक्खागअ तुह मुहदंसण पडिरुद्धजीविआसाइ ।

बुहिआइ मए कालो कित्तिअमेत्तो व्व णेअव्वो ॥ ३९ ॥

[ उत्प्रेक्षागत त्वन्मुखदर्शनप्रतिरुद्धजीविताशया ।

दुःखितया मया कालः कियन्मात्रो वा नेतव्यः ॥ ]

ध्यानावस्था में तुम्हारे मुख का दर्शन पाकर जीवन की आशा रखने वाली मुझ दुःखदायिनी को अभी और कितने दिन बिताने होंगे ॥ ३९ ॥

**बोलीणालक्खिअरुअजोवणा पुत्ति कं ण दुम्मेसि ।**

**दिट्ठा पणट्ठोराणजणवआ जम्मभूमि व्व ॥ ४० ॥**

[ व्यतिक्रान्तालक्षितरूपयौवना पुत्रि कं न दुनोषि ।

दृष्टा प्रणष्टपौराणजनपदा जन्मभूमिरिव ॥ ]

बेटी ! तुम्हारा रूप और यौवन अब नष्ट हो चुका है, पुराने परिचित जन-समूह ( जन ब्रज ) से शून्य जन्मभूमि के समान तुम्हें देखकर किसे दुःख न होगा ॥ ४० ॥

**परिओसविअसिएहिं भणिअं अच्छोहिं तेण जणमज्जे ।**

**पडिवणं तीअ वि उव्वमन्तसेएहिं अक्केहि ॥ ४१ ॥**

[ परितोषविकिसिताभ्यां भणितमक्षिभ्यां तेन जनमध्ये ।

प्रतिपन्नं तयाप्युद्धमस्त्वेदैरङ्गै ॥ ]

नायक ने लोगों के बीच में हर्ष-विकसित नेत्रों से कह दिया और नायिका ने स्वेद बहाते हुए अंगों से स्वीकार कर लिया ॥ ४१ ॥

**एक्कक्कमसंदेसाणुराअवड्ढन्त कोउहल्लाईं ।**

**दुःखं असमत्तणोरहाईं अच्छन्ति मिहुणाईं ॥ ४२ ॥**

[ अन्योन्यसंदेशानुरागवर्धमानकौतूहलानि ।

दुःखमसमाप्तमनोरथानि तिष्ठन्ति मिथुनानि ॥ ]

परस्पर सन्देश द्वारा उत्पन्न अनुराग से जिनका कुतूहल बढ़ गया है तथा जिनकी इच्छाएँ अभी पूर्ण नहीं हुई हैं, वे दोनों प्रेमी बड़े ही कष्ट से जी रहे हैं ॥ ४२ ॥

**जइ सो ण वल्लहो व्विअ गोत्तगहणेण तस्स सहि कीस ।**

**होइ मुहं ते रविअरफंसव्विसदं व तामरसं ॥ ४३ ॥**

[ मदि स न वल्लभ एव गोत्रग्रहणेन तस्य सखि किमिति ।

यवति मुखं तव रविकरस्पर्शविकसितमिव तामरसम् ॥ ]

यदि तू उमसे प्रेम नहीं करती है तो उसका नाम लेते ही तेरा मुख सूर्य की किरणों स्पष्ट विकसित पद्म सा क्यों हो जाता है ? ॥ ४३ ॥

**माणद्रुमपरुषपवणस्स मामि सब्वङ्गणिव्वुडअरस्स ।**

**अवऊहणस्स भद्रं रइणाडअपुव्वरङ्गस्स ॥४४॥**

[ मानद्रुमपरुषपवनस्य मातुलानि सर्वाङ्गानिवृत्तिकरस्य ।  
अवगूहनस्य भद्रं रतिनाटकपूर्वरङ्गस्य ॥ ]

मामो ! जो सभी अंगों को तृप्ति प्रदान करता है, जो मान-वृक्ष का प्रभंजन एवं रति-नाटक का पूर्वं रंग है, उस आलिंगन का मंगल हो ॥ ४४ ॥

**णिअआणुमाणणीसङ्क हिअअ दे पसिअ विरम एत्ताहे ।**

**अमुणिअपरमत्थजणाणुलग्ग कीस ह्य लहुएसि ॥४५॥**

[ निजकानुमाननिःशङ्क हृदय हे प्रसोद विरमेदानीम् ।  
अज्ञातपरमार्थजनानुलग्न किमित्यस्माल्लघयसि ॥ ]

“जैसे मैं विरह से व्यथित हूँ, वैसे ही दूसरे भी होंगे” यह सोचकर निश्चिन्त रहने वाले हृदय ! रुक जाओ, जिसने परायी पीर नहीं जानी है, उस व्यक्ति में आसक्त होकर मेरा गौरव क्यों कम करते हो ? ॥ ४५ ॥

**ओसहिअजणो पइणा सलाहमाणेण अइचिरं हसिओ ।**

**चन्दो त्ति तुज्झ वअणे विइण्णकुसुमञ्जलिविलक्खो ॥४६॥**

[ आवसथिकजनः पत्या श्लाघमानेनातिचिरं हसितः ।  
इन्द्र इति तव वदने वितीर्णकुसुमाञ्जलिविलक्षः ॥ ]

जब वह व्रती चन्द्रमा के घोखे में तुम्हारे मुख को ही पुष्पाञ्जलि देकर लज्जित हो गया तो पतिदेव उसकी प्रशंसा करते हुये देर तक हँसते रहे ॥ ४६ ॥

**छिज्जन्तेहिं अणुदिणं पच्चक्खम्मि वि तुमम्मि अङ्गेहिं ।**

**बालअ पुच्छिज्जन्तो ण आणिमो कस्स किं भणिमो ॥४७॥**

[ क्षीयमाणौरनुदिनं प्रत्यक्षेऽपि त्वय्यङ्गैः ।  
बालक पृच्छयमाना न जानीमः कस्य किं भणामः ॥ ]

तुम्हारे उपस्थिति में भी अहरह मेरे अंग क्यों क्षीण होते जा रहे हैं, सखियाँ जब इसका कारण पूछने लगती हैं, तो मेरी समझ में नहीं आता कि कौन सा उत्तर दूँ ॥ ४७ ॥

अङ्गानं तणुआरअ सिक्खावअ दीहरोइअव्वाणं ।

विणआइक्कमआरअ मा मा णं पहासिज्जासु ॥ ४८ ॥

[ अङ्गानां तनुकारक शिक्षक दीर्घरोदितव्यानाम् ।

विनयातिक्रमकारक मा मा एनां प्रस्मरिष्यसि ॥ ]

जिसके अंगों को तुमने दुर्बल किया है, जिसे चिरकाल से रोने की शिक्षा दी है तथा जिसने तुम्हारे लिये शील का उल्लंघन किया है, उसे फिर याद मत करना ॥ ४८ ॥

अण्णह ण तीरइ च्चिअ परिवड्ढन्तगरुअं पिअअमस्स ।

मरणविणोएण विणा विरमावेउं विरहदुक्खं ॥४९॥

[ अन्यथा न शक्यत एव परिवर्धमानगुरुकं प्रियतमस्य ।

मरणविनोदेन विना विरमयितुं विरहदुःखम् ॥ ]

प्रिय की विरह व्यथा बढ़ते-बढ़ते बहुत बढ़ गई है । अब तो मृत्यु के बिना उसकी शान्ति का कोई उपाय ही नहीं है ॥ ४९ ॥

वणन्तीहं तुह गुणे बहुसो अम्हिं छिच्छईपुरओ ।

बालअ सअमेअ कओसि दुल्लहो कस्स कुप्पामो ॥ ५० ॥

[ वर्णयन्तोभिस्तव गुणान्बहुशोऽस्माभिरसतोपुरतः ।

बालक स्वयमेव कृतोऽसि दुर्लभः कस्मै कुप्यामः ॥ ]

व्यभिचारिणी स्त्रियों के सम्मुख तुम्हारे अनन्त गुणों का वर्णन कर हमने स्वयं ही तुम्हें दुर्लभ बना दिया है, अब कोप किस पर करें ॥ ५० ॥

जाओ सो वि विलक्खो मए वि हसिऊण गाढमुवगूढो ।

पढमोसरिअस्स णिअंसणस्स गण्ठि विमगन्तो ॥५१॥

[ जातः सोऽपि विलक्षो मयापि हसित्वा गाढमुपगूढः ।

प्रथमापसृतस्य निवसनस्य ग्रंथि विमार्ग्यमाणः ॥ ]

पहले ही खुली हुई नीवी की ग्रंथि जब ढूँढने पर भी न मिली, तो के लज्जित हो गये और मैंने हँसकर दोनों भुजाओं से उन्हें कस लिया ॥ ५१ ॥

कण्डुज्जुआ वराई अज्ज तए सा कआवराहेण ।

अलसाइअरुण्णविअम्मिआई दिअहेण सिक्खविआ ॥५२॥

[ काण्डर्जुका वराकी अद्य त्वया सा कृतापराधेन ।  
अलमायितरुदितविजृम्भितानि दिवसेन शिक्षिता ॥ ]

तुमने आज अपराध कर एक दिन में ही सरकंडे सी सीधी नायिका को आलस्य, रोदन और जँभायी की शिक्षा दे दी है ॥ ५२ ॥

अवराहेहिं वि ण तहा पत्तिअ जह मं इमेहिं दुम्मेसि ।  
अवहत्थिअसब्भावेहिं सुहअ दक्खिण्णभणिएहिं ॥५३॥

[ अपराधैरपि न तथा प्रतीहि यथा मामेभिदुंनोषि ।  
अपहस्तितसद्भावैः सुभग दाक्षिण्यभणितैः ॥ ]

विश्वास रखो, तुम मुझे अपराधों से भी उतना दुःख नहीं पहुँचाते, जितना चतुराई से भरी हुई उन बातों से, जिनमें स्नेह लेशमात्र भी नहीं होता ॥ ५३ ॥

मा जूर पिआलिङ्गणसरहसभमिरीणं बाहुलइआणं ।  
तुल्लिक्कपरुण्णेण अ इमिणा माणंसिणि मुहेण ॥५४॥

[ मा क्रुध्यस्व प्रियालिङ्गनसरभसभ्रमणशीलाभ्यां बाहुलतिकाभ्याम् ।  
तूष्णीकप्ररुदितेन चानेन मनस्विनि मुखेन ॥ ]

मानिनी ! भीतर ही भीतर मूक रोदन करते हुये इस मुख द्वारा, सहसा प्रिय के आलिंगन के लिये चंचल भुजाओं पर मत खीझो ॥ ५४ ॥

मा वच्च पुप्फलाविर देवा उअअञ्जलोहिं त्सत्ति ।  
गोआअरीअ पुत्तअ सीलुम्मूलाइं कूलाइं ॥५५॥

[ मा ब्रज पुष्पलवनशील देवा उदकाञ्जलिभिस्तुष्यन्ति ।  
गोदावर्याः पुत्रक शीलोन्मूलानि कूलानि ॥ ]

पुष्प चुनने वाले ! गोदावरी का तट शील का खण्डन करने वाला है, तुम वहाँ मत जाओ, बेटा ! देवता जलाञ्जलि से भी सन्तुष्ट हो जाते हैं ॥ ५५ ॥

वअणे वअणम्मि चलन्तसीससुण्णावहाणहुङ्कारं ।  
सहि देन्ति णीसासन्तरेसु कीस म्हु दुम्मेसि ॥५६॥

[ वचने वचने चलच्छीर्षशून्यावधानहुङ्कारम् ।  
सखि ददती निःश्वासान्तरेषु किमित्यस्मान्दुनोषि ॥ ]

सखी ! मेरी प्रत्येक बात पर ध्यान दिये बिना ही बीच-बीच में दीर्घ श्वास लेकर और शिर हिलाकर “हाँ-हाँ” करती हुई तू मुझे क्यों कष्ट दे रही है ॥ ५६ ॥



सबभावं पुच्छन्ती बालअ रोआविआ तुअ पिआए ।  
णत्थि व्विअ कअसवहं हासुम्मिस्सं भणन्तीए ॥५७॥

[ सद्भावं पृच्छन्ती बालक रोदिता तव प्रियया ।  
नास्त्येव कृतशपथं हासोन्मिश्रं भणन्त्या ॥ ]

तुम्हारे प्रेम के सम्बन्ध में पूछने पर शपथ पूर्वक हँसकर “नहीं है” यह कहती हुई तुम्हारी प्रिया ने मुझे रुला दिया ॥ ५७ ॥

एत्थ मए रमिअव्वं तोअ समं चिन्तिऊण हिअएण ।  
पामरकरसेओल्ला णिवअइ तुवरी वविज्जन्ती ॥ ५८ ॥

[ अत्र मया रत्नव्यं तथा समं चिन्तयित्वा हृदयेन ।  
पामरकरस्वेदार्रा निपतति तुवरी उप्यमाना ॥ ]

“अपनी प्रिया के साथ यहीं रमण करूँगा” यह सोचकर अरहर बोते हुये कृषक के हाथों के स्वेद से सने बीज खेत में गिरने लगे ॥ ५८ ॥

गहवइसुओच्चिएसु वि फलहीवेण्टेसु उअह वहुआए ।  
मोहं भमइ पुलइओ विलगसेअङ्गुली हत्थो ॥ ५९ ॥

[ गृहपतिमुतावचितेष्वपि कर्पासवृन्तेषु पश्यत वध्वाः ।  
मोघं भ्रमति पुलकितो विलग्नस्वेदाङ्गुलिर्हस्तः ॥ ]

गृहपति पुत्र ने जिनके पुष्प चुन लिये हैं, कपास के उन सूने वृत्तों पर भी स्वेद से भीगी हुई अँगुलियों वाला बहू का पुलकित हाथ व्यर्थ हो फिर रहा है ॥ ५९ ॥

अज्जं मोहणसुहिअं मुअत्ति मोत्तू पलाइए हल्लिए ।  
दरफुडिअवेण्टभारोणआइ हसिअं व फलहीए ॥ ६० ॥

[ आर्या मोहनमुखितां मृतेति मुक्त्वा पलायिते हल्लिके ।  
दरस्फुटितवृन्तभारावनतया हसितमिव कार्पास्या ॥ ]

सुरत के सुख में लीन हुई आर्या को मृत समझ कर जब वह हलवाहा भाग गया, तो अधखिली कलियों के भार से झुके हुए कपास ने मानों हँस दिया ॥ ६० ॥

णीसासुवकम्पिअपुलइएहिं जाणन्ति णच्चिउं धण्णा ।  
अम्हारिसीहिं विट्ठे पिअम्मि अण्णा वि वीसरिओ ॥ ६१ ॥

[ निःश्वासोत्कम्पितपुलकितैर्जानन्ति नर्तितुं धन्याः ।  
अस्मादृशीभिर्दृष्टे प्रिये आत्मापि विस्मृतः ॥ ]

जो निश्वास, उत्कंप और पुलक का नाट्य करना जानती हैं, वे धन्य हैं । मैं तो प्रिय को देखते ही अपने को भी भूल जाती हूँ ॥ ६१ ॥

तणुएण वि तणुइज्जइ खीएण वि विखज्जए बला इमिणा ।  
मज्झत्थेण वि मज्झणे पुत्ति कहे तुज्ज पडिवक्खो ॥ ६२ ॥

[ तनुकेनापि तनूयते क्षीणेनापि क्षीयते बलादनेन ।  
मध्यस्थेनापि मध्येन पुत्रि कथं तव प्रतिपक्षः ॥ ]

तुम्हारा मध्य भाग दुर्बल होकर भी सपत्नियों को दुर्बल कैसे बना रहा है ?  
क्षीण होकर भी क्षीण कैसे कर रहा है ? बेटो ! वह तो मध्यस्थ है ॥ ६२ ॥

वाहिच्च वेज्जरहिओ धणरहिओ सुअणमज्झवासो च्च ।  
रिउरिद्धिदंसणम्मिव दूसहणीओ तुह विओओ ॥ ६३ ॥

[ व्याधिरिव वैद्यरहितो धनरहितः स्वजनमध्यवास इव ।  
रिपुऋद्धिदर्शनमिव दुःसहनीयस्तव वियोगः ॥ ]

वैद्यहीन व्याधि, स्वजनों के बीच दरिद्रता-पूर्ण जीवन और शत्रुओं के उत्कर्ष-दर्शन के समान तुम्हारा वियोग असह्य है ॥ ६३ ॥

को त्थ जअम्मि समत्थो थइउं वित्थिण्णणिम्मलुत्तुक्कं ।  
हिअअं तुज्ज णराहिव गअणं च पओहरं मोत्तुं ॥ ६४ ॥

[ कोऽत्र जगति समर्थः स्थगयितुं विस्तीर्णनिर्मलोत्तुङ्गम् ।  
हृदयं तव नराधिप गगनं च पयोधरान्मुक्त्वा ॥ ]

राजन् ! संसार में पयोधरों ( स्तन और मेघ ) को छोड़कर विस्तीर्ण,  
निर्मल एवं उत्तुंग आकाश और तुम्हारे हृदय को आच्छादित करने में कौन  
समर्थ है ? ॥ ६४ ॥

आअण्णेइ अडअणा कुडक्कहेट्टम्मि दिण्णसङ्केआ ।  
अग्गपअपेल्लिआणं मम्मरअं जुण्णपत्ताणं ॥ ६५ ॥

[ आकर्णयत्यसती कुञ्जाधो दत्तसङ्केता ।  
अग्रपदप्रेरितानां मर्मरकं जीर्णपत्राणाम् ॥ ]

कुंज के नीचे जिसका संकेत स्थान है, वह व्यभिचारिणी पैरों के अगले भाग से चूर्ण होने वाले शुष्क-पत्रों की मरमर ध्वनि सुन रही है ॥ ६५ ॥

**अहिलेन्ति सुरहिणोससिअपरिमलाबद्धमण्डलं भमरा ।**

**अमुणिअचन्द्रपरिह्वं अपुव्वकमलं मुहं तिस्सा ॥ ६६ ॥**

[ अभिलीयन्ते सुरभिनिःश्वसितपरिमलाबद्धमण्डलं भमराः ।

अज्ञातचन्द्रपरिभवमपूर्वकमलं मुखं तस्याः ॥ ]

उसका मुख चन्द्रमा से भी पराभूत न होने वाला अपूर्व कमल है जिस पर सुरभित निःश्वास के परिमल के कारण भ्रमरों के झुण्ड मँडरा रहे हैं ॥ ६६ ॥

**धीरावल्म्बिरोअ वि गुरुअणपुरओ तुमम्मि वोलीणे ।**

**पडिओ से अच्छिणिमीलणेण पम्हट्टिओ वाहो ॥ ६७ ॥**

[ धैर्यावल्म्बनशीलाया अपि गुरुजनपुरतस्त्वयि व्यतिक्रान्ते ।

पतितस्तस्या अक्षिनिमीलनेन पद्मस्थितो बाष्पः ॥ ]

गुरुजनों के समक्ष धीरज रखने वाली सुन्दरी ने तुम्हारे अदृश्य होते ही, आँखें बन्द कीं तो पलकों में स्थित आँसू चू पड़े ॥ ६७ ॥

**भरिमो से सअणपरम्मुहीअ विअलन्तमाणपसराए ।**

**कइअवसुत्तव्वत्तणथणकलसप्पेल्लणसुहेल्लिं ॥ ६८ ॥**

[ स्मरामस्तस्याः शयनपराङ्मुख्या विगलन्मानप्रसरायाः ।

कैतवसुप्तोद्वर्तनस्तनकलशप्रेरणमुखकेलिम् ॥ ]

जिसका बड़ा हुआ मान गलित हो चुका था फिर भी शय्या पर दूसरी ओर मुँह किये सो रही थी—झूठी नींद में करवट बदलते समय—उस प्रिया के उन्नत कुर्चों के स्पर्श का रसमय अनुभव नहीं भूलता ! ॥ ६८ ॥

**फग्गुच्छणणिद्वोसं केण वि कट्टमपसाहणं दिण्णं ।**

**थणअलसमूहपलोद्वन्तसेअधोअं किणो धुअसि ॥ ६९ ॥**

[ फाल्गुनोत्सवनिर्दोषं केनापि कर्दमप्रसाधनं दत्तम् ।

स्तनकलशमुखप्रलुठस्वेदधौतं किमिति धावयसि ॥ ]

किसी ने पंक से तुम्हारा शृंगार कर दिया था, वह स्तन कलशों से चूने वाले स्वेद से हो घुल चुका है। धो क्या रही हो? फाल्गुन के उत्सव में पंक डालना कोई बुरा नहीं मानता ॥ ६९ ॥

किं ण भणिओ सि बालअ गामणिधूआइ गुरुअणसमक्खं ।

अणिमिसमीसीसिवलन्तवअणअणद्धदिट्ठोहिं ॥ ७० ॥

[ किं न भणितोऽसि बालक ग्रामणोपुत्रा गुरुजनसमक्षम् ।

अनमिषमीषदीषद्वलद्वदनयनार्धदृष्टेः ॥ ]

भोले मनुष्य ! किसान की बेटो ने गुरुजनों के समक्ष मुँह फिरा-फिरा कर अपलक नेत्रों की आधी चितवनों से देख कर तुमसे क्या नहीं कह दिया ॥ ७० ॥

णअणबभन्तरघोलन्तबाहभरमन्थराइ दिट्ठीए ।

पुणरुत्तपेच्छिरीए बालअ किं जं ण भणिओ सि ॥ ७१ ॥

[ नयनाभ्यन्तरघूर्णमानबाष्पभरमन्थरया दृष्ट्या ।

पुनरुत्तप्रेक्षणशीलया बालक किं यन्न भणितोऽसि ॥ ]

बार-बार तुम्हें देखती हुई नायिका ने नयनों के भीतर छलकते हुए आँसुओं के भार से मन्थर दृष्टि से सब कुछ कह दिया ॥ ७१ ॥

जो सीसम्मि विइण्णो मज्झ जुआणेहिं गणवई आसी ।

तं त्विअ एल्लि पणमाणि हअजरे होहि संतुट्ठा ॥ ७२ ॥

[ यः शीर्षे वितीर्णो मम युवभिर्गणपतिरासीत् ।

तमेवेदानीं प्रणमामि हतजरे भव संतुष्टा ॥ ]

नवयुवकों ने जिस गणेश को मेरे सिरहाने रखकर रमण किया था, आज मैं उसी की अर्चना कर रही हूँ । पापिन जरा ! अब तो तू सन्तुष्ट हो जा ॥ ७२ ॥

अन्तोहुत्तं डज्जइ जाआसुण्णे घरे हलिअउत्तो ।

उक्खाअणिहाणाइँ व रमिअट्ठाणाइँ पेच्छन्तो ॥ ७३ ॥

[ अन्तरभिमुखं दह्यते जायाशून्ये गृहे हालिकपुत्रः ।

उत्खातनिधानानोव रमितस्थानानि पश्यन् ॥ ]

प्रिया-हीन गृह में रमण किये हुए स्थानों को उस भूमि के समान देखकर वह किसान भीतर ही भीतर दग्ध हो रहा है, जिसमें गड़ी हुई सम्पत्ति कोई खोद ले गया है ॥ ७३ ॥

णिट्ठाभक्को आवण्डुरत्तणं दीहरा अ णीसासा ।

जाअन्ति जस्स विरहे तेण समं कीरिसो माणो ॥ ७४ ॥

[ निद्राभङ्ग आपाण्डुरत्वं दीर्घश्च निःश्वासाः ।

जायन्ते यस्य विरहे तेन समं कीदृशो मानः ॥ ]

जिसके विरह में नींद नहीं आती, शरीर पीला हो जाता है और लम्बी आँहें भरनी पड़ती हैं, उसके साथ मान कैसा ? ॥ ७४ ॥

**तेण ण मरामि मण्णूहिँ पूरिआ अज्ज जेण रे सुहअ ।**

**तोग्गअमणा मरन्ती मा तुज्झ पुणो वि लग्गिस्सं ॥ ७५ ॥**

[ तेन न म्रिये मन्युभिः पूरिताद्य येन रे सुभग ।

त्वद्गतमना म्रियमाणा मा तत पुनरपि लग्गिष्यामि ॥ ]

अत्यन्त रोष में भर कर तुम्हारा चिन्तन करती हुई मैं इसलिये आज मर जाना नहीं चाहती कि कहीं जन्मान्तर में तुम मुझे पुनः न मिल जाओ ॥ ७५ ॥

**अवरज्जसु वीसद्धं सव्वं ते सुहअ विसहिमो अम्हे ।**

**गुणणिब्भरम्मि ह्मिअए पत्तिअ दोसा ण माअन्ति ॥ ७६ ॥**

[ अपराध्यस्व विस्रब्धं सर्वं ते सुभग विषहामहे वयम् ।

गुणनिर्भर हृदये प्रतीहि दोषा न मान्ति ॥ ]

निर्भय होकर अपराध करते जाओ, प्राणेश ! मैं सब सहलूंगी ! मेरे, गुण-ग्राही हृदय में विश्वास रखो—दोषों के लिये कोई स्थान नहीं है ॥ ७६ ॥

**भरिउच्चरन्तपसरिअपिअसंभरणपिसुणो वराईए ।**

**परिवाहो दिअ दुक्खस्स वहइ णअणट्ठिअओ वाहो ॥ ७७ ॥**

[ भूतोच्चरत्प्रसृतप्रियसंस्मरणपिशुनो वराक्याः ।

परोवाह इव दुःखस्य वहति नयनस्थितो वाष्पः ॥ ]

वराकी बाला के नेत्रों के आँसू ऊपर उमड़-उमड़ कर प्रिय के संस्मरण की सूचना देते हुये दुःख की नाले के समान बह रहे हैं ॥ ७७ ॥

**जं जं करेसि जं जं जंपसि जह तुम णिअच्छेसि ।**

**तं तमणुसिक्खरीए दोहो दिअहो ण संपडइ ॥ ७८ ॥**

[ यद्यत्करोषि यद्यज्जल्पसि यथा त्वं निरीक्षसे ।

तत्तदनुशिक्षणशीलाया दोर्घो दिवसो न संपद्यते ॥ ]

तुम जो जो करते थे, जैसे-जैसे बात-चीत करते थे और जैसे-जैसे देखते थे,

उसी का अनुकरण करती हुई नायिका को पूरा दिन भी लम्बा नहीं जान पड़ता ॥ ७८ ॥

**भण्डन्तोअ तणाइं सोत्तुं दिण्णाइं जाइं पहिअस्स ।**

**ताइं ज्जेअ पहाए अज्जा आअट्टइ रुअन्ती ॥ ७९ ॥**

[ भर्त्सयन्त्या तृणाणि स्वप्तुं दत्तानि यानि पथिकस्य ।

तान्येव प्रमाते आर्या आकर्षति रुदती ॥ ]

चिड़चिड़ाती हुई नायिका ने रात में पथिक को सोने के लिये जो तृणों का बिछौना दिया था, सबेरे उसे ही रोती हुई हटा रही है ॥ ७९ ॥

**वसणम्मि अणुव्विग्गा विहवम्मि अगव्विआ भए घोरा ।**

**होन्ति अहिण्णसहावा समेसु विसमेसु सप्पुरिसा ॥ ८० ॥**

[ व्यसनेऽनुद्विग्ना विभवेऽगर्विता भये घोराः ।

भवन्त्यभिन्नस्वभावाः समेषु विषमेषु सत्पुरुषाः ॥ ]

सत्पुरुष दुःख में उद्विग्न नहीं होते, संप्रकृत में गर्व नहीं करते, संकट में घोरज रखते हैं और उनका स्वभाव अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में समान रहता है ॥ ८० ॥

**अज्ज सहि केण गोसे कं पि मणे वल्लहं भरन्तेण ।**

**अम्हं मअणसराहअहिअववणफोडनं गीअं ॥ ८१ ॥**

[ अद्य सखि केन प्रातः कामपि मन्ये वल्लभां स्मरता ।

अस्माकं मदनशराहतहृदयव्रणस्फोटनं गीतम् ॥ ]

आज सबेरे किसी विरही ने प्राणप्रिया को स्मृति में ऐसा गीत गाया कि मदन-बाण से आहत मेरे हृदय का घाव ताजा हो गया ॥ ८१ ॥

**उट्टन्तमहारम्भे थणए वट्ठण मुद्धवहुआए ।**

**ओसण्णकवोलाए णीससिअं पढमघरिणोए ॥ ८२ ॥**

[ उत्तिष्ठन्महारम्भौ स्तनौ दृष्ट्वा मुग्धवध्वाः ।

अवसन्नकपोलया निःश्वसितं प्रथमगृहिण्या ॥ ]

नववधू के उठते हुये पयोधरों का महान् विस्तार देख कर शुष्क-कपोलों वाली प्रथम पत्नी ने आह भर ली ॥ ८२ ॥

गरुडछुआउलिअस्स वि वल्लहकरिणीमुहं भरन्तस्स ।  
सरसो मुणालकवलो गअस्स हत्थे चिअ मिलाणो ॥ ८३ ॥

[ गुरुकक्षुधाकुलितस्यापि वल्लभकरिणीमुखं स्मरत ।  
सरसो मृणालकवलो गजस्य हस्त एव म्लानः ॥ ]

आहार के लिये तोड़ा हुआ मृणाल का मधुर घास, भूख से व्यथित होने पर भी प्राणवल्लभा करिणी के मुख की स्मृति में लीन गजराज के शुण्ड पर ही सुरक्षा गया ॥ ८३ ॥

पसिअ पिए का कुविआ सुअणु तुमं परअणम्मि को कोवो ।  
को हु परो नाथ तुमं कोस अपुष्णाण मे सत्ती ॥ ८४ ॥

[ प्रसीद प्रिये का कुपिता सुतनु त्वं परजने कः कोपः ।  
कः खलु परो नाथ त्वं किमित्यपुण्यानां मे शक्तिः ॥ ]

प्रिये ! प्रसन्न हो जाओ । कुपित कौन है ? तुम । पराये पुरुष पर कैसा कोप ? पराया कौन है ? तुम्हीं । क्यों ? मेरे पापों का है ॥ ८४ ॥

एहिसि तुमं त्ति णिमिसं व जग्गिअं जामिणीअ पढमद्धं ।  
सेसं संतावपरव्वसाइ वरिसं व वोलीणं ॥ ८५ ॥

[ एष्यसि त्वमिति निमिषमिव जागरितं यामिन्याः प्रथमार्धम् ।  
शेषं सन्तापपरवशाया वर्षमिव व्यतिक्रान्तम् ॥ ]

“तुम आते होंगे” इस आशा से आधी रात तो जागते-जागते निमेष के समान कट गई, किन्तु संताप से परवश होकर मैंने शेष रात को एक वर्ष के समान व्यतीत किया ॥ ८५ ॥

अवलम्बह मा सङ्कह ण इमा गहलङ्घिअ परिभमइ ।  
अत्थक्कगज्जिउबभन्तहित्थहिअआ पहिअजाआ ॥ ८६ ॥

[ अवलम्बध्वं मा शङ्कध्वं नेयं ग्रहलङ्घिता परिभ्रमति ।  
आकस्मिकगजितोद्भ्रान्तत्रस्तहृदया पथिकजाया ॥ ]

पथिक की प्रिया भाग रही है । रोको, रोको, डरो मत उसे भूत नहीं लगा है । मेघों के आकस्मिक गर्जन से उसका हृदय त्रस्त एवं उद्भ्रान्त हो गया है ॥ ८६ ॥

केसररअविच्छड्डे मअरन्दो होइ जेतिओ कमले ।  
जइ भमर तेन्तिओ अण्णहिं पि ता सोहसि भमन्तो ॥ ८७ ॥

[ केसररजःसमूहे मकरन्दो भवति यावान्कमले ।  
यदि भ्रमर तावानन्यत्रापि तदा शोभसे भ्रमन् ॥ ]

हे भ्रमर ! कमल के किजल्क के धूल समूह में जितना मकरकन्द रहता है, यदि उतना अन्यत्र भी प्राप्त हो, तभी तुम्हारे मँडराने की शोभा है ॥ ८७ ॥

पेच्छान्त अणिमिसच्छा पहिआ हलिअस्स पिट्टुपण्डुरिअं ।  
धूअं दुद्धसमुहुत्तरन्तल्लिच्छ विअ सअल्ला ॥ ८८ ॥

[ प्रेक्षन्तेऽर्निमषाक्षाः पथिका हलिकस्य पिष्टपाण्डुरिताम् ।  
दुहितरं दुग्धसमुद्रोत्तरलक्ष्मीमिव सतृष्णाः ॥ ]

गैहूँ पीसते समय उड़े हुये आटे की धूल से जिसका वर्ण पाण्डु हो गया था, हलवाहे की उस पुत्री को क्षीर-सिन्धु से निकली हुई लक्ष्मी के समान देखते हुये सतृष्ण पथिक पलकें ही नहीं गिराते ॥ ८८ ॥

कस्स भरिसि त्ति भणिए को मे अत्थि त्ति जम्पमाणाए ।  
उव्विग्गरोइरोए अम्हे वि रुआविआ तीए ॥ ८९ ॥

[ कस्य स्मरसीति भणिते को मेऽस्तीति जल्पमानया ।  
अद्विग्गरोदनशीलया वयमपि रोदितास्तया ॥ ]

'किसका स्मरण करती हो ।' यह पूछने पर "मेरा कौन है ?" यह कह कर उद्वेग-पूर्वक रोने वाली तरुणी ने हमें भी रुला दिया ॥ ८९ ॥

पाअपड्डिअं अहव्वे किं दाणिं ण उट्ठवेसि भत्तारं ।  
एअं विअ अवसाणं दूरं पि गअस्स पेम्मस्स ॥ ९० ॥

[ पादपतितमभव्ये किमिदानो नोत्थापयसि भर्तारम् ।  
एतदेवावसानं दूरमपि गतस्य प्रेम्णः ॥ ]

अरी अभागिन ! चरणों पर पड़े हुये पति को क्यों नहीं उठातो ? बहुत बढ़े हुये प्रेम का भी चरम उत्कर्ष यहो है ॥ ९० ॥

तड्विणिहिअग्गहत्था वारितरङ्गेहिं घोलिरणिअम्बा ।  
सालूरी पड्विम्बे पुरिसाअन्तिव्व पडिहाइ ॥ ९१ ॥



[ तटविनिहिताग्रहस्ता वारितरङ्गैर्घूर्णनशीलनितम्बा ।  
शालूरी प्रतिबिम्बे पुरुषायमाणेव प्रतिभाति ॥ ]

जिसने अपने अगले पैर तट से संलग्न कर लिये हैं तथा जल की तरंगों से जिसका नितम्ब कंपित हो रहा है, वह मेंढकी मानों अपने प्रतिबिम्ब पर पुरुषा-मित ( विपरीतरति ) कर रही है ॥ ९१ ॥

**सिक्करिअमणिअमुहवेविआइँ धुअत्थसिञ्जिअव्वाइँ ।**

**सिक्खन्तु वोडहीओ कुसुम्भ तुम्ह प्यसाएण ॥ ९२ ॥**

[ सोत्कृतमणितमुखवेपितानि ध्रुतहस्तशिञ्जितव्यानि ।  
शिक्षन्तु कुमार्यः कुसुम्भ युष्मत्प्रसादेन ॥ ]

हे कुसुम्भ ! तुम्हारी कृपा से कुमारियाँ, सी-सी करना, मणित. मुँह मोड़ना, हाथ झिड़कना और भूषणों की क्षनकार की शिक्षा पा लें ॥ ९२ ॥

**जेत्तिअमेत्ता रच्छा णिअम्ब कह तेत्तिओ ण जाओ सि ।**

**जं छिप्पइ गुरुअणलञ्जिओ सरन्तो वि सो सुहओ ॥ ९३ ॥**

[ यावात्प्रमाणा रथ्या नितम्ब कथं तावन्न जातोऽसि ।  
येन स्पृश्यते गुरुजनलज्जापसृतोऽपि स सुभगः ॥ ]

जितनो बड़ी यह गली है, नितम्ब ! तुम उतने बड़े क्यों न हुये ? जिससे गुरुजनों से लज्जित होकर लौटते हुये भी प्राणेश्वर का स्पर्श तुम्हें प्राप्त हो जाता ! ॥ ९३ ॥

**मरगअसूईविद्धं व मोत्तिअं पिअइ आअअग्गीओ ।**

**मोरो पाउसआले तणग्गलगं उअअबिन्दुं ॥ ९४ ॥**

[ मरकतसूचिविद्धमिव मौक्तिकं पिबत्यायतग्रीवः ।  
मयूरः प्रावृटकाले तृणाग्रलग्नमुदकविन्दुम् ॥ ]

पावस में मरकत की सूई से बिधे मोतियों के समान तृणों की नोकों पर लटकते हुये जलविन्दुओं को, मयूर अपनी ग्रीवा उठा कर पी रहा है ॥ ९४ ॥

**अज्जाइ णीलकञ्चुअभरिउव्वरिअं विहाइ थणवट्टं ।**

**जलभरिअजलहरन्तरदरुग्गअं चन्दबिम्ब व्व ॥ ९५ ॥**

[ आर्याया नीलकञ्चुकभृतोर्वरितं विभाति स्तनपृष्ठम् ।  
जलभृतजलधरान्तरदरोद्गतं चन्द्रबिम्बमिव ॥ ]

नीली कंचुकी में न समाता हुआ आर्या का स्तन-पृष्ठ यों प्रतीत होता है,  
जैसे जल-पूर्ण मेघों के अन्तराल से झाँकता हुआ चन्द्र-बिम्ब ॥ ९५ ॥

**राखविरुद्धं व कहां पहिओ पहिअस्स साहइ ससद्धं ।**

**जत्तो अम्बाण दलं तत्तो दरणिगगअं किं पि ॥ ९६ ॥**

[ राजविरुद्धामपि कथां पथिकः पथिकस्य कथयति सशङ्कम् ।

यत आम्नाणां दलं तत ईषन्निर्गतं किमपि ॥ ]

वह पथिक अन्य पथिकों से राज-विरुद्ध वाणी के समान यह कहते डर  
रहा है कि आमों के पल्लवों के ऊपर से कोई चीज कुछ निकल रही है ॥ ९६ ॥

**धण्णा ता महिलाओ जा दइअं सिविणए वि पेच्छन्ति ।**

**णिद्द विवअ तेण विणा ण एइ का पेच्छए सिविणं ॥ ९७ ॥**

[ धन्यास्ता महिला या दयितं स्वप्नेऽपि प्रेक्षन्ते ।

निद्रैव तेन विना नैति का प्रेक्षते स्वप्नम् ॥ ]

वे महिलायें धन्य हैं, जो स्वप्न में भी प्रिय के दर्शन पा जाती हैं । यहाँ तो  
उनके बिना नींद ही नहीं आती स्वप्न कौन देखता है ? ॥ ९७ ॥

**परिरद्धकणअकुण्डत्थलमणहरेसु सवणेसु ।**

**अणअसमअवसेण अ पहिरज्जइ तालवेण्टजुअं ॥ ९८ ॥**

[ परिरद्धकनककुण्डलगण्डस्थलमनोहरयोः श्रवणयोः ।

अन्यसमयवशेन च परिध्रियते तालवृन्तयुगम् ॥ ]

जिनमें लटकते हुए स्वर्ण-कुण्डल कपोलों का चुम्बन करते रहते हैं, समय  
बदल जाने पर सुन्दरियाँ अपने उन्हीं मनोहर कानों में दो ताल-पत्र ही पहनती  
हैं ॥ ९८ ॥

**मज्झल्लपत्थिअस्स वि गिम्हे पहिअस्स हरइ संतावं ।**

**हिअअट्ठिअजाआमुहअद्धजील्लाजलप्पवहो ॥ ९९ ॥**

[ मध्याह्नप्रस्थितस्यापि ग्रीष्मे पथिकस्य हरति संतापं ।

हृदयस्थितजायामुखमृगाद्धज्योत्स्नाजलप्रवाहः ॥ ]

हृदय में प्रतिबिम्बित पत्नी का मुखचन्द्र अपनी ज्योत्स्ना की अमृत-धारा से  
ग्रीष्म की दोपहरी में यात्रा करते हुए पथिक का संताप दूर कर देता है ॥ ९९ ॥

भण को ण रुसइ जणो पत्थिज्जन्तो अएसकालम्मि ।

रतिवाअडा रुअन्तं पिअं वि पुत्तं सवइ माआ ॥ १०० ॥

[ भण को न रुष्यति जनः प्रार्थ्यमानोऽदेशकाले ।

रतिव्यापृता रुदन्तं प्रियमपि पुत्रं शपते माता ॥ ]

रति में व्याप्त माता अपने रोते प्रिय पुत्र को भी शाप देती है, देश और काल को पहचाने बिना जो प्रार्थना करता है, उस पर कौन कुपित नहीं होता ॥ १०० ॥

एत्थं चउत्थं विरमइ गाहाणं सअं सहावरमणिज्जं ।

सोऊण जं ण लगइ हिअए महुअरत्तणेण अमिअं पि ॥ १०१ ॥

[ अत्र चतुर्थं विरमति गाथानां शतं स्वभावरमणीयम् ।

श्रुत्वा यन्न लगति हृदये मधुरत्वेनामृतमपि ॥ ]

यह स्वभाव से रमणीय गाथाओं का चतुर्थ शतक समाप्त हो रहा है, जिसे सुनकर अमृत का माधुर्य भी हृदय को फीका लगेगा ॥ १०१ ॥



## पञ्चम शतकम्

डज्झसि डज्झसु कट्टसि कट्टसु अह फुडसि हिअअ ता फुडसु ।

तह वि परिसेसिओ च्चिअ सो हु मए गल्लिअसबभावो ॥ १ ॥

[ दह्यसे दह्यस्व व्वथ्यसे व्वथ्यस्व अथ स्फुटसि हृदय तत्स्फुट ।

तथापि परिशेषित एव सः खलु मया गलितसद्भावः ॥ ]

हे हृदय ! जल रहे हो, जलो, खील रहे हो, खीलो और फट रहे हो तो फट जाओ, मैंने तो अब उसके स्नेह-शून्य प्रेम को समाप्त ही कर डाला है ॥ १ ॥

दट्टुण रुन्दतुण्डगणिगगं णिअसुअस्स दाढगं ।

भोण्डी विणावि कज्जेण गामणिअडे जवे चरइ ॥ २ ॥

[ दृष्ट्वा विशालतुण्डाग्रनिर्गतं निजमुतस्य दंष्ट्राग्रम् ।

सूकरी विनापि कार्येण ग्रामनिकटे यवांश्चरति ॥ ]

अपने पुत्र के लम्बे मुख से निकली हुई पैनी दाढ़ देखकर वह सूकरी कोई काम न होने पर भी गाँव के पास जो चर रही है ॥ २ ॥

हेलाकरगगअट्टिअजलरिक्कं साअरं पआसन्तो ।

जअइ अणिगगअवडवग्गिभरिअगगणो गणाहिबई ॥ ३ ॥

[ हेलाकराग्राकृष्टजलरिक्तं सागरं प्रकाशयन् ।

जयत्यनिग्रहवडवाग्निभृतगगनो गणाधिपतिः ॥ ]

जिन्होंने खेल ही खेल में अपने शुण्ड से खींचकर सागर की सम्पूर्ण जल-राशि पी ली और शेष बची हुई ( अनिर्गत ) वाडव-ज्वाला से आकाश को व्याप्त कर दिया है, उन भगवान् गणेश की जय हो ॥ ३ ॥

एएण च्चिअ कंकेल्लि तुज्झ तं णत्थि जं ण पज्जत्तं ।

उवमिज्जइ जं तुह पल्लवेण वरकामिणीहत्थो ॥ ४ ॥

[ एतेनैव कङ्कल्ले तव तन्नास्ति यन्न पर्याप्तम् ।

उपमीयते यत्तव पल्लवेन वरकामिनीहस्तः ॥ ]

हे अशोक ! सुन्दरी महिलाओं के पाणिपद्म से तुम्हारी उपमा दी जाती है, यह क्या कम है ? ॥ ४ ॥

रसिअ विअट्ट विलासिअ समअण्णअ सच्चअं असोओ सि ।

वरजुअइचलणकमलाहओ वि जं विअससि सएह्णं ॥ ५ ॥

[ रसिक विदग्ध विलासिन्समयज्ञ सत्यमशोकोऽसि ।  
वरयुवतिचरणकमलाहतोऽपि यद्विकससि सतृष्णम् ॥ ]

हे रसिक ! विदग्ध ! विलासी एवं समयज्ञ अशोक तुम सचमुच अशोक ही हो क्योंकि तरुणियों के चरणाम्बुज से आहत होकर भी प्रेम से पुष्पित हो जाते हो ॥ ५ ॥

वल्लिणो बाआबन्धे चोज्जं णिउअत्तणं च पअडन्तो ।

सुरसत्थकआणन्दो वामणरूवो हरो जअइ ॥ ६ ॥

[ बलेर्वाचाबन्धे आश्चर्यं निपुणत्वं च प्रकटयत् ।  
सुरसार्थकृतानन्दो वामनरूपो हरिर्जयति ॥ ]

राजा बलि को वाग्बद्ध करते समय विस्मय और निपुणता प्रकट करते हुए देवगणों को आनन्द प्रदान करने वाले वामन रूपधारी भगवान् की जय हो ॥ ६ ॥

विज्जाविज्जइ जलणो गहवइध्आइ वित्थअसिहो वि ।

अणुमरणघणालिङ्गणपिअअमसुहसिञ्चिरङ्गीए ॥ ७ ॥

[ निर्वाप्यते ज्वलनो गृहपतिदुहित्रा विस्तृतशिखोऽपि ।  
अनुमरणघनालिङ्गनप्रियतमसुखस्वेदशीताङ्ग्या ॥ ]

सती होने के लिए प्रिय के प्रगाढ़ आलिंगन के सुख से जो प्रस्वेद में डूब गई थी, भद्र गृहस्थ की उस पुत्री ने घघकती ज्वाला को भी शान्त कर दिया ॥ ७ ॥

जारमसाणसमुब्भवभूइसुहप्फंससिञ्चिरङ्गीए ।

ण समप्पइ णवकावालिआइ उद्धूलणारम्भो ॥ ८ ॥

[ जारश्मशानसमुद्भवभूतिसुखस्पर्शस्वेदशोलाङ्ग्याः ।  
न समाप्यते नवकापालिवया उद्धूलनारम्भः ॥ ]

जार की चिता की धूल के सुखद स्पर्श से स्वेदाद्रि होकर यह नई कापालिकी अपने अंग में भस्म लगाना नहीं बन्द करती ॥ ८ ॥

एकको पण्हुअइ थणो बीओ पुलएइ णहमुहालिहिओ ।

पुत्तस्स पिअअमस्स अ मज्झणिसण्णाएँ घरणीए ॥ ९ ॥

[ एकः प्रस्नोति स्तनो द्वितीयः पुलकितो भवति नखमुखालिखितः ।

पुत्रस्य प्रियतमस्य च मध्यनिषण्णया गृहिण्याः ॥ ]

पुत्र और पति के मध्य में बैठी हुई गृहिणी के एक स्तन से दूध की धार चूती है और दूसरा नख-पंकित से भूषित होकर रोमांचित हो गया है ॥ ९ ॥

एत्ताइच्चिअ मोहं जणेइ बालत्तणे वि वट्टन्ती ।

गामणिधूआ विसकन्दलिब्ब वड्ढीआँ काहिइ अणत्थं ॥ १० ॥

[ एतावत्येव मोहं जनयति बालत्वेऽपि वर्तमाना ।

ग्रामणोदुहिता विषकन्दलीव वर्धिता करिष्यत्यनर्थम् ॥ ]

यह गाँव के नायक की पुत्री अभी छोटी होने पर भी दर्शकों का चित्त चुरा लेती है, बड़ी होने पर तो विपैली बूटी के समान अनर्थ ही करेगी ॥ १० ॥

अपहुप्पन्तं महिमण्डलम्मि णहसंठिअं चिरं हरिणो ।

तारापुष्पअरट्ठिअं व तइअं पअं णमह ॥ ११ ॥

[ अप्रभवन्महीमण्डले नःभसंस्थितः चिरं हरेः ।

तारापुष्पप्रकराञ्चितमिव तृतीयं पदं नमत ॥ ]

भू-मण्डल में न समा करके आकाश में स्थित होने पर मानों तारा रूपी पुष्प-पुंज से पूरित भगवान् वामन के तृतीय चरण को प्रणाम कीजिए ॥ ११ ॥

सुप्पउ तइओ वि गओ जामोत्ति सहीओँ कीस मं भणह ।

सेहालिआणँ गन्धो ण देइ सोत्तुं सुअह तुम्हे ॥ १२ ॥

[ सुप्यतां तृतीयोऽपि गतो याम इति सख्यः किमिति मां भणथ ।

शेफालिकानां गन्धो न ददाति स्वप्नुं स्वपित यूयम् ॥ ]

“सो जाओ, रात्रि का तीसरा पहर भी बीत गया” मेरी सखी ! तुम मुझसे यह कैसे कह रहो हो ? तुम्हीं सो जाओ, शेफालिका की गन्ध मुझे सोने नहीं देती ॥ १२ ॥

कँह सो ण संभरिज्जइ जो मे तह संठिआइँ अङ्गाइँ ।

णिब्बत्तिए वि सुरए णिज्झाअइ सुरअरसिओब्ब ॥ १३ ॥

[ कथं स न संस्मर्यते यो मम तथासंस्थितान्यङ्गानि ।

निवर्तितेऽपि सुरते निध्यायति सुरतरसिक इव ॥ ]

जो रति के समाप्त हो जाने पर भी सुरत रसिक के समान मेरे अंगों को उसी स्थिति में निहारता रहता है, उसे क्यों न याद करूँ ? ॥ १३ ॥

**सुखन्तबहलकद्दम्घम्मविसूरन्तकमठपाठीणं ।**

**द्विट्ठं अद्विट्ठउदवं कालेण तलं तडाअस्स ॥ १४ ॥**

[ शुष्यद्वहलकद्दम्घर्मखिद्यमानकमठपाठीनम् ।

दृष्टमदृष्टपूर्वं कालेन तलं तडागस्य ॥ ]

समय के परिवर्तन से जिसका घना पंक सूख जाने पर कछुए और मछलियाँ घूप में छटपटा रही हैं । समय आने पर उस सरोवर का तल जो कभी देखा नहीं गया था वह देख लिया ॥ १४ ॥

**चोरिरअरअसद्वालुइ मा पुत्ति बभमसु अन्धआरम्मि ।**

**अहिअअरं लक्खज्जसि तमभरिए दीवसीहव्व ॥ १५ ॥**

[ चौर्यरतश्रद्धाशीले मा पुत्रि भ्रमान्धकारे ।

अधिकतरं लक्ष्यसे तमोभूते दीपशिखेव ॥ ]

चौर्य-रत में विश्वास रखने वाली पुत्री ! अन्धकार में मत घूमो क्योंकि अन्धकार में तुम दीपशिखा-सी अनायास ही लक्षित हो जाओगी ॥ १५ ॥

**वाहिता पडिवअणं ण देइ रूसेइ एक्कमेवकस्स ।**

**असई कज्जेण विणा पइप्पमाणे णईकच्छे ॥ १६ ॥**

[ व्याहृता प्रतिवचनं न ददाति रुष्यत्येकैकस्य ।

असती कार्येण विना प्रदीप्यमाने नदीकच्छे ॥ ]

नदी की कछार में आग लगने पर व्यभिचारिणी महिला अकारण ही प्रत्येक व्यक्ति पर रुष्ट हो जाती है और पूछने पर उत्तर नहीं देती ॥ १६ ॥

**आम असइ ह्य ओसर पइव्वए ण तुह मइलिअङ्गोत्तं ।**

**किं उण जणस्स जाअव्व चन्दिलं ता ण कामेमो ॥ १७ ॥**

[ आम असत्यो वयमपसर पतिव्रते न तव मलिनतं गोत्रम् ।

किं पुनर्जनस्य जायेव नापितं तावन्न कामयामहे ॥ ]

हाँ, अवश्य ही हम कुलटा हैं, पतिव्रते ! तुम यहाँ से चली जाओ, हमने तुम्हारा गोत्र कलंकित नहीं किया है फिर भी साधारण लोगों की स्त्रियों की भाँति किसी नाई से प्रेम नहीं करती ॥ १७ ॥

**णिदं लहन्ति कहिअं सुणन्ति खलिअक्खरं ण जम्पन्ति ।**

**जाहिँण दिट्ठो सि तुमं ताओ चिअ सुहअ सुहिआओ ॥ १८ ॥**

[ निद्रां लभन्ते कथितं शृण्वन्ति स्खलिताक्षरं न जल्पन्ति ।

याभिर्न दृष्टोऽसि त्वं ता एव सुभग सुखिताः ॥ ]

जिन्होंने तुम्हें नहीं देखा है, वे ही सुखी हैं, क्योंकि वे गद्गद कण्ठ से नहीं बोलतीं, कहना सुनती हैं और रात को सो जाती हैं ॥ १८ ॥

**बालअ तुमाइ दिण्णं कण्णे काऊण बोअसंघाडि ।**

**लज्जालुइणी वि वहू घरं गआ गामरच्छाए ॥ १९ ॥**

[ बालक त्वया दत्तां कर्णे कृत्वा बदरसंघाटीम् ।

लज्जालुरपि वधूगृहं गता ग्रामरथ्यया ॥ ]

पुत्र ! तुमने बेर का सफल-वृत्त उसके कानों में पहना दिया था, इससे लज्जाशील होने पर भी वह वधू गाँव की गली से होकर घर गई ॥ १९ ॥

**अह सो विलक्खहिअओ मए अहव्वाएँ अगहिआणुणओ ।**

**परवज्जणच्चरीहि तुहोहिँ उवेक्खिओ णेन्तो ॥ २० ॥**

[ अथ स विलक्षहृदयो मया अभव्यया अगृहीतानुनयः ।

परवाद्यनर्तनशालाभिर्युष्माभिरुपेक्षितो निर्यन् ॥ ]

जब मैंने उनको अभ्यर्थना की परवाह नहीं की, तो वे मन में लज्जित होकर जाने लगे, उस समय बाजा बजाकर दूसरे को नचाते हुए तुम लोगों ने उनको उपेक्षा की ॥ २० ॥

**दीसन्तो णअणसुहो णिव्वुइजणओ करेहिँ वि छिवन्तो ।**

**अव्भत्थिओ ण लब्भइ चन्दो व्व पिओ कलाणिलओ ॥ २१ ॥**

[ दृश्यमानो नयनसुखो निर्वृतिजननः कराभ्यां [ अपि ] स्पृशन् ।

अभ्यर्थितो न लभ्यते चन्द्र इव प्रियः कलानिलयः ॥ ]

देखते ही नयनों को तृप्ति-दायक एवं करों के स्पर्श से आनन्द-मग्न कर देने वाला चन्द्रमा-सा, कलावान् प्रेमी अभ्यर्थना करने पर भी प्राप्त नहीं होता ॥ २१ ॥



जे नीलबभ्रमरभरगगोछआ आसि णइअडुच्छङ्गे ।

कालेण वञ्जुला पिअअवस्स ते थण्णुआ जाआ ॥ २२ ॥

[ ये नीलभ्रमरभरभग्नगुच्छका आसन्नदीतटोत्संगे ।

कालेन वञ्जुलाः प्रियवयस्य ते स्थाणवो जाताः ॥

मित्र ! नीले भौरों के भार से जिनके गुच्छे झुके रहते थे, आज नदी के किनारे, उन्हीं अशोकों के केवल टूट शेष रह गये हैं ॥ २२ ॥

खणभङ्गुरेण पेम्मेण माउआ दुम्मिअम्ह एत्ताहे ।

सिविणअणिहिलम्भेण व दिट्ठपणट्टेण लोअम्मि ॥ २३ ॥

[ क्षणभङ्गुरेण प्रेम्णा मातृध्वसः दूनाः स्म इदानीम् ।

स्वप्ननिघिलम्भेनेव दृष्टप्रनष्टेन लोके ॥ ]

सखी ! देखते ही लुप्त हो जाने वाली सपने की संपत्ति के समान क्षणभंगुर प्रेम से इस समय हम व्यथित हो चुकी हैं ॥ २३ ॥

चावो सहावसरलं विच्छिन्नवइ सरं गुणम्मि वि पडन्तं ।

वक्कस्स उज्जुअस्स अ संबन्धो कि चिरं होई ॥ २४ ॥

[ चापः स्वभावसरलं विक्षिपति शरं गुणेऽपि पतन्तम् ।

वक्रस्य ऋजुकस्य च संबन्धः किं चिरं भवति ॥ ]

गुण का आश्रय लेने वाले स्वभाव से सरल बाण को घनुष दूर फेंक देता है, वक्र और ऋजु का संयोग क्या चिरस्थायी होता है ॥ २४ ॥

पढमं वामणविहिणा पच्छा हु कओ विअम्भमाणेण ।

थणजुअलेण इमीए महुमहणेण व्व वल्लिबन्धो ॥ २५ ॥

[ प्रथमं वामनविधिना पश्चात्खलु कृतो विजृम्भमाणेन ।

स्तनयुगलेनैतस्या मधुमथनेनेव बलिबन्धः ॥ ]

पहले वामन होकर फिर बढ़कर, इसके दोनों स्तनों ने भगवान् विष्णु के समान बलि ( त्रिबली और दैत्य विशेष ) को बाँध लिया है ॥ २५ ॥

मालइकुसुमाइँ कुलुश्चिऊण मा जाणि णिव्वुओ सिसिरो ।

काअव्वा अज्जवि णिग्गुणाणँ कुन्दाणँ वि समिद्धो ॥ २६ ॥

[ मालतीकुसुमानि दग्ध्वा मा जानीहि निर्वृतः शिशिरः ।

कर्तव्याद्यापि निर्गुणानां कुन्दानामपि समृद्धिः ॥ ]

शिशिर, मालती के पुष्पों को जलाकर सन्तुष्ट हो गया है, यह मत समझो, अभी उसे गुणहीन 'कुन्द' को भी समृद्ध करना है ॥ २६ ॥

**तुङ्गाणं विसेसनिरन्तराणं [ सरस ] वणलब्धसोहाणं ।  
कअकज्जाणं भडाणं व थणाण पडणं वि रमणिज्जं ॥ २७ ॥**

[ तुङ्गयोर्विशेषनिरन्तरयोः [ सरस ] वणलब्धसोभयोः ।  
कृतकार्ययोर्भटयोरिव स्तनयोः पतनमपि रमणीयम् ॥ ]

व्रणों से सुशोभित उन्नत और परस्पर सटे हुए स्तनों का पतन भी कृतकार्य वीरों की भाँति रमणीय होता है ॥ २७ ॥

**परिमलणसुहा गुरुआ अलब्धविवरा सलक्खणाहरणा ।  
थणाआ कव्वालाव व्व कस्स हिअए ण लगन्ति ॥ २८ ॥**

[ परिमलनसुखा गुरुका अलब्धविवराः सलक्षणाभरणाः ।  
स्तनकाः काव्यालापा इव कस्य हृदये न लगन्ति ॥ ]

मनन करने पर सुखद, अर्थ गौरव से युक्त, निर्दोष एवं उत्कृष्ट लक्षणों और अलंकारों से मंडित काव्य के आलाप ( चर्चा ) के समान मर्दन करने पर सुखद, पीनोन्नत, परस्पर सटे, सुन्दर लक्षणों ( सामुद्रिक ) और आभूषणों से भूषित स्तन किसके हृदय में नहीं लग जाते हैं ॥ २८ ॥

**खिप्पइ हारो थणमण्डलाहि तरुणीअ रमणपरिरम्भे ।  
अच्चिअगुणा वि गुणिनो लहन्ति लहुअत्तणं काले ॥ २९ ॥**

[ क्षिप्यते हारः स्तनमण्डलात्तरुणीभिर्रमणपरिरम्भे ।  
अचितगुणा अपि गुणिनो लभन्ते लघुत्वं कालेन ॥ ]

प्रेमी का आलिंगन करते समय तरुणियाँ अपने पयोधरों पर से हार उतार कर रख देती हैं जिनके गुणों की अर्चना होती है, समय आने पर उन गुणवान व्यक्तियों का भी पराभव हो जाता है ॥ २९ ॥

**अण्णो को वि सुहाओ मम्महसिहिणो हला हआसस्स ।  
विज्जाइ णोरसाणं हिअए सरसाणं झत्ति पज्जलइ ॥ ३० ॥**

[ अन्यः कोऽपि स्वभावो मन्मथशिखिनो हला हताशस्य ।  
निर्वीति नीरसानां हृदये सरसानां झटिति प्रज्वलति ॥ ]

इस निगोड़ी कामाग्नि का कुछ और ही स्वभाव है, वह नीरस पुरुषों के हृदय में बुझ जाती है और सरस पुरुषों के हृदय में अनायास प्रज्वलित हो उठती है ॥ ३० ॥

**तह तस्स माणपरिवड्ढिअस्स चिरपरणअवद्धमूलस्स ।  
मामि पडन्तस्स सुओ सहो विण पेम्मरुक्खस्स ॥ ३१ ॥**

[ तथा तस्य मानपरिवर्धितस्य चिरप्रणयबद्धमूलस्य ।

मातुलानि पततः श्रुतः शब्दोऽपि प्रेमवृक्षस्य ॥ ]

पुराने प्रणय से, जिसकी जड़ें सुदृढ़ हो चुकी थीं, उस आदर भाव से बड़े हुए प्रेम-वृक्ष के गिरने का शब्द भी नहीं सुनाई पड़ा ॥ ३१ ॥

**पाअपडिओ ण गणिओ पिअं भणन्तो वि अप्पिअं भणिओ ।  
वच्चन्तो वि ण रुद्धो भण कस्स कए कओ माणो ॥ ३२ ॥**

[ पादपतितो न गणितः प्रियं भणन्नप्यप्रियं भणितः ।

व्रजन्नपि न रुद्धो भण कस्य कृते कृतो मानः ॥ ]

जब वे तेरे चरणों पर गिर पड़े तब भी तूने परवाह नहीं की । प्रियवाणी का भी कटु उत्तर देती रही और जाते समय भी नहीं रोका, बता, सखी ! तूने मान ही किसके लिए किया था ॥ ३२ ॥

**पुसइ खणं धुवइ खणं पप्फोडइ तक्खणं अआणन्ती ।  
मुद्धवहूथणवट्टे दिण्णं दइएण णहरवअं ॥ ३३ ॥**

[ प्रोच्छति क्षणं क्षालयति क्षणं प्रस्फोटयति तत्क्षणमजानती ।

मुग्धवधूः स्तनपदे दत्तं दयितेन नखरपदम् ॥ ]

स्तनों पर अंकित प्रिय के नख-चिह्न का रहस्य न समझ कर मुग्धा उसे क्षण भर पोंछती है, क्षण भर धोती है और क्षण भर झाड़ती है ॥ ३३ ॥

**वासरत्ते उण्णअपद्मोहरे जोव्वणे व्व वोलीणे ।  
पढमेक्कासकुसुमं दीसइ पलिअं व धरणीए ॥ ३४ ॥**

[ वर्षाकाले उन्नतपयोधरे यौवन इव व्यतिक्रान्ते ।

प्रथमैककाशकुसुमं दृश्यते पलितमिव धरण्याः ॥ ]

उन्नत पयोधरों वाले यौवन के समान उन्नत मेघों वाले वर्षा काल के बीत जाने पर फूली हुई कास पृथ्वी की श्वेत कच-राशि-सी दिखाई पड़ती है ॥ ३४ ॥

कत्थं गअं रइबिम्बं कत्थ पणट्ठाओ चन्दताराओ ।

गअणे वलाअपन्ति कालो होरं व कट्टेइ ॥ ३५ ॥

[ कुत्र गतं रविबिम्बं कुत्र प्रणष्टाश्चन्द्रतारकाः ।

गगने वलाकार्पकित कालो होरामिवाकर्षति ॥ ]

सूर्य बिम्ब कहाँ गया ? चन्द्र और तारे कहाँ नष्ट हो गये ? मानों यही जानने के लिए काल वकर्षित की कठिनी-रेखा खींच रहा है ॥ ३५ ॥

अविरलपडन्तणवजलधारारज्जुघडिअं पअत्तेण ।

अपहुत्तो उक्खत्तुं रसइ व मेहो म्हि उअह ॥ ३६ ॥

[ अविरलपतन्नवजलधारारज्जुघटितां प्रयत्नेन ।

अप्रभवन्ननुत्क्षेप्तुं रसतीव मेघो महीं पश्यत ॥ ]

देखो, अजस्र गिरती हुई जलधारा की रज्जु में पृथ्वी को बाँधकर मेघ अपनी ओर खींच रहे हैं। जोर लगाने पर भी जब नहीं उठती तभी मानों चिल्लाने लगते हैं ॥ ३६ ॥

ओ हिअओ ओहिदिअहं तइआ पडिवज्जिऊण दइअस्स ।

अत्थेवकाउल वीसम्भघाइ किं तइ समारद्धं ॥ ३७ ॥

[ हे हृदय अवधिदिवसं तदा प्रतिपद्य दयितस्य ।

अकस्मादाकुल विस्रम्भघातिन् किं त्वया समारब्धम् ॥ ]

रे विश्वासघाती हृदय ! प्रयाण के समय तो प्रियतम के आगमन की अवधि तुमने स्वीकार कर ली थी, अब सहसा आकुल होकर क्या करना चाहते हो ? ॥ ३७ ॥

जो वि ण आणइँ तस्स वि कहेइ भग्गाइँ तेण वलआइँ ।

अइउज्जुआ वराई अइ व पिओ से हुआसाए ॥ ३८ ॥

[ योऽपि न जानाति तस्यापि कथयति भग्नानि तेन वलयाणि ।

अतिऋजुका वराकी अथवा प्रियस्तस्या हताशायाः ॥ ]

वह बेचारी बड़ी ही भोली है, या उसका प्रेमी ही वैसा है, क्योंकि जो नहीं जानता है, उससे भी कहती है कि उन्होंने मेरा कंकण तोड़ दिया ॥ ३८ ॥

सामाइ गरुअजोव्वणविसेसभरिए कवोलमूलम्मि ।

पिज्जइ अहोमुहेण व कण्णवअंसेण लावणं ॥ ३९ ॥

[ श्यामाया गुरुकपौवनविशेषभृते कपोलमूले ।  
पीयतेऽधोमुखेनेव कर्णवितंसेन लावण्यम् ॥ ]

प्रगाढ़ यौवन से उभरे हुए षोडशी बाला के कपोल—मूल पर विलम्बित कर्णभरण मानों अपना मुख नीचे कर सौन्दर्य-रस का पान कर रहा है ॥ ३९ ॥

**सेउल्लिअसव्वङ्गी गोत्तगहणेण तस्स सुहअस्स ।**

**द्वइं पट्टाएन्तीं तस्सेअ घरङ्गणं पत्ता ॥ ४० ॥**

[ स्वेदार्द्रीकृतसर्वाङ्गी गोत्रग्रहणेन तस्य सुभगस्य ।  
द्वतीं प्रस्थापयन्ती ( संदिशन्ती वा ) तस्यैव गृहाङ्गणं प्राप्ता ॥ ]

वह द्वती के द्वारा संदेश भेज ही रही थी कि किसी ने प्रेमी का नाम ले लिया, जिससे पसीने में तर होकर वह स्वयं ही उसके आँगन में जा पहुँची ॥ ४० ॥

**जम्मन्तरे वि चलणं जीएण खु मअण तुज्झ अच्चिस्सं ।**

**जइ तं पि तेण बाणेण विज्झसे जेण हं विज्झा ॥ ४१ ॥**

[ जन्मान्तरेऽपि चरणौ जीवेन खलु मदन तवार्चयिष्यामि ।  
यदि तमपि तेन बाणेन विध्यसि येनाहं विद्धा ॥ ]

हे मदन ! जन्मान्तर में भी तुम्हारे चरणों की प्राणों से अर्चना करूँगी, यदि उसी बाण से उन्हें भी विद्ध करो जिससे मुझे विद्ध किया है ॥ ४१ ॥

**णिअवक्खारोविअदेहभारणउणं रसं लिहन्तेण ।**

**विअसाविऊण पिज्जइ मालइकलिआ महुअरेण ॥ ४२ ॥**

[ निजपक्षारोपितदेहभारनिपुणं रसं लभमानेन ।  
विकास्य पीयते मालती कलिका मधुकरेण ॥ ]

निपुणता से पंखों पर अपने शरीर का भार संभालकर मँडराता हुआ भ्रमर मालती को खिला-खिलाकर उसका रस पी रहा है ॥ ४२ ॥

**कुरुणाहो विअ पहिओ दूमिज्जइ माहवस्स मिलिएण ।**

**भीमेण जहिच्छिआए दाहिणवाएण छिप्पन्तो ॥ ४३ ॥**

[ कुरुनाथ इव पथिको दूयते माधवस्य मिलितेन ।  
भीमेन यथेच्छया दक्षिणवातेन स्पृश्यमानः ॥ ]

जैसे कृष्ण से मिलने के कारण भीमसेन के द्वारा बायें पैर से स्पर्श किया जाता हुआ दुर्योधन दुखी हो गया था। उसी प्रकार संयोग से वसन्त ( या वैशाख मास ) के मिलने के कारण भयानक दक्षिण पवन से स्पृष्ट होता हुआ पथिक दुखी होता है ॥ ४३ ॥

**जाव ण कोसविकासं पावइ ईसोस मालईकलिआ ।**

**मभरन्दपानलोहिल्ल भमर तावच्चिअ मलेसि ॥ ४४ ॥**

[ यावन्न कोषविकासं प्राप्नोतीषण्मालतीकलिका ।

मकरन्दपानलोभयुक्त भ्रमर तावदेव मर्दयसि ॥ ]

मकरन्द-पान-लोलुप भ्रमर ! मालती की कली का कोष अभी किंचित् भी विकसित नहीं हुआ है, तब भी तुम उसका मर्दन कर रहे हो ॥ ४४ ॥

**अकअण्णुअ तुज्झ कए पाउसराईसु जं मए खुण्णं ।**

**उप्पेक्खामि अलज्जिअर अज्ज वि तं गामच्चिक्खल्लं ॥ ४५ ॥**

[ अकृतज्ञ तव कृते प्रावृद्धात्रिषु यो मया क्षुण्णः ।

उत्पश्याम्यलज्जाशील अद्यापि तं ग्रामपङ्कम् ॥ ]

अरे निर्लज्ज ! तेरे लिये वर्षा की अँधेरी रजनी में मैंने जिसका अवगाहन किया था, गाँव का वह पंक अब भी मेरी आँखों से ओझल नहीं हुआ है ॥ ४५ ॥

**रेहइगलन्तकेसखलन्तकुण्डलललन्तहारलआ ।**

**अद्धुप्पइआ विज्जाहरि व्व पुरुसाइरी बाला ॥ ४६ ॥**

[ राजते गलत्केशखलत्कुण्डलललद्वारलता ।

अर्धोत्पतिता विद्याधरीव पुरुषायिता बाला ॥ ]

जिसकी अलकें बिखर गई हैं, कुण्डल खलित हो चुके हैं तथा हार भी चंचल हो गये हैं, वह विपरीत-रत करती हुई महिला उस विद्याधरी-सा प्रतीत होती है जिसका आधा शरीर आकाश में उड़ने के लिए ऊपर उठ चुका है ॥ ४६ ॥

**जइ भमसि भमसु एमेअ कण्ह सोहग्गविरो गोट्ठे ।**

**महिलानं दोसगुणे विआरक्खमो अज्ज विण होसि ॥ ४७ ॥**

[ यदि भ्रमसि भ्रम एवमेव कृष्ण सौभाग्यगवितो गोठे ।

महिलानां दोषगुणो विचारक्षमोद्यापि न भवसि ॥ ]

हे कृष्ण ! यदि तुम महिलाओं के गुण-दोष का विवेचन करने में समर्थ हो-सको तो गोष्ठ में जैसे विचरते हो, वैसे ही गर्व से विचरते रहो ॥ ४७ ॥

**संज्ञासमए जलपूरिअञ्जलिं विहडिएक्कवामअरं ।**

**गोरीअ कोसपाणुज्जअं व पमहादिवं णमह ॥ ४८ ॥**

[ सन्ध्यासमये जलपूरिताञ्जलिं विघटितैकवामकरम् ।

गौर्यै कोषपानोद्यतमिव प्रमथाधिपं नमत ॥ ]

सन्ध्याकालिक उपासना के समय जल से भरी हुई अंजलि से बाँया हाथ पृथक् हो जाने पर, जो गौरी के लिए कोष-पान सा करते हुए प्रतीत होते हैं, उन अर्द्धनारीश्वर को नमस्कार है ॥ ४८ ॥

**गामणिणो सव्वासु वि पिआसु अणुमरणगहिअवेसासु ।**

**मम्मच्छेएसु वि वल्लहाइ उवरी वलइ दिट्ठी ॥ ४९ ॥**

[ ग्रामण्याः सर्वास्वपि प्रियास्वनुमरणगृहीतवेषासु ।

मर्मच्छेदेष्वपि वल्लभाया उपरि वलते दृष्टिः ॥ ]

यद्यपि ग्राम नायक की सभी पत्नियाँ सहमरण का वस्त्र पहने हुए हैं तथापि उस मरान्तक दुःख में भी उसकी दृष्टि प्राणप्रिया पर ही जाकर थम जाती है ॥ ४९ ॥

**मामिसरसक्खराणं वि अत्थि विसेसो पअम्पिअव्वाणं ।**

**णेहमइआणं अण्णो अण्णो उवरोहमइआणं ॥ ५० ॥**

[ मातुलानि सदृशाक्षराणामप्यस्ति विशेषः प्रजलितव्यानासु ।

स्नेहमयानामन्योन्य उपरोधमयानासु ॥ ]

यद्यपि दोनों के अक्षर सरस होते हैं तथापि स्नेहपूर्ण वाणी की विशेषता कुछ और होती है एवं अनुरोधपूर्ण वाणी की कुछ और ॥ ५० ॥

**हिअआहित्तो पसरन्ति जाइँ अण्णाइँ ताइँ वअणाइँ ।**

**ओसरसु किं इमेहिँ अहरुत्तरमेत्त भणिएहिँ ॥ ५१ ॥**

[ हृदयेभ्यः प्रसरन्ति यान्यन्यानि तानि वचनानि ।

अपसर किमेभिरधरोत्तरमात्रभणितैः ॥ ]

हृदय से निकलने वाली वाणी और ही प्रकार की होती है। हटो, अधरों से निकली हुई इन बातों से क्या होगा ? ॥ ५१ ॥

**कहं सा सोहृग्गुणं मए समं बहइ णिग्घण तुमम्मि ।  
जोअ हरिज्जइ गोत्तं हरिऊण अ दिज्जए मज्झ ॥ ५२ ॥**

[ कथं सा सौभाग्यगुणं मया समं वहति निर्घृण त्वयि ।  
यस्या ह्लियते नाम हृत्वा च दीयते मह्यम् ॥ ]

निर्मम ! जिसकी संज्ञा छीनकर मुझे प्रदान कर रहे हो, उस अबला का सौभाग्य मेरे समान कैसे हो सकता है ॥ ५२ ॥

**सहि साहसु सबभावेण पुच्छिमो किं असेसमहिलाणं ।  
बड्ढन्ति करठिआ विअ वलआ दइए पउट्टम्मि ॥ ५३ ॥**

[ सखि कथम सद्भावेन पृच्छामः किमशेषमहिलानाम् ।  
वर्धन्ते करस्थिता एव वलया दयिते प्रोषिते ॥ ]

सखि ! मैं तुम्हें विश्वासपात्र समझ कर पूछ रही हूँ, क्या पति के परदेश चले जाने पर सभी महिलाओं के हाथों के कंकण बड़े हो जाते हैं ॥ ५३ ॥

**भमइ पलित्तइ जूरइ उक्खिविउं से करं पसारेइ ।  
करिणो पङ्कक्खुत्तस्स गेहणिअलाइआ करिणी ॥ ५४ ॥**

[ भ्रमति परितः खिद्यते उक्क्षेप्तुं तस्य करं प्रसारयति ।  
करिणः पङ्कनिमग्नस्य स्नेहनिगडिता करिणी ॥ ]

गजराज के दलदल में फँस जाने पर प्रेमाविष्ट करिणी उसके चारों ओर चक्कर काट रही है, दुखी हो रही है और निकालने के लिए सूँड़ फँला रही है ॥ ५४ ॥

**रइकेलिहिअणिअंसणकरकिसलअअरुद्धणअणखुअलस्स ।  
रुद्दस्स तइअणअणं पव्वइपरिउम्बिअं जअइ ॥ ५५ ॥**

[ रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।  
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥ ]

रति-काल में बस्त्रों का अपहरण कर लेने पर पाणि-पल्लव से जिनके दोनों नेत्र बन्द कर दिये गये थे, उन भगवान् रुद्र के उस तृतीय नेत्र की जय हो जिसे पार्वती ने चूम लिया था ॥ ५५ ॥



धावइ पुरओ पासेसु भमइ दिट्टीपहम्मि संठाइ ।

णवलइकरस्स तुह हलियाउत्त दे पहरसु वराइं ॥ ५६ ॥

[ धावति पुरतः पार्श्वयोभ्रमति दृष्टिपथेसंतिष्ठते ।

णवलतिकाकरस्य तव हलिकपुत्र हे प्रहरस्व वराकीम् ॥ ]

हाथ में नवीन लता की डाली धारण करने पर वह कभी तुम्हारे चारों ओर दौड़ लगाती है और कभी पास आ जाती है, किन्तु आँखों से ओझल नहीं होती ।  
बेटा ! तुम इसे मारो ॥ ५६ ॥

कारिममाणन्दवडं भामिञ्जत्तं बहूअ सहिआहिं ।

पेच्छइ कुमरिजारो हासुम्मिस्सेहिं अच्छीहिं ॥ ५७ ॥

[ कृत्रिममानन्दपटं भ्राम्यमाणं वध्वा सखीभिः ।

प्रक्षते कुमारीजारो हासोन्मिश्राभ्यामक्षिभ्याम् ॥ ]

बहू का कृत्रिम आनन्द-पट लेकर सखियाँ जब घर-घर घूम रही थी तो विवाह के पूर्व का प्रेमी हँसते हुए नयनों से देख रहा था ॥ ५७ ॥

सणिअं सणिअं ललिअङ्गुलीअ मअणवडलाअणमिसेण ।

बन्धेइ धवलवणवट्टअं व वणिआहरे तरुणी ॥ ५८ ॥

[ शनकैः शनकैर्ललिताङ्गुल्या मदनपटलापनमिषेण ।

बध्नाति धवलव्रणपट्टमिव व्रणिताधरे तरुणी ॥ ]

मोम का लेप करने के व्याज से वह तरुणी अपनी ललित अंगुलि से मानो खण्डित अघर पर धीरे-धीरे सफेद पट्टी बाँध रही है ॥ ५८ ॥

रइविरमलज्जिआओ अप्पत्तणिअं सणाओँ सहस व्व ।

ढक्कन्ति पिअअमालिङ्गणेण जहणं कुलवहूओ ॥ ५९ ॥

[ रतिविरामलज्जिता अप्राप्तनिवसनाः सहसैव ।

आच्छादयन्ति प्रियतमालिङ्गनेन जघनं कुलवध्वः ॥ ]

रति के अन्त में लज्जित वनिताएँ वस्त्र न मिलने पर प्रिय के आलिंगन से सहसा अपनी जाँवेँ ढँक लेती हैं ॥ ५९ ॥

पाअडिअं सोहग्गं तम्बाए उअह गोट्टमज्जम्मि ।

दुट्ठवसहस्स सिङ्गे अक्खिउडं कण्डुअन्तीए ॥ ६० ॥

[ प्रकटितं सौभाग्यं गवा पश्यत गोष्ठमध्ये ।

दुष्टवृषभस्य शृङ्गे अक्षिपुटं कण्डूयन्त्या ॥ ]

देखो, दुष्ट बैल की सींग से अपनी आँख खुजलाने वाली गाय ने गोष्ठ में अपना सौभाग्य प्रकट कर दिया ॥ ६० ॥

उअ संभमविविखत्तं रमिअव्वअलेह्लाएँ असईए ।

णवरङ्गअं कुडङ्गे धअं व दिण्णं अविणअस्स ॥ ६१ ॥

[ पश्य संभ्रमविक्षिप्तं रन्तव्यकलापटया असत्या ।

नवरङ्गकं कुञ्जे ध्वजमिव दत्तमविनयस्य ॥ ]

रति-लम्पट कुला ने रमण के समय उतावली में अपना जो कुसुम्भी वस्त्र झट से उतार कर रख दिया था, वह व्यभिचार की पताका के समान कुंज में फहरा रही है ॥ ६१ ॥

हृत्थप्फंसेण जरग्गवी वि पण्हहइ दोह अगुणेण ।

अवलोअणपण्हुइरिं पुत्तअ पुण्णेहिँ पाविहिंसि ॥ ६२ ॥

[ हस्तस्पर्शनं जरद्वस्यपि प्रस्नोति दोहदगुणेन ।

अवलोकनप्रस्नवनशोलां पुत्रक पुण्यैः प्राप्स्यसि ॥ ]

चतुर दुहने वाले के हाथों का स्पर्श पाकर बूढ़ी गाय के स्तन में भी दूध उमड़ने लगता है, किन्तु बेटा, दर्शन मात्र से प्रस्तुत-पयोधरा गाय पुण्य से ही पाओगे ॥ ६२ ॥

मसिणं चङ्कम्मन्ती पए पए कुणइ कीस मुहभङ्गं ।

ण्णुं से मेहलिआ जहणगअं छिवइ णहवन्ति ॥ ६३ ॥

[ मसृणं चङ्क्रम्यमाणा पदे पदे करोति किमिति मुखभङ्गम् ।

तूनं तस्या मेखलिका जघनगतां स्पृशति नखपंकितम् ॥ ]

अरी ! वह मन्द गति से चलती हुई मुँह क्यों सिकोड़ रही है ? अवश्य ही उसकी मेखला जाँघों पर अंकित नख-पंकित से छू जाती होगी ॥ ६३ ॥

संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुहकरे लक्खं ।

चलणेण विक्कमाइत्तचरिअँ अणुसिक्खिअं तिस्सा ॥ ६४ ॥

[ संवाहनसुखरसतोषितेन ददता तव करे लाक्षाम् ।

चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्याः ॥ ]

मर्दन के सुख से सन्तुष्ट होकर, उसके चरणों ने तुम्हारे हाथों को अलक्तक रंजित करते हुए शत्रुबाधक भृत्य को लक्ष मुद्रा प्रदान करने वाले महाराज विक्रमादित्य के चरित का अनुकरण किया है ॥ ६४ ॥

**पाअपडणाणँ मुद्धे रहसबलामोडिचुम्बिअव्वाणं ।**

**दंसणमेत्तपसण्णे चुवकासि सुहाणँ बहुआणं ॥ ६५ ॥**

[ पादपतनानां मुग्धे रभसबलात्कारचुम्बितव्यानाम् ।

दर्शनमात्रप्रसन्ने भ्रष्टासि सुखानां बहुकानाम् ॥ ]

प्रिय को देखते ही मगन हो जाने वाली मुग्धे ! चरणों पर गिरकर मन्मत्ता और वेग से बलपूर्वक चुम्बन करना तथा ऐसे ही बहुत से सुखों से तू वंचित रह गई ॥ ६५ ॥

**दे सुअणु पसिअ एण्ह पुणो वि सुलहाइं रसिअव्वाइं ।**

**एसा मअच्छि मअलउछणुज्जला गलइ छणराई ॥ ६६ ॥**

[ हे सुतनु प्रसीदेदानीं पुनरपि सुलभानि रोषितव्यानि ।

एषा मृगाक्षि मृगलाञ्छनोज्ज्वला गलति क्षणरात्रिः ॥ ]

तन्वंगी, इस समय प्रसन्न हो जाओ, फिर कभी रूठ लेना । यह चन्द्रोज्ज्वला उत्सव-रजनी क्षीण हो रही है ॥ ६६ ॥

**आवणाइँ कुलाइँ दो विअ जाणन्ति उण्णइँ जेउं ।**

**गोरीअ हिअअदइओ अहवा सालाहणणरिन्दो ॥ ६७ ॥**

[ आपन्नानि कुलानि द्वावेव जानीत उन्नति नेतुम ।

गौर्याहृदयदयितोऽथवा शालिवाहननरेन्द्रः ॥ ]

आपन्न कुलों ( श्लेष द्वारा अपर्णा का कुल ) का उद्धार करना दो ही व्यक्ति जानते हैं, या तो गौरी के हृदय-वल्लभ अथवा राजा शालिवाहन ॥ ६७ ॥

**णिवकण्ड दुरारोहं पुत्तअ मा पाडलि समारुहस्सु ।**

**आरूढणिवडिआ के इमीअ ण कआ हआसाए ॥ ६८ ॥**

[ निष्काण्डदुरारोहां पुत्रक मा पाटलि समारोह ।

आरूढनिपतिताः के अनया न कृता हताशया ॥ ]

पुत्र ! शाखाहीन दुरारोह पाटली ( वृक्ष ) पर मत चढ़ना, इस पापिन ने चढ़ने पर किसे-किसे नहीं गिराया ? ॥ ६८ ॥

गामणिघरम्मि अत्ता एकक व्विअ पाडला इहग्गामे ।

बहुपाडलं च सीसं दिअरस्स ण सुन्दरं एअं ॥ ६९ ॥

[ ग्रामणिगृहे स्वश्रु एकैव पाटला इह ग्रामे ।

बहुपाटलं च शीषं देवरस्य न सुन्दरमेतत् ॥ ]

सासु जी ! इस गाँव में मुखिया के घर में पाटला का एक ही वृक्ष है, किन्तु देवर का मस्तक अनेक पाटल-पुष्पों से विभूषित हो रहा है यह ठीक नहीं ॥ ६९ ॥

अण्णाणं वि होन्ति मुहे पम्हलधवलाइं दीहकसणाइं ।

णअणाइं सुन्दरीणं तह वि हु दट्ठं ण जाणन्ति ॥ ७० ॥

[ अन्यासामपि भवन्ति मुखे पक्ष्मलधवलानि दीर्घकृष्णानि ।

नयनानि सुन्दरीणां तथापि खलु द्रष्टुं न जानन्ति ॥ ]

अन्य सुन्दरियों के आनन में भी दीर्घ भीहों वाले शुभ्र और विशाल कजरारे नेत्र विद्यमान हैं, किन्तु उनमें निहारने की वैसे पटुता कहाँ है ॥ ७० ॥

हंसेहिं व तु रणजलअसमअभअचलिअविहलवक्खेहिं ।

परिसेसिअपोम्मासेहिं माणसं गम्मइ रिऊहिं ॥ ७१ ॥

[ हंसैरिव तव रणजलदसमयभयचलितविह्वलपक्षैः ।

परिशेषितपद्माशैर्मानसं गम्यते रिपुभिः ॥ ]

राजन् ! वर्षा ऋतु से भयभीत चंचल और विह्वल पंख वाले हंस जैसे कमलों की आशा त्यागकर मानसरोवर को चले जाते हैं—वैसे ही रण के भय से जिनके सहायक विह्वल एवं अधीर हो चुके हैं तथा जिन्होंने लक्ष्मी की आशा बिल्कुल छोड़ दी है, वे शत्रु तुम्हारे मन के अनुकूल ही चलते हैं ॥ ७१ ॥

दुग्गअघरम्मि घरिणी रक्खन्ती आउलत्तणं पइण्णो ।

पुच्छिअदोहलसद्धा पुणो वि उअअं विअ कहेइ ॥ ७२ ॥

[ दुर्गतगृहे गृहिणी रक्षन्ती आकुलत्वं पत्युः ।

पृष्टदोहदश्रद्धा पुनरप्युदकमेव कथयति ॥ ]

“तेरी क्या इच्छा है” यह पूछने पर दरिद्र की गर्भिणी प्रिया, पति को कहीं दुःख न हो, इसलिए केवल जल की याचना करती है ॥ ७२ ॥

आम्वलोअणाणं ओल्लंसुअपाअडोरुजहणाणं ।

अवरल्लमज्जिरीणं कए ण कामो वहइ चावं ॥ ७३ ॥

[ आताम्रलोचनानामाद्रांशुकप्रकटोरुजघनानाम् ।

अपराल्लमज्जनशीलानां कृते न कामो वहति चापम् ॥ ]

जिनके लोचन आरक्त हो रहे हैं तथा भीगे हुए अंशुक से जिनके उर और जघन दिखलाई पड़ते हैं, दिन ढलने पर स्नान करती हुई उन युवतियों की सहायता के लिए काम अपना घनुष नहीं धारण करता ॥ ७३ ॥

के उव्वरिआ के इह ण खण्डिआ के ण लुत्तगुरुविहवा ।

गहराइं वेसिणिओ गणणारेहा उव वहन्ति ॥ ७४ ॥

[ के उर्वरिताः के इह न खण्डिताः के न लुप्तगुरुविभवाः ।

नखराणि वेश्या गणनारेखा इव वहन्ति ॥ ]

कौन बचे हैं ? किन व्रतियों का व्रत यहाँ नहीं खण्डित हुआ है ? और किन व्यक्तियों का अक्षय वैभव यहाँ लुप्त नहीं हो गया ? मानों गणिकाएँ इसी की गणना के लिए खींची हुई रेखाओं के समान असंख्य नख-पंक्तियाँ धारण करती हैं ॥ ७४ ॥

विरहेण मन्दरेण व हिअअं दुद्धोअहिं व महिऊण ।

उन्मूलिआइँ अब्बो अन्हं रअणाइँ व सुहाइँ ॥ ७५ ॥

[ विरहेण मन्दरेणे व हृदयं दुग्धोदधिमिव मथित्वा ।

उन्मूलितानि कष्टमस्माकं रत्नानीव सुखानि ॥ ]

हाय ! विरह-मन्दर ने हृदय का क्षीर सिन्धु मथ डाला और रत्नों के सगन सुखों को निकाल कर बाहर रख दिया है ॥ ७५ ॥

उज्जुअरए ण तूसइ वक्कम्मि वि आअमं विअप्पेइ ।

एत्थ अहव्वाएँ मए पिए पिअं कहँ णु काअव्वं ॥ ७६ ॥

[ ऋजुकरते न तुष्यति वक्रेऽप्यागमं विकल्पयति ।

अत्र भव्यया मया प्रिये प्रियं कथं नु कर्त्तव्यम् ॥ ]

वे सीधी-सादी रति से सन्तुष्ट ही नहीं होते और वक्र-केलि की प्राप्ति के विषय में शंका करते हैं । मैं अत्यन्त अयोग्य हूँ, उनका प्रिय कैसे करूँ ? ॥ ७६ ॥

बहुविहविलाससरसिए सुरए महिलाणँ को उवज्जाओ ।

सिक्खइ असिक्खिआईँ वि सव्वो णेहाणुबन्धेण ॥ ७७ ॥

[ बहुविधविलाससरसिके सुरते महिलानां क उपाध्यायः ।

शिक्षयते अशिक्षितान्यपि सर्वः स्नेहानुबन्धेन ॥ ]

नाना प्रकार के विलासों से जो रसमय हो जाता है, उस सुरत में महिलाओं का कौन शिक्षक हो सकता है ? सभी अज्ञात कलाएँ प्रणय के अनुरोध से सीख ली जाती हैं ॥ ७७ ॥

वण्णवसिए विअत्थसि सच्चं विअ सो तुए ण संभविओ ।

ण हु होन्ति तम्मि दिट्ठे सुत्थावत्थाईँ अक्काईँ ॥ ७८ ॥

[ वर्णवशिते विकथसे सत्यमेव स त्वया न सम्भावितः ।

न खलु भवन्ति तस्मिन्दृष्टे स्वस्थावस्थान्यङ्गानि ॥ ]

गुणों का वर्णन सुनकर ही वशीभूत होने वाली ! झूठ बोल रही हो, तुमने उन्हें देखा ही नहीं है । उन्हें देख लेने पर शरीर पर अपना अधिकार नहीं रहता ॥ ७८ ॥

आसण्णविआहदिणे अहिणववहुसङ्गमस्सुअमणस्स ।

पढमघरिणीअ सुरअं वरस्स हिअए ण संटाइ ॥ ७९ ॥

[ आसन्नविवाहदिने अभिनववधूसङ्गमोत्सुकमनसः ।

प्रथमगृहिण्याः सुरतं वरस्य हृदये न संतिष्ठते ॥ ]

विवाह-दिवस निकट आते ही नववधू के समागम के लिए उत्सुक युवक के मन से पहली पत्नी की रति-लीला का आनन्द तिरोहित हो जाता है ॥ ७९ ॥

जइ लौकणिन्दिअं जइ अमङ्गलं जइ विमुक्कमज्जाअं ।

पुष्पवइदंसणं तह वि देह हिअअस्स णिव्वाणं ॥ ८० ॥

[ यदि लोकनिन्दितं यद्यमङ्गलं यदि विमुक्तमर्यादम् ।

पुष्पवतोदर्शनं तथापि ददाति हृदयस्य निर्वाणम् ॥ ]

यद्यपि पुष्पवतो का दर्शन निन्दित, मर्यादा-रहित एवं अमंगलकारक भी हृदय को तृप्त करता है ॥ ८० ॥

जइ ण छिवसि पुष्पवट्टं पुरओ ता कीस वारिओ ठासि

छित्तोसि चुलचुलन्तेहिँ धाविउण अँम्ह हत्थोँ

[ यदि न स्पृशसि पुष्पवतीं पुरतस्तत्किमिति वारितस्तिष्ठसि ।  
स्पृष्टोऽसि चुलचुलायमानैर्घावित्वास्माकं हस्तैः ॥ ]

यदि पुष्पवती महिला का स्पर्श नहीं करते तो मना करने पर भी क्यों खड़े हो ? मेरे चुलबुलाते हाथों ने पहले ही दौड़कर तुझे छू दिया है ॥ ८१ ॥

**उज्जागरअकसाइअगुरुअच्छी मोहमण्डणविलक्खा ।**

**लज्जइ लज्जालुइणी सा सुहअ सहोहिं धि वराई ॥ ८२ ॥**

[ उज्जागरककषायितगुरुकाक्षी मोघमण्डनविलक्षा ।

लज्जते लज्जाशीला सा सुभग सखीभ्योऽपि वराको ॥ ]

जिसके विशाल नेत्र जागरण से कसैले हो गये हैं तथा जो अपने निष्कल-श्रृंगार से लज्जित हो गई है वह लज्जावती तरुणी सखियों से भी लजाती है ॥ ८२ ॥

**ण वि तह अइ गरुएण वि तम्मइ हिअए भरेण गब्भस्स ।**

**जह विपरीअणिहुअणं पिअम्मि सोल्ला अपावन्ती ॥ ८३ ॥**

४[ नापि तथातिगुरुकेणाणि ताम्यति हृदये भरेण गर्भस्य ।

यथा विपरीतनिधुवनं प्रिये स्नुषा अप्राप्नुवती ॥ ]

वह तरुणवधू, गर्भ के गुरुभार से भी प्रिय पर उतना खिन्न नहीं होती जितना विपरीत रति के अभाव से ॥ ८३ ॥

**अगणिअजणाववाअं अवहत्थिअगुरुवणं वराईए ।**

**तुह गल्लिअदंसणाए तीए वलिउण चिरं रुणं ॥ ८४ ॥**

[ अगणितजनापवादमपहस्तितगुरुजनं वरावया ।

तव गलितदर्शनया तथा वलित्वा चिरं रुदितम् ॥ ]

वह तुम्हारे दर्शन से वंचित होते ही लोकनिन्दा और गुरुजनों की भी परवाह न कर, मुँह फिराये देर तक रोती रही ॥ ८४ ॥

**हिअअं हिअए णिहिअं चित्तालिहिअ व्व तुह मुहे विट्ठी ।**

**आलिङ्गणरहिआइं णवरं खिज्जन्ति अङ्गाइं ॥ ८५ ॥**

[ हृदयं हृदये निहितं चित्रालिखितेव तव मुखे दृष्टिः ।

आलिङ्गनरहितानि केवलं क्षीयन्तेऽङ्गानि ॥ ]

तुम्हारे हृदय में मेरा हृदय निहित है, मेरी दृष्टि तुम्हारे मुख पर चित्र-  
लिखित सी निश्चल है केवल आलिंगन से वंचित अंग कृश होते जा रहे  
हैं ॥ ८५ ॥

**अहं विओअतणुई दुसहो विरहाणलो चलं जीअं ।**

**अप्पाहिज्जउ किं सहि जाणसि तं चेव जं जुत्तं ॥ ८६ ॥**

[ अहं वियोगतन्वी दुःसहो विरहानलश्चलं जीवम् ।

अभिधोयतां किं सखि जानासि त्वमेव यद्युक्तम् ॥ ]

मैं वियोग से कृश हो गई हूँ, मेरे प्राण चंचल हैं, असह्य विरहानल में  
जल रही है, मेरी सखी ! मैं क्या कहूँ ? जो उचित है वह तुम्हीं जानती  
हो ॥ ८६ ॥

**तुह विरहुज्जागरओ सिविणे वि ण देइ दंसणसुहाइं ।**

**वाहेण जहालोअणविणोअणं से हअं तं पि ॥ ८७ ॥**

[ तव विरहोज्जागरकः स्वप्नेऽपि न ददाति दर्शनसुखानि ।

वाष्पेण यदालोकनविनोदनं तस्या हृतं तदपि ॥ ]

विरह उसे जगा-जगाकर स्वप्न में भी तुम्हारे दर्शन का आनन्द नहीं लेने  
देता, किसो प्रकार तुम्हें देखकर मनोविनोद कर लेती थी किन्तु अब आँसुओं ने  
उसे भी समाप्त कर दिया है ॥ ८७ ॥

**अण्णावराहकुविओ जहतह कालेण गम्मइ पसाअं ।**

**वेसत्तणावराहे कुविअं कहं तं पसाइस्सं ॥ ८८ ॥**

[ अन्यापराधकुपितो यथातथा कालेन गच्छति प्रसादम् ।

द्वेष्यत्वापराधे कुपितं कथं तं प्रसादयिष्यामि ॥ ]

अन्य किसी अपराध से कुपित पुरुष कभी न कभी अवश्य प्रसन्न हो  
जाता है किन्तु जो मुझसे घृणा करता है, उसका कोप भला कैसे शान्त  
करूँगी ? ॥ ८८ ॥

**दीससि पिआणि जम्पसि सबभावो सुहअ एत्तिअ व्वेअ ।**

**फालेइऊण हिअअं साहसु को दावए कस्स ॥ ८९ ॥**

[ दृश्यसे प्रियाणि जल्पसि सद्भावः सुभग एतावानेव ।

पाटयित्वा हृदयं कथय को दर्शयति कस्य ॥ ]



हमें दर्शन दे जाते हो, प्यार से बोलते हो, सुभग ! इतना तो स्नेह है !  
अपना हृदय निकालकर कौन किसे दिखाता है ॥ ८९ ॥

**उभयं लहिउण उत्ताणिआणणा होन्ति के वि सेविसेसं ।**

**रित्ता णमन्ति सुइरं रहट्टघट्टिअ व्व कापुरिसा ॥ ९० ॥**

[ उदकं लब्ध्वा उत्तानितानना भवन्ति केऽपि सविशेषम् ।  
रित्ता नमन्ति सु चिरं रहट्ट (अरघट्ट) घटिका इव कापुरिषाः ॥ ]

कापुरुष रिक्त होनेपर रहट्ट की घटिका के समान बहुत ही विनम्र बन जाते  
हैं किन्तु रस पा जाने पर मुँह ही फेर लेते हैं ॥ ९० ॥

**भग्नपिअसङ्गमं केत्तिअं व जोल्लाजलं णहसरम्मि ।**

**चन्द्रअरपणालणिउत्तरणिवहपडन्तं ण णिट्टाइ ॥ ९१ ॥**

[ भग्नप्रियसङ्गमं कियदिव ज्योत्स्नाजलं नभःसरसि ।  
चन्द्रकरप्रणालनिर्झरनिवहपतन्न निस्तिष्ठति ॥ ]

इस गगन-सरोवर में प्रियतम के मिलन की आशा तोड़ देने वाला कितना  
अधिक ज्योत्स्ना-जल भरा हुआ है, जो चन्द्रमा की असंख्य किरणों की नली से  
झरने के रूप में बहने पर भी नहीं समाप्त होता है ॥ ९१ ॥

**सुन्दरजुआणजणसङ्कुले वि तुह दंसणं विमगन्ती ।**

**रण व्व भमइ दिट्ठी वराइआए समुच्चिग्गा ॥ ९२ ॥**

[ सुन्दरयुवजनसङ्कुलेऽपि तव दर्शनं विमार्गयन्ती ।  
अरण्य इव भ्रमति दृष्टिर्वराकिकायाः समुच्चिग्गा ॥ ]

असंख्य युवकों की भीड़ में भी केवल तुम्हारा मुँह ढूँढ़ने वाली उस  
तरुणी की आकुल दृष्टि मानों शून्य अरण्य में भटक रही है ॥ ९२ ॥

**अइकोवणा वि सासू र्हाविआ गअवईअ सोल्लाए ।**

**पाअपडणोण्णआए दोसु वि गलिएसु वलएसु ॥ ९३ ॥**

[ अतिकोपनापि इवश्रू रोदिता गतपतिकया स्तुषया ।  
पादपंतनावनतया द्वयोरपि गलितयोर्वलययोः ॥ ]

चरणों की बन्दना के लिए झुकी हुई गतपतिका बहू के दोनों हाथों के  
कंकण च्युत हो जाने पर अत्यन्त कोपना सास को भी रूलाई आ गई ॥ ९३ ॥

रोवन्ति वव अरण्णे दूसहरइकिरणफंस संतत्ता ।

अइतारझिल्लिविरुहिँ पाअवा गिम्हमज्झल्ले ॥ ९४ ॥

[ रुदन्तीवारण्ये दुःसहरविकिरणस्पर्शसंतप्ताः ।

अतितारझिल्लोविहृतैः पादपा ग्रीष्ममध्याह्ने ॥ ]

ग्रीष्म की दोपहरी में. सूर्य की असह्य किरणों के स्पर्श से सन्तप्त वृक्ष झिल्ली की तीव्र झनकार के शब्दों में मानों अरण्य रोदन कर रहे हैं ॥ ९४ ॥

पढमणिलीणमहुरमहुलोहल्लालिउलबद्धझंकारं ।

अहिमअरकिरणणिउरम्बचुम्बिअं दलइ कमलवणं ॥ ९५ ॥

[ प्रथमनिलीनमधुरमधुलुब्धालिकुलबद्धझंकारम् ।

अहिमकरकिरणनिकुरम्बचुम्बितं दलति कमलवनम् ॥ ]

जिसमें पहले से ही सम्पुटित मधुर मधुलुब्ध मधुकर झंकार कर रहे थे, वह कमल-वन अंशु मालो की किरणों का चुम्बन पाकर विकसित हो रहा है ॥ ९५ ॥

गोत्तक्खलणं सोऊण पिअअमे अज्ज तीअ खणदिअहे ।

वज्जमहिसस्स माल वव मण्डणं उअह पडिहाइ ॥ ९६ ॥

[ गोत्रस्खलनं श्रुत्वा प्रियतमे अद्य तस्याः क्षणदिवसे ।

वध्यमहिषस्य मालेव मण्डनं पश्यत प्रतिभाति ॥ ]

देखो, आज पर्व के दिन प्रिय का गोत्र-स्खलन सुनकर उसे अपना सारा शृंगार ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे वध्य महिष के गले में पड़ी हुई माला ॥ ९६ ॥

महमहइ मलअवाओ अत्ता वारेइ मं घराणेन्तीं ।

अङ्कोल्लपरिमलेण वि जो वखु मओ सो मओ व्वेअ ॥ ९७ ॥

[ महमहायते मलयवातः श्वश्रुर्वारयति मां गृहान्निर्न्यान्तीम् ।

अङ्कोटपरिमलेनापि यः खलु मृत स मृतः एव ॥ ]

मलयानिल महमहा रहा है । साप मुझे घर से निकलने नहीं देती । अंकोट की सुगन्ध से भी जो मर गया, उसे मरा ही समझो ॥ ९७ ॥

मुहपेच्छओ पई से सा वि हु सविसेसदंसणुम्मइआ ।

वोवि कअत्था पुहइं अमहिलपुरिसं व मण्णन्ति ॥ ९८ ॥

[ मुखप्रेक्षकः पतिस्तस्याः सार्पि खलु सविशेषदर्शनोन्मत्ता ।  
 द्वावपि कृतार्थौ पृथिवीममहिलापुरुषामिय मन्येते ॥ ]

पति सदा उसका मुंह निहारता ही रहता है और वह भी उसे देखते ही  
 उन्मत्त हो जाती है । दोनों कृतार्थ होकर पृथ्वी में अन्य किसी दम्पति की कल्पना  
 ही नहीं करते ॥ ९८ ॥

**खेमं कन्तो खेमं जो सो खुज्जम्बओ घरद्वारे ।**

**तस्स किल मत्थआओ को वि अणत्थो समुप्पण्णो ॥ ९९ ॥**

[ क्षेमं कुतः क्षेमं योऽसौ कुब्जाम्नको गृहद्वारे ।  
 तस्य किलमस्तकात्कोऽप्यनर्थः समुत्पन्नः ॥ ]

कुशल पूछते हो ? कुशल है कहाँ ? गृह-द्वार पर वह जो छोटा-सा रसाल  
 है, उसके शिखर से कोई अनर्थ प्रकट हुआ है ॥ ९९ ॥

**आउच्छणविच्छाअं जाआइ मुहं णिअच्छमाणेण ।**

**पहिएण सोअणिअलाविएण गन्तुं विवअण इट्ठं ॥ १०० ॥**

[ आपृच्छनविच्छायं जायायाः मुखं निरीक्षमाणेन ।  
 पथिकेन शोकनिगडितेन गन्तुमेव नेष्टम् ॥ ]

प्रयाण की अनुमति माँगते ही प्रिया का मुरझाया हुआ आनन देखकर शोक-  
 मग्न पथिक ने यात्रा स्थगित कर दी ॥ १०० ॥

**रसिअजणहिअदइए कइवच्छल पमुहसुकइणिम्मइए ।**

**सत्तसअम्मि समत्तं पञ्चमं गाहासअं एअ ॥ १०१ ॥**

[ रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते ।  
 सप्तशतके समाप्तं पञ्चमं गाथाशतकमेतत् ॥ ]

जिनमें हाल का प्रमुख स्थान है, उन कवियों द्वारा रची हुई, रसिकों के  
 हृदय को प्रिय सप्तशतक का पंचम शतक समाप्त हो गया ॥ १०१ ॥



## षष्ठं शतकम्

सूईवेहे मुसलं विच्छुहमाणेण दड्ढलोएण ।

एक्कग्गामे वि पिओ समअं अच्छीहिं वि ण दिट्ठो ॥ १ ॥

[ सूचीवेधे मुसलं निक्षिपता दग्धलोकेन ।

एकग्रामेऽपि प्रियः समाभ्यामक्षिभ्यामपि न दृष्टः ॥ ]

सूई के छेद से मुसल निकालने वाले दुष्ट लोगों के कारण एक ही गाँव में  
रह कर भी मैंने उन्हें भरपूर नहीं देखा ॥ १ ॥

अज्जं पि ताव एक्कं मा मं वारेहि पिअसहि रुअन्ति ।

काल्ल उण तम्मि गए जइ ण मआ ता ण रोदिस्सं ॥ २ ॥

[ अद्यापि तावदेकं मा मां वारय प्रियसखि रुदतीम् ।

कल्ये पुनस्तस्मिन्गते यदि न मृता तदा न रोदिष्यामि ॥ ]

मेरी सखी ! आज केवल एक दिन मुझे मत मना करो, जी भर कर रो  
लिये दो, कल यदि उनके चले जाने पर भी न मर गई तो नहीं रोऊँगी ॥ २ ॥

एहि त्ति वाहरन्तम्मि पिअअमे उअह ओणअमुहीए ।

विउणावेट्ठिअजहणत्थलाइ लज्जाणअं हसिअं ॥ ३ ॥

[ एहीति व्याहरति प्रियतमे पश्यतावनतमुख्या ।

द्विगुणावेष्टितजघनस्थलया लज्जावनतं हसितम् ॥ ]

'देखो आओ' यह कह कर प्रिय के बुलाने पर नतवदना सुन्दरी ने साड़ी के  
छोर से अपनी जाँघों को और भी ढकते हुये लजा कर हँस दिया ॥ ३ ॥

मारेसि कं ण मुद्धे इमेण पेरन्तरत्तविसमेण ।

भूलआचावविणिग्गअतिक्खअरद्धच्छिभल्लेण ॥ ४ ॥

[ मारयसि कं न मुग्धे अनेन पर्यन्तरक्तविषमेण ।

भ्रूलताचापविनिर्गततीक्ष्णतरार्धाक्षिभल्लेन ॥ ]

जिनके कोण लोहित हो रहे हैं, मुग्धे ! उन भ्रू-चाप से छूटे हुये तीखे  
कटाक्ष-बाणों से तू किसे नहीं मारती है ॥ ४ ॥

तुह दंसणे सअल्ला सद्दं सोऊण णिग्गदा जाइं ।

तइ बोलीणे ताइं पआइं वोढव्विआ जाआ ॥ ५ ॥

[ तव दर्शने सतृष्णा शब्दं श्रुत्वा निर्गता यानि ।  
त्वयि व्यतिक्रान्ते तानि पदानि वोढव्या जाता ॥ ]

तुम्हारा शब्द सुन कर वह दर्शन के लोभ से सहसा जितने डग बाहर निकल आये थे, उन्हें ही तुम्हारे चले जाने पर अन्य लोगों ने आकर अपने स्थान से हटाया ॥ ५ ॥

**ईसामच्छररहिएहिं णिव्विआरेहिं मामि अचछीहिं ।  
एहिं जणो जणम्मिव णिरिच्छए कहँ ण छिज्जामो ॥ ६ ॥**

[ ईर्ष्यामत्सररहिताभ्यां निर्विकाराभ्यां मातुलान्यक्षिभ्याम् ।  
इदानीं जनो जनमिव निरोक्षते कथं न क्षोयामहे ॥ ]

मामी ! इस समय प्रेमी मुझे सिर्फ ईर्ष्या और मत्सर-शून्य निर्विकार नेत्रों से यों देखने लगा है, जैसे मैं अपरिचित हूँ दुबली क्यों न हो जाऊँ ? ॥६॥

**वाउद्धसिचअविहाविओरुदिट्टेण दन्तमग्गेण ।  
वहुंमाआ तोसिज्जइ णिहाणकलसस्स व मुहेण ॥ ७ ॥**

[ वातोद्धतसिचयविभावितोरुदृष्टेन दन्तमार्गेण ।  
वधूमाता तोष्यते निधानकलशस्येव मुखेन ॥ ]

पवन में फहराते हुये वस्त्र के भीतर से दिखलाई पड़ जाने वाली जाँघ पर अंकित दन्तरेखा को देखते ही बहू की माता यों प्रसन्न हो गई जैसे गड़ी हुई निधि के कलश का मुँह देख लिया हो ॥ ७ ॥

**हिअअम्मि वससि ण करेसि मण्णुअं तह वि णेहअरिएहिं ।  
सङ्कज्जसि जुअइसुहावगलिअधीरेहिं अम्हेहिं ॥ ८ ॥**

[ हृदये वससि न करोषि मन्युं तथापि स्नेहभृताभिः ।  
सङ्कथसे युवतिस्वभावगलितधैर्याभिरस्माभिः ॥ ]

यद्यपि तुम हृदय में ही निवास करते हो, कभी रुष्ट भी नहीं होते, फिर भी हम प्रेमिकायें—जो अनुराग में रँगी हुई हैं—स्त्री-स्वभाव के कारण अवीर होकर तुम्हारे प्रति सन्देह ही करती रहती हैं ॥ ८ ॥

**अण्णं पि किं पि पाविहिसि मूढ मा तम्म दुवखमेत्तेण ।  
हिअअ पराहीणजणं मग्गेन्त तुह केत्तिअं एअं ॥ ९ ॥**

[ अन्यदपि किमपि प्राप्स्यसि मूढ मा ताम्य दुःखमात्रेण ।  
हृदय पराधीनजनं मृगयमाण तव कियन्मात्रमिदम् ॥ ]

अरे अभी कुछ और मिलेगा, मूढ ! दुःख मात्र से इतना व्यथित न हो जा ।  
पराधीन जन की कामना करने वाले हृदय ! तेरे लिए यह कौन बड़ी बात  
है ॥ ९ ॥

वेसोसि जीअ पंसुल अहिअअरं सा ह्व वल्लभा तुज्ज ।  
इअ जाणिऊण वि मए ण ईसिअं दड्ढपेम्मस्स ॥ १० ॥

[ द्वेष्योऽसि यस्याः पांसुल अधिकतरं सा खलु वल्लभा तव ।  
इति ज्ञात्वापि मया न ईष्यितं दग्धप्रेम्णः ॥ ]

अरे नीच ! जो तुम्हें घृणा करती है, उसी को तुम बहुत प्यार करते हो—  
यह जान कर भी मैं उस जले-भुने प्रेम से ईर्ष्या नहीं करती ॥ १० ॥

सा आम सुहअ गुणरूअसोहिरी आम णिग्गुणा अ अहं ।  
भण तीअ जो ण सरिसो किं सो सव्वो जणो मरउ ॥ ११ ॥

[ सा सत्यं सुभग गुणरूपशोभनशीला सत्यं निगुणा चाहम् ।  
भण तस्या यो न सदृशः किं स सर्वो जनो म्रियताम् ॥ ]

अच्छा वह जसीम रूप और गुणों से भूषित है, यह सत्य है कि हम बिल्कुल  
गुणहीन हैं । किन्तु जो उसकी समानता नहीं कर सकतीं वे सब क्या मर  
जायें ? ॥ ११ ॥

सन्तमसन्तं दुक्खं सुहं च जाओ घरस्स जाणन्ति ।  
ता पुत्तअ महिलाओ सेसाओ जरा मनुस्साणं ॥ १२ ॥

[ सदसददुःखं सुखं च या गृहस्य जानन्ति ।  
ता पुत्रक महिलाः शेषा जरा मनुष्याणाम् ॥ ]

बेटा ! जो घर का भला और बुरा दुःख और सुख जानती है, वे ही तो  
स्त्रियाँ हैं, शेष तो पुरुषों के लिए जरा-रूप हैं ॥ १२ ॥

हसिएहि उवालम्भा अच्चुवचारेहि हसिअव्वाइं ।  
अंसूहि भण्णणाइं एसो मग्गो सुमहिलाणं ॥ १३ ॥

[ हसितैरुपालम्भा अत्युपचारेः खेदितव्यानि ।  
अश्रुभिः कलहा एष मार्गः सुमहिलानाम् ॥ ]

अच्छी महिलाओं में हास्य से उपालम्भ देना, बहुत आदर से रोष प्रकट करना एवं आँसुओं से ही कलह करने की परम्परा है ॥ १३ ॥

**उल्लावो मा दिज्जउ लोअविरुद्ध त्ति णाम काऊण ।**

**सँमुहापडिए को उण वेसेँ वि दिट्ठि ण पाडेइ ॥ १४ ॥**

[ उल्लापो मा दीयतां लोकविरुद्ध इति नाम कृत्वा ।

संमुखापतिते कः पुनर्दृष्ट्येऽपि दृष्टि न पातयति ॥ ]

“उसने लोक-विरुद्ध होने के कारण वैसा आचरण किया है” ऐसा बकवाद मत करो, सम्मुख आ जाने पर क्या शत्रु पर भी किसी की दृष्टि नहीं पड़ती ॥ १४ ॥

**साहीणपिअमो दुग्गओ वि मण्णइ कअत्थमप्पाणं ।**

**पिअरहिओ उण पुहवि वि पाविउण दुग्गओ च्चेअ ॥ १५ ॥**

[ स्वाधीनप्रियतमो दुर्गतोऽपि मन्यते कृतार्थमात्मानम् ।

प्रियरहितः पुनः पृथिवीमपि प्राप्य दुर्गत एव ॥ ]

जिसकी प्रिया उसके बश में रहती है, वह निर्धन होने पर भी अपने को कृतार्थ समझता है परन्तु प्रिया हीन व्यक्ति सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य पाकर भी अकिञ्चन है ॥ १५ ॥

**किं ह्वसि किं अ सोअसि किं कुप्पसि सुअणु एक्कमेक्कस्स ।**

**पेम्मं विसं व विसमं साहस को रुन्धिउं तरइ ॥ १६ ॥**

[ किं रोदिषि च शोचसि किं कुप्यसि सुतनु एकैकस्मै ।

प्रेम विषमिव विषमं कथय को रोद्धुं शक्नोति ॥ ]

क्यों रोती हो ? क्यों सोच करती हो ? क्यों प्रत्येक व्यक्ति पर कोप करती हो ? विष के समान विषम प्रेम को भला कौन रोक सकता है ॥ १६ ॥

**ते अ जुआणा ता गामसंपआ तं च अम्हे तारुण्णं ।**

**अक्खाणअंव लोओ कहेहि अम्हे वि तं सुणिमो ॥ १७ ॥**

[ ते च युवानस्ता ग्रामसंपदस्तच्चास्माकं तारुण्यम् ।

आख्यानकमिव लोकः कथयति वयमपि तच्छृणुमः ॥ ]

वे ही युवक हैं, गाँव का वही वैभव है और वही हमारा यौवन है ! लोग कहानी की भाँति कहते हैं और हम भी सुनते हैं ॥ १७ ॥

बाहोहभरिअगण्डाहराएँ भणिअं विलक्खहसिरोए ।

अज्ज वि किं रुसिज्जइ सवहावत्थं गअं पेम्मं ॥ १८ ॥

[ बाष्प्यौघभृतगण्डाधरया भणितं विलक्षहसनशीलया ।  
अद्यापि किं रुष्यते शपथास्थां गतं प्रेम ॥ ]

जिसके अधर और कपोलों पर आँसू ढुलक रहे थे उस सुन्दरी ने लज्जा से हँसते हुए कहा—“जब तुम्हारा प्रेम शपथ पर ही अवलम्बित रह गया तब भी क्या मैं रूठूँगी ॥ १८ ॥

वण्णअघअलिप्पमुहिं जो मं अइआअरेण चुम्बन्तो ।

एहिं सो भूसणभूसिअं पि अलसाअइ छिवन्तो ॥ १९ ॥

[ वर्ण घृतलिप्तमुखीं यो मामत्यादरेण चुम्बन् ।  
इदानीं स भूषणभूषितामप्यलसायते स्पृशन् ॥ ]

जो हल्दी और घृत से पुते हुए मेरे मुख को अति आदर से चूम लेता था उसे इस समय भूषण-भूषित होने पर भी मेरा स्पर्श करने में भी आलस्य लगता है ॥ १९ ॥

णीलपट्टपाउअङ्गी ति मा हु णं परिहरिज्जासु ।

पट्टंसुअं पि णद्धं रअम्मि अवणिज्जइ च्चेअ ॥ २० ॥

[ नीलपट्टप्रावृताङ्गीति मा खल्वेनां परिहर ।  
पट्टांशुकमपि नद्धं रतेऽपनीयत एव ॥ ]

इसके अंग नीले वस्त्र से ढके हैं, इसीलिए इसे त्याग मत देना । रति के समय तो धारण किये हुए पट्टांशुक भी उतार कर रख दिये जाते हैं ॥ २० ॥

सच्चं कलहे कलहे सुरआरम्भा पुणो णवा होन्ति ।

माणो उण माणंसिणि गरुओ पेम्मं विणासेइ ॥ २१ ॥

[ सत्यं कलहे-कलहे सुरतारम्भाः पुनर्नवा भवन्ति ।  
मानः पुनर्मनस्विनि गुरुकः प्रेम विनाशयति ॥ ]

कलह-कलह में ही सचमुच रति में एक नवीन रस आ जाता है, किन्तु आवश्यकता से अधिक मान तो प्रेम को ही नष्ट कर देता है ॥ २१ ॥

माणुम्मत्ताइ मए अकारणं कारणं कुणन्तीए ।

अदंसणेण पेम्मं विणासिअं पोढवाएण ॥ २२ ॥



[ मानोन्मत्तया मया अकारणं कारणं कुर्वत्या ।  
अदर्शनेन प्रेम विनाशितं प्रीढवादेन ॥ ]

हाय ? मान से मतवाली होकर मैंने उसे भी रूठने का कारण बनाया जिसे नहीं बनाना चाहिए था और उनकी ओर न देखकर प्रबल विवाद ( कलह ) के द्वारा प्रेम का विनाश कर डाला ॥ २२ ॥

अणुऊलं विअ वोत्तुं बहुवल्लह वल्लहे वि वेसे वि ।  
कुविअं अ पसाएऊं सिक्खइ लोओ तुमाहित्तो ॥ २३ ॥

[ अनुकूल वक्तुं बहुवल्लभवल्लभेऽपि द्वेष्येऽपि ।  
कुपितं च प्रसादयितुं शिक्षते लोको युष्मत्तः ॥ ]

अरे बहुवल्लभ ! प्रिय एवं अप्रिय दोनों से मधुर ही भाषण करना और रूठ जाने पर मना लेना, लोग तुमसे ही सीखते हैं ॥ २३ ॥

लज्जा चत्ता सीलं अ खण्डिअं अजसघोसणा दिण्णा ।  
जस्स कएणं पिअसहि सो च्चेअ जणो जणो जाओ ॥ २४ ॥

[ लज्जा त्यक्ता शीलं च खण्डितमयशोघोषणा दत्ता ।  
यस्य कृतेन (कृतेमनु) प्रिय सखि स एव जनो जनो जातः ॥ ]

जिसके लिए मैंने लज्जा छोड़ी, शील खण्डित किया और अपयश का ढोल पीटा, सखी ? अब उसी ने मुझसे मुँह फेर लिया है ॥ २४ ॥

हसिअं अदिट्टदन्तं भमिअमणिक्कन्तदेहलीदेशं ।  
दिट्टमणुविखत्तमुहं एसो मग्गो कुलवहूणं ॥ २५ ॥

[ हसितमदृष्टदन्तं भ्रमितमनिष्क्रान्तदेहलीदेशम् ।  
दृष्टमनुत्क्षिप्तमुखमेष मार्गः कुलवधूनाम् ॥ ]

कुलीन बहुओं की यही परिपाटी है कि वे हैंसती हैं तो दाँत नहीं दिखाई पड़ते, चलती हैं तो देहली के बाहर नहीं जातीं और देखती हैं तो मुँह ऊपर नहीं करतीं ॥ २५ ॥

धूलिमइलो वि पङ्कङ्किओ वि तणरइअदेहभरणो वि ।  
तह वि तइन्दो गरुअत्तणेण ढक्कं समुव्वहइ ॥ २६ ॥

[ धूलिमलिनोऽपि पङ्काङ्कितोऽपि तृणरचितदेहभरणोऽपि ।  
तथापि गजेन्द्रो गुरुकत्वेन ढक्कां समुद्वहति ॥ ]

यद्यपि गजेन्द्र का शरीर घूल से मलिन एवं पंक से लिप्त रहता है । उसकी जीविका तुणों से ही चलती है । फिर भी जहाँ जाता है, अपनी गुहता से यश की दुन्दुभी बजा देता है ॥ २६ ॥ ( अथवा युद्ध में दुन्दुभी ढोता है । )

**करमरि कीस ण गम्मइ को गव्वो जेण मसिणगमणासि ।  
अद्विट्टदन्तहसिरीअ जम्पिअं चोर जाणिहिसि ॥ २७ ॥**

[ बन्दि किमिति न गम्यते को गर्वो येन मसृणगमनासि ।  
अदृष्टदन्तहसनशीलया जल्पितं चोर ज्ञास्यसि ॥ ]

बन्दिनी ! चलती क्यों नहीं ? किस गर्व से तेरी गति मन्द हो गई ? सुन्दरी ने बिना दाँत दिखाये हँसकर कहा—“चोर ! अभी जान लीगे ॥ २७ ॥

**थोरंसुएहिं रुणं सवत्तिवग्गेण पुप्फवइआए ।  
भु असिहरं पइणो पेच्छिऊण सिरलगतुप्पलिअं ॥ २८ ॥**

[ स्थूलाश्रुभी रुदितं सपत्नीवर्गेण पुष्पवत्याः ।  
भुजशिखरं पत्पुः प्रेक्ष्य शिरोलग्नवर्णघृतलिप्तम् ॥ ]

पति के कन्धों को शिर पर लगे हल्दी और घूल से लिप्त देखकर पुष्पवती नायिका की सपत्नियाँ बड़े-बड़े आँसू गिरा कर रोने लगीं ॥ २८ ॥

**लोओ जूरइ जूरउ वअणिज्जं होउ होउ तं णाम ।  
एहिं णिमज्जसु पासे पुप्फवइ ण एइ मे णिहा ॥ २९ ॥**

[ लोकः खिद्यते खिद्यतु वचनीयं भवति भवतु तन्नाम ।  
एहिं निमज्ज पार्श्वे पुष्पवति नैति मे निद्रा ॥ ]

लोग दुखी होंगे, होने दो ! निन्दा होगी, होने दो ! पुष्पवती प्रिये ! मेरे निकट सो जाओ ! मुझे नींद नहीं आ रही है ॥ २९ ॥

**जं जं पुलएमि दिसं पुरओ लिहिअ व्व दीससे तत्तो ।  
तुह पडिमापडिवाडिं वहइ सअलं दिसाअक्कं ॥ ३० ॥**

[ यां यां प्रलोकयामि दिशं पुरतो लिखित एव दृश्यसे तत्र ।  
तत्र प्रतिमापरिपाटीं वहतीव सकलं दिशाचक्रम ॥ ]

जिघर देखतो हूँ उघर ही तुम सामने चित्रित से दिखाई पड़ते हो ! जैसे समस्त दिशाएँ तुम्हारा चित्र फलक ही धारण करती हों ॥ ३० ॥

**ओसरइ धुणइ साहं खोक्खामुहलो पुणो समुल्लिहइ ।**

**जम्बूफलं ण गेल्लइ भमरो त्ति कई पढमडक्को ॥ ३१ ॥**

[ अपसरति धुनोति शाखां खोक्खामुखरः पुनः समुल्लिखति ।

जम्बूफलं न गृह्णाति भ्रमर इति कपिः प्रथमदष्टः ॥ ]

पहली बार ही जिसे भँवरे ने काट खाया है वह बन्दर हट जाता है, डाली हिलाने लगता है, 'खोक्खो' करता है और नखों से वहीं डाली कुरेदने लगता है किन्तु जामुन का फल भँवरा समझ कर नहीं तोड़ता ॥ ३१ ॥

**ण छिवइ हत्थेण कई कण्डूइभएण पत्तलणिउज्जे ।**

**दरल्लम्बिअगोच्छकइकच्छुसच्छहं वाणरीहत्थं ॥ ३२ ॥**

[ न स्पृशति हस्तेन कपिः कण्डूतिभयेन पत्रलनिकुञ्जे ।

ईषल्लम्बितगुच्छकपिकच्छुसदृशं वानरोहस्तम् ॥ ]

सघन पत्तों से आच्छादित निकुंज में बैठा बानर किंचित लटकते हुए गुच्छों वाली कँवाँच की भाँति वानरी का हाथ खुजली के भय से नहीं पड़ता ॥ ३२ ॥

**सरसा वि सूसइ च्चिअ जाणइ दुक्खाइँ मुद्धहिअआ वि ।**

**रत्ता वि पण्डुर च्चिअ जाआ वरई तुह वि विओए ॥ ३३ ॥**

[ सरसापि शुष्यत्येव जानाति दुःखानि मुग्धहृदयापि ।

रक्तापि पाण्डुरैव जाता वराकी तव वियोगे ॥ ]

वह बेचारी तुम्हारे वियोग में सरस होने पर भी शुष्क हो गई है, मुग्ध होने पर भी विरह-वेदना से दुखी है और रक्त होने पर भी पाण्डु हो गई है ॥ ३३ ॥

**आरुहइ जुण्णअं खुज्जअं वि जं उअह वल्लरी तउसी ।**

**णीलुप्पलपरिमलवासिअस्स सरअस्स सो दोसो ॥ ३४ ॥**

१. पुरओ य पिट्ठओ य पासेसु दीससे तुमं सुयणु ।

वहइ दिसावलयामिणं मन्ने तुह चित्तरिञ्छोलो ॥

—आचार्य नेमिचन्द्र कृत, रयणचूडराय चरिय

[ आरोहति जीर्णं कुब्जकमपि यत्पश्यत वेल्लनशीला त्रपुसी ।  
नीलोत्पलपरिमलवासितायाः शरदः स दोषः ॥ ]

देखो, यह त्रपुसी ( एक प्रकार की ककड़ी ) जो पुराने और कुबड़े वृक्ष पर भी चढ़ रही है, वह नीलोत्पल के परिमल से सुगन्धित शरद् ( मदिरा के क्षपक ) का ही दोष है ॥ ३४ ॥

**उप्पहाविहजणो पविजिम्हिअकलअलो पहअतूरो ।  
अव्वो सो च्चेअ छणो तेण विणा गामडाहो व्व ॥ ३५ ॥**

[ उत्पथप्रधावितजनः प्रविजृम्भितकलकलः प्रहततूर्यः ।  
दुःखं स एव क्षणस्तेन बिना ग्रामदाह इव ॥ ]

होली के पर्व में लोग इधर-उधर दौड़ रहे हैं, गाँव में अत्यधिक कोलाहल बढ़ गया है और ढोल पीटे जा रहे हैं । उनके वियोग में मुझे यह पर्व ऐसा लगता है जैसे गाँव में आग लगी हो ॥ ३५ ॥

**उल्लावन्तेण ण होइ कस्स पासट्टिएण ठड्ढेण ।  
सङ्का मसाणपाअवलम्बिअचोरेण व खलेण ॥ ३६ ॥**

[ उल्लापयमानेन न भवति कस्य पार्श्वस्थितेन स्तब्धेन ।  
शङ्का श्मशानपादपलम्बितचोरेणैव खलेन ॥ ]

जिस प्रकार श्मशान के वृक्षों पर चोरों के पाशबद्ध फाँसी हेतु लटकाये गये स्तब्ध ( अकड़े हुए ) और चिल्लाहट करवाने वाले, डरावने मृत शरीरों से सभी को भय होता है, उसी प्रकार पार्श्ववर्ती, अहंकार से अकड़े हुए एवं चिल्लाने वाले दुष्ट व्यक्ति से किसे भय नहीं होगा ? ॥ ३६ ॥

**असमत्तगुरुअकज्जे एल्लि पहिए घरं णिअत्तन्ते ।  
णवपाउसो पिउच्छा हसइ व कुडअट्टहासेहि ॥ ३७ ॥**

[ असमाप्तगुरुकार्ये इदानीं पथिके गृहं प्रतिनिवर्तमाने ।  
नवप्रावृट् पितृष्वसः हसतीव कुटजाट्टहासैः ॥ ]

आवश्यक कार्य समाप्त किए बिना ही पथिकों के घर लौट आने पर वर्षा काल पुष्पित कुटजों के ब्याज से मानों अट्टहास कर रहा है ॥ ३७ ॥

**दट्टूण उण्णमन्ते मेहे आमुक्कजीविआसाए ।  
पहिअघरिणोअ डिम्भो ओरुण्णमुहीअ सच्चविओ ॥ ३८ ॥**

[ दृष्ट्वा उन्नमतो मेघानामुक्तजीविताशया ।  
पथिकगृहिण्याडिम्भो ऽव्रुदितमुख्यया दृष्टः ॥ ]

उमड़ती हुई मेघनाला को देखकर, जिसने जीवन की आशा त्याग दी थी, परदेशी की वह वियोगिनी प्रिया अश्रुपूर्ण नयनों से अपने नन्हें बालक को निहारने लगी ॥ ३८ ॥

अविहवक्खणवलअं ठाणं णेन्तो पुणो पुणो गल्लिअं ।  
सहिसत्थो च्चिअ माणंसिणीअ बलआरओ जाओ ॥ ३९ ॥

[ अविधवालक्षणवलयं स्थानं नयन्पुनः पुनर्गलितम् ।  
सखीसार्थ एव मनस्विन्या वलयकारको जातः ॥ ]

सौभाग्य का प्रतीक कंकण जब बार-बार गिर जाता था तो उसे पहनाती हुई सखियाँ ( या सखियों का समूह ही वलय बन कर ) ही मनस्विनी नायिका को घोरज देती थीं ॥ ३९ ॥

पहिअवहू विवरन्तरगलिअजलोल्ले घरे अणोल्लं पि ।  
उद्देसं अविरअवाहसलिलनिवहेण उल्लेइ ॥ ४० ॥

[ पथिकवधूर्विवरान्तरगलितजलाद्रं गृहेऽनाद्रंमपि ।  
उद्देशमविरतबाष्पसलिलनिवहेनाद्रंयति ॥ ]

छिद्रों से चूते हुए जल से पंकिल गृह का जो भाग बच गया था, पथिक की प्रिया ने उसे भी आसुओं से भिगा दिया ॥ ४० ॥

जोहाइ कुणन्ति पिअं भवन्ति हिअअम्मि णिव्वुइं काउं ।  
पोडिज्जन्ता वि रसं जणन्ति उच्छू कुलीणा अ ॥ ४१ ॥

[ जिह्वायां ( पक्षे-जिह्वया ) कुर्वन्ति प्रियं भवन्ति हृदये निर्वृतिं कर्तुम् ।  
पोड्यमाना अपि रसं जनयन्तीक्षवः कुलीनाश्च ॥ ]

जैसे ईख जिह्वा को स्वाद प्रदान कर हृदय को तृप्त कर देती है और पीड़ित करने पर भी रस उत्पन्न करती है, वैसे ही कुलीन पुरुष भी जिह्वा से मधुर बोलते हैं, मनोरथ को पूर्ण करते हैं, आह्लादित करते हैं और खिन्न होने पर भी प्रेम ही प्रकट करते हैं ॥ ४१ ॥

दोसइ ण चूअमउलं अत्ता ण अ वाइ मलअगन्धवहो ।  
पत्तं वसन्तमासं साहइ उक्कण्ठिअं चेअं ॥ ४२ ॥

[ दृश्यते न चूतमुकुलं श्वश्रू न च वाति मलयगन्धवहः ।  
प्राप्तं वसन्तमासं कथयत्युत्कण्ठितं चेतः ॥ ]

आर्ये ! अभी रसाल मुकुलित नहीं हुए, मलयानिल नहीं चला, फिर भी मेरा उत्कण्ठित हृदय बतला रहा है कि वसन्त आ गया है ॥ ४२ ॥

अम्बवणे भमरउलं ण विणा कज्जेण ऊसुअं भमइ ।

कुतो जलणेण विणा धूमस्स सिहाउ दीसन्ति ॥ ४३ ॥

[ आम्रवने भ्रमरकुलं न विना कार्येणोत्सुकं भ्रमति ।  
कुतो ज्वलनेन विना धूमस्य शिखा दृश्यन्ते ॥ ]

आम्र-वन में अकारण ही उत्सुक भ्रमर मण्डली मँडराने लगी है । अग्नि के बिना घुएँ की रेखा कब देखी जाती है ? ॥ ४३ ॥

दइअकरगगहलुलिओ धम्मिल्लो सीहुगन्धिअं वअणं ।

मअणम्मि एत्तिअं चिअ पसाहणं हरइ तरुणीणं ॥ ४४ ॥

[ दयितकरग्रहलुलितो धम्मिलः सीधुगन्धितं वदनम् ।  
मदने एतावदेव प्रसाधनं हरति तरुणीनाम् ॥ ]

प्रिय के पाणि से विशृङ्खल केश-पाश एवं सुरा से सुवासित मुख, तरुणियों के यही आभूषण कामोत्सव में मनोहर लगते हैं ॥ ४४ ॥

गामतरुणीओ ह्मिअं हरन्ति छेआणं थणहरिल्लीओ ।

मअणे कुसुम्भरज्जिअकञ्चुआहरणमेत्ताओ ॥ ४५ ॥

[ ग्रामतरुण्यो हृदयं हरन्ति विदग्धानां स्तनभारवत्यः ।  
मदने कुसुम्भरागयुक्तकञ्चुकाभरणमात्राः ॥ ]

होली के दिन कुसुम्भी रंग में रँगी हुई एकमात्र कंचुकी जिनका आभूषण है, वे उन्नत पयोधरा ग्राम्य तरुणियाँ विदग्ध पुरुषों का चित्त चुरा लेती हैं ॥ ४५ ॥

आलोअन्त दिसाओ ससन्त जम्भन्त गन्त रोअन्त ।

मुच्छन्त पडन्त खलन्त पहिअ किं ते पउत्थेण ॥ ४६ ॥

[ आलोकयन्दिशः स्वसञ्जृम्भमाणो गायन्द्दन् ।  
मुच्छन्तपतन्स्खलन्पथिक किं ते प्रवसितेन ॥ ]

पथिक ! तुम चारों ओर देखकर लम्बी आह भर लेते हो, कभी जँभाई लेते हो, कभी गाते हो, कभी रोने लगते हो, कभी गिरते हो, कभी लड़खड़ाते हो और कभी मूर्च्छित हो जाते हो। तुम्हारे प्रवासी होने से ही क्या हुआ ? ॥ ४६ ॥

**बट्टू ण तरुणसुरअं विविहविलासेहिं करणसोहिल्लं ।**

**दीओ वि तग्गअमणो गअं पि तैल्लं ण लक्खेइ ॥ ४७ ॥**

[ दृष्टा तरुण सुरतं विवधविलासैः करणशोभितम् ।

दीपोऽपि तद्गतमना गतमपि तैलं न लक्षयति ॥ ]

विविध विलासों, करणों एवं मुद्राओं से युवक और युवती की रति-लीला देखने में दीपक इतना तन्मय हो गया कि उसे समाप्त होने वाले तेल का ज्ञान ही नहीं रह गया ॥ ४७ ॥

**पुणरुत्तकरप्फालणउहअतडुल्लिहरणवड्ढणसआइं ।**

**जूहाहिवस्स माए पुणो वि जइ णम्मआ सहइ ॥ ४८ ॥**

[ पुनरुत्तकरास्फालनोभयतटोल्लिखनपीडनशतानि ।

यूथाधिपस्य मातः पुनरपि यदि नर्मदा सहते ॥ ]

अरी माँ ! जिस समय वह गजराज अपने शृण्ड से सम्पूर्ण जलराशि को आलोकित कर दोनों तटों को ढहाने लगता है, उस समय उस के अंगों का अपार मर्दन वह नर्मदा ही है, जो सह पाती है ॥ ४८ ॥

**वोडसुणओ विअण्णो, अत्ता मत्ता, पई वि अण्णत्थो ।**

**फलिहं व मोडिअं महिसएण, को तस्स साहेउ ॥ ४९ ॥**

[ दुष्टशुनको विपन्नः श्वश्रूमत्ता पतिरप्यन्यस्थः ।

कार्पास्यपि भग्ना महिषकेण कस्तस्य कथयतु ॥ ]

दुष्ट कुत्ता विपन्न हो गया है, सास पागल हो गई है, मेरे स्वामी अन्यत्र गये हैं और कपास का खेत भैंस ने चर लिया है, यह सब उनसे कौन कहे ? ॥ ४९ ॥

**सकअग्गहरहसुत्ताणिआणणा पिअइ पिअमुहविइण्णं ।**

**थोअं थोअं सेसोसहं व उअ माणिणो मइरं ॥ ५० ॥**

[ सकचग्रहरभसोत्तानितानना पिबति प्रियमुखवितोर्णाम् ।

स्तोकं स्तोकं रोषौघमिव पश्य मानिनी मदिराम् ॥ ]

देखा, प्रिय ने झट जिसका केश पकड़ कर मुख ऊपर कर दिया था, वह मानिनी, उसके मुख से गिराई हुई मदिरा को रोष की दवा के समान धीरे-धीरे पी रही है ॥ ५० ॥

**गिरिस्रोतो त्ति भुजंगं महिसो जोहइ लिहइ संतत्तो ।**

**महिसस्स कल्लवत्थरञ्जरो त्ति सप्पो पिअइ लालं ॥ ५१ ॥**

[ गिरिस्रोत इति भुजंगं महिषो जिह्वया लेढि संतप्तः ।

महिषस्य कृष्णप्रस्तरञ्जर इति सर्पः पिबति लालाम् ॥ ]

सन्तप्त भैंसा कृष्ण सर्प को पर्वतीय स्रोत समझ कर जिह्वा से चाट रहा है और सर्प भैंसे के मुँह से चूती लार को नील पाषाण से झरता हुआ झरना समझ कर पी रहा है ॥ ५१ ॥

**पञ्जरसारिं अत्ता ण णोसिं कि एत्थ रइहराहिन्तो ।**

**वीसम्भजम्पिआइं एसा लोआणं पअडेइ ॥ ५२ ॥**

[ पञ्जरसारीं मातुलानि न नयसि किमत्र रतिगृहात् ।

विस्वम्भजल्पितान्येषा लोकानां प्रकटयति ॥ ]

मामी ! पिंजड़े की सारिका को रति मन्दिर से बाहर क्यों नहीं रख देती ? वह एकान्त में होने वाले हमारे प्रणयालाप लोगों के सामने प्रकट कर देती है ॥ ५२ ॥

**एद्दहमेत्ते गामे ण पडइ भिक्ख त्ति कीस मं भणसि ।**

**धम्मिअ करञ्जभञ्जअ जं जीअसि तं पि दे बहुअं ॥ ५३ ॥**

[ एतावन्मात्रे ग्रामे न पतति भिक्षेति न किमिति मां भणसि ।

धार्मिक करञ्जमञ्जक यञ्जीवसि तदपि ते बहुकम् ॥

'इतने बड़े गाँव में भीख नहीं मिली' यह मुझसे क्यों कहते हो ? अरे ! करंज की शाखा तोड़ने वाले धार्मिक ! तुम जीवित हो, यही तुम्हारे लिये बहुत है ॥ ५३ ॥

**जन्तिअ गुलं विमग्गसि ण अ मे इच्छाइ वाहसे जन्तं ।**

**अणरसिअ किं ण आणसि ण रसेण विणा गुलो होइ ॥ ५४ ॥**

[ यान्त्रिक गुडं विर्मागयसे न च ममेच्छया वाहयसि यन्त्रम् ।

अरसिक किं न जानासि न रसेन विना गुडो भवति ॥ ]



यन्त्र-वालक ! गुड़ तो चाहते हो लेकिन मेरी इच्छानुसार यन्त्र नहीं चलते ।  
अरे नीरस ! क्या तुम यह नहीं जानते कि बिना रस के गुड़ नहीं होता ? ॥ ५४ ॥

पत्तणिअम्बप्फंसा ण्हाणुत्तिण्णाएँ सामलङ्कीए ।

जलबिन्दुएहिँ चिहुरा रुअन्ति बन्धस्स व भएण ॥ ५५ ॥

[ प्राप्तनितम्बस्पर्शा स्नानोत्तोर्णायाः श्यामलाङ्गयाः ।

जलबिन्दुकैश्चिकुरा रुदन्ति बन्धस्येव भयेन ॥ ]

सद्यःस्नाता श्यामांगी का नितम्ब चुम्बी-केश-पाश मानों बन्धन के डर से  
जल बिन्दुओं के आसू बहा रहा है ॥ ५५ ॥

गामङ्गणणिअडिअकल्लवक्ख वड तुज्झ दूरमणुलग्गो ।

तित्तिल्लपडिक्खकभोइओ वि गामो ण उद्विग्गो ॥ ५६ ॥

[ ग्रामाङ्गणनिगडितकृष्ण वट तव दूरमनुलग्नः ।

दौः सन्धिकप्रतीक्षकभोगिकोऽपि ग्रामो नोद्विग्नः । ]

वटवृक्ष ! तुमने कृष्णपक्ष के अन्धकार को ग्रामांगण में बन्दी बना लिया  
है । जिसके कारण बिलासी युवक भीत होकर राजपुरुषों की प्रतीक्षा करते रहते  
हैं, तुम्हारी छाया में पले हुये उस गाँव पर कभी विपत्ति नहीं आई ॥ ५६ ॥

अथवा

जिसका ग्रामाध्यक्ष रक्षा कार्य के लिये दौवारिकों की प्रतीक्षा करता है  
( स्वयं कुछ नहीं करता ) तुम्हारे आश्रय में पले हुए उस गाँव पर कभी उद्विग्न  
वहीं हुआ ।

सुप्पं उड्ढं चणआ ण भज्जिआ सो जुआ अइक्कन्तो ।

अत्ता वि घरे कुविआ भूआणँ व वाइओ वंसो ॥ ५७ ॥

[ शूर्पं दग्धं चणका न भृष्टाः स युवातिक्रान्तः ।

श्वश्रूरपि गृहे कुपिता भूतानामिव वादितो वंशः ॥ ]

सूप जल गया किन्तु चना नहीं हुआ और वह नवयुवक भी चला गया ।  
सास कुपित हो गई तो जैसे बहरे के आगे वंशी बज रही हो ॥ ५७ ॥

पिसुणन्ति कामिणीणं जललुक्कपिआवऊहणसुहेल्लि ।

कण्डइअकबोलुप्फुल्लणिच्चलच्छीइँ वअणाइँ ॥ ५८ ॥

[ पिशुनयन्ति कामिनीनां जलनिलीनप्रियावगूहनसुखकेलिम् ।

कण्टकितकपोलोत्फुल्लनिश्चलाक्षीणि वदनानि ॥ ]

पुलकित कपोल और प्रफुल्ल अपलक नेत्रों वाले सुन्दरियों के बदन पानी में डुबकी लगा कर, प्रियतम के आलिंगन की रसमय क्रीड़ा की सूचना दे रहे हैं ॥ ५८ ॥

**अहिणवपाउसरसिएसु सोहइ साआइएसु दिअहेसु ।**

**रहसपसारिअगीवाणं णच्चिअं मोरवुन्दानं ॥ ५९ ॥**

[ अभिनवप्रावृद्धरसितेषु शोभते श्यामायितेषु दिवसेषु ।  
रभसप्रसारितग्रीवाणां नृत्यं मयूरवृन्दानाम् ॥ ]

जब दिवस की कान्ति श्यामल हो जाती है और वर्षा के नवीन मेघ गरज उठते हैं, तब सहसा उद्ग्रीव मयूरों का नृत्य सुन्दर लगता है ॥ ५९ ॥

**महिसक्खन्धविलगं घोलइ सिङ्गाहअं सिमिसिअन्तं ।**

**आहअवीणाङ्गकारसद्मुहलं मसअवुन्दं ॥ ६० ॥**

[ महिषस्कन्धविलग्नं घूर्णते शृङ्गाहतं सिमसिमायमानम् ।  
आहतवीणाङ्गकारशब्दमुखरं मशकवृन्दम् ॥ ]

अैसे के कन्धे पर बैठे हुये मच्छर उसकी सींगों से आहत होते ही वीणा जैसी मुखर क्षनकार करते हुए भनभना कर उड़ने लगते हैं ॥ ६० ॥

**रेहन्ति कुमुअदलणिच्चलट्टिआ मत्तमहुअरणिहाआ ।**

**ससिअरणीसेसपणासिअस्स गण्ठि व्व तिमिरस्स ॥ ६१ ॥**

[ राजन्ते कुमुददलनिश्चलस्थिता मत्तमधुकरनिकायाः ।  
शशिकरनिःशेषप्रणाशितस्य ग्रन्थय इव तिमिरस्य ॥ ]

कुमुदों की पंखुरियों पर निस्तब्ध बैठे हुये मतवाले मधुकर पुंज चन्द्रमा की फिरणों से उन्मूलित अन्धकार की बची हुई ग्रन्थि के तुल्य शोभित होते हैं ॥ ६१ ॥

**उअह तरुकोडराओ णिक्कन्तं पुंसुबाणं रिउच्छोळिं ।**

**सरिए जरिओ व्व द्रुमो पित्तं व्व सलोहिअं वमइ ॥ ६२ ॥**

[ पश्यत तरुकोटरानिष्क्रान्तां पुंशुकानां पङ्क्तिम् ।  
शरदि ज्वरित इव द्रुमः पित्तमिव सलोहितं वमति ॥ ]

देखो, वृक्ष के कोटर से नरशुकों की श्रेणी निकल रही है, जैसे शरत्काल-ज्वर से पीड़ित यह वृक्ष रक्त-मिश्रित पित्त का वमन कर रहा हो ॥ ६२ ॥

धाराधुव्वन्तमुहा लम्बिअवक्खा णिउच्चिअग्गीवा ।

वइवेढनेसु काआ सूलाहिण्णा व्व दीसन्ति ॥ ६३ ॥

[ धाराधाव्यमानमुखा लम्बितपक्षा निकुञ्चितग्रीवाः ।

वृतिवेष्टनेषु काकाः शूलाभिन्ना इव दृश्यन्ते ॥ ]

जिनके पंख लटक गये हैं और जिनके मुख जलधारा से धुल चुके हैं, अपनी ग्रीवा टेढ़ी कर बाड़ पर बैठे हुये वे कौए, मानो शूली पर चढ़ा दिये गये हैं ॥ ६३ ॥

ण वि तह अणालवन्ती हिअअं दूमेइ माणिणी अहिअं ।

जह दूरविअम्भिअगरुअरोसमज्जत्थभणिएहि ॥ ६४ ॥

[ नापि तथा नालपन्ती हृदयं दुनोति मानिन्यधिकम् ।

यथा दूरविजृम्भितगुरुकरोषमध्यस्थभणितैः ॥ ]

यह मानिनी मुझसे न बोल कर उतना दुःख नहीं पहुँचाती, जितना अत्यधिक बढ़े हुये कोप से पूर्ण उदासीन वचनों से ॥ ६४ ॥

गन्धं अग्घाअन्तअ पक्ककलम्बाणं वाहभरिअच्छ ।

आससु पहिअजुआणअ घरिणिमुहं मा ण पेच्छिहिसि ॥ ६५ ॥

[ गन्धमाजिघ्रन् पक्वकदम्बानां बाष्पभृताक्ष ।

आश्वसिहि पथिकयुवन् गृहिणीमुखं मा न प्रेक्षिष्यसे ॥ ]

नवयुवक बटोही ! पके कदम्बों की गन्ध सूँघते ही तुम्हारी आँखें सजल हो गईं, धीरज रखो तुम्हें प्रिया का मुख अवश्य देखने को मिलेगा ॥ ६५ ॥

गज्ज महं चिअ उबारि सव्वत्थामेण लोहहिअअस्स ।

जलहर लम्बालइअं मा रे मारेहिसि वराइं ॥ ६६ ॥

[ गर्ज ममैवोपरि सर्वस्थाम्ना लोहहृदयस्य ।

जलधर लम्बालकिकां मा रे मारयिष्यसि वराकीम् ॥ ]

अरे मेघ ! तुम मुझ कठोर हृदय के ऊपर जितना गरज सको, गरजो किन्तु विरह-व्यथा से जिसकी अलकें बिखर गई हैं, मेरी उस बेचारी प्रिया को कहीं मार न डालना ॥ ६६ ॥

पङ्कमइलेण छीरेक्कपाइणा दिण्णजाणुवडणेण ।

आनन्दिज्जइ हलिओ पुत्तेण व सालिछेत्तेण ॥ ६७ ॥

[ पङ्कमलिनेन क्षीरैकपायिना दत्तजानुपतनेन ।

आनन्दतेहालिकः पुत्रेणेव शालिक्षेत्रेण ॥ ]

पंक से मलिन, मात्र दुग्धपान करनेवाले, घुटने तक बढ़कर गिरे हुए पुत्र की भाँति शालि के खेत को देखकर हलवाहा आनन्दित होता है ।

( यहाँ अन्यापदेश से अभिसार के योग्य शालिक्षेत्र का संकेत किया गया है । )

कहँ मे परिणइआले खलसङ्गो होहिइ त्ति चिन्तन्तो ।

ओणअमुहो ससूओ ख्वइ व साली तुसारेण ॥ ६८ ॥

[ कथं मे परिणतिकाले खलसङ्गो भविष्यतीति चिन्तयन् ।

अवनतमुखः सशूको रोदितोव शालिस्तुषारेण ॥ ]

मेरे पक जाने पर ( बुढ़ापे में ) न जाने कैसे खल ( दुष्ट और खलिहान ) का साथ होगा ? यही सोच कर मानों धान अपनी टूड़ों के साथ तुषार के आँसू बहाकर शोक से शिर झुकाये रो रहा है ॥ ६८ ॥

संझाराओत्थइओ दीसइ गअणम्मि पडिवआचन्दो ।

रत्तदुऊलन्तरिओ थणणहलेहो व्व णववहुए ॥ ६९ ॥

[ संध्यारागावस्थगितो दृश्यते गगने प्रतिपच्चन्द्रः ।

रवतदुकूलान्तरितः स्तननखलेख इव नववध्वाः ॥ ]

संध्या की अरुणिमा में प्रतिपदा के आकाश का चन्द्रमा यों दिखाई पड़ रहा है जैसे किसी नववधू के अरुण दुकूल के भीतर से उसके स्तनों की नख-रेखा ॥ ६९ ॥

अइ दिअर किं ण पेच्छसि आआसं किं मुहा पलोएसि ।

जाआइ बाहुम्लम्मि अद्धअन्दाणँ परिवाडिं ॥ ७० ॥

[ अयि देवर किं न प्रेक्षसे आकाशं किं मुधा प्रलोकयसि ।

जायाया बाहुमूलेऽर्धचन्द्राणां परिपाटोम् ॥ ]

अरे देवर ! आकाश में क्या देख रहे हो ? पत्नी के वक्षस्थल पर अंकित अर्धचन्द्रों की श्रेणी को क्यों नहीं देखते ? ॥ ७० ॥

वाआइ किं भणिज्जउ केत्तिअमेत्तं व लिव्वए लेहे ।

तुह विरहे जं दुक्खं तस्स तुमं चेअ गहिअत्थो ॥ ७१ ॥

[ वाचया किं भण्यतां कियन्मात्रं वा लिख्यते लेखे ।  
तव विरहे यद्दुःखं तस्य त्वमेव गृहीतार्थः ॥ ]

वाणी से क्या कहूँ ? पत्र में क्या लिखूँ ? प्रियतम ! तुम्हारे वियोग में मैं  
जितना दुःखी हूँ, उसे तुम्हीं जानते होगे ! ॥ ७१ ॥

**मअणगिणो व्व धूमं मोहणपिच्छि व लोअदिट्ठीए ।  
जोव्वणघअं व मुद्धा वहइ सुअन्धं चिउरभारं ॥ ७२ ॥**

[ मदनाग्नेरिव धूमं मोहनपिच्छिकामिव लोकदृष्टेः ।  
यौवनध्वजमिव मुग्धा वहति सुगन्धं चिकुरभारम् ॥ ]

वह मुग्धा जिस सुगन्धित चिकुर-भारको वहन कर रही है वह मदनाग्नि का  
धुआँ है, लोकदृष्टि को मोहने वाली पिच्छिका है और यौवन का ध्वज है ॥७२॥

**रुअं सिट्ठं चिअ से असेसपुरिसे णिअत्तिअच्छेण ।  
वाहोलेण इमीए अजम्पमाणेण वि मुहेण ॥ ७३ ॥**

[ रूपं शिष्टमेव तस्याशेषपुरुषे निवर्तिताक्षेण ।  
वाढ्याद्रणास्या अजल्पतापि मुखेन ॥ ]

जिसने संसार के सभी पुरुषों से अपनी दृष्टि फेर ली है, सुन्दरी के उस  
अश्रुपूर्ण मुख ने चुप रह कर भी उन के रूप का वर्णन कर दिया ॥ ७३ ॥

**रुन्दारविन्दमन्दिरमअरन्दाणन्दिआलिरिउछोली ।**

**क्षणक्षणइ कसणमणिमेहल व्व महुमासलच्छीए ॥ ७४ ॥**

[ बृहदरविन्दमन्दिरमकरन्दानन्दितालिपंक्तिः ।  
क्षणक्षणायते कृष्णमणिमेखलेव मधुमासलक्ष्म्याः ॥ ]

प्रफुल्ल अरविन्द-मन्दिर में मकरन्द पान से हर्षित मधुकरश्रेणी वसन्त-  
लक्ष्मी की मरकत मेखला सो क्षणक्षणा रही है ॥ ७४ ॥

**कस्स कहो बहुपुण्णफ्लेक्कतरुणो तुहं विसम्मिहइ ।**

**थणपरिणाहे मम्महणिहाणकलसे व्व पारोहो ॥ ७५ ॥**

[ कस्य करो बहुपुण्यफलैकतरोस्तव विश्रमिष्यति ।  
स्तनपरिणाहे मन्मथनिधानकलश इव प्ररोहः ॥ ]

अनेक पुण्यों का फल फलने वाले वृक्ष के पल्लव के समान, किसका हाथ  
तुम्हारे निधि-कुम्भ तुल्य विस्तृत पयोधरों पर विश्राम करेगा ? ॥ ७५ ॥

चोरा सभअसतह्णं पुणो पुणो पेसअन्ति दिट्ठीओ ।

अहिरक्खिअणिहिकलसे व्व पोढवइआथणुच्छङ्गे ॥ ७६ ॥

[ चोराः समयसतृष्णं पुनः पुनः प्रेषयन्ति दृष्टोः ।

अहिरक्षितनिधिकलश इव प्रीढपतिकास्तनोत्सङ्गे ॥ ]

सर्प से सुरक्षित निधि-कलश के समान वीर की प्रिया के स्तन पर चोर भय और तृष्णा से मिली हुई दृष्टि डाल रहे हैं ॥ ७६ ॥

उव्वहइ णवतणङ्कुररोमञ्चपसाहिआइँ अंगाइँ ।

पाउसलच्छीअ पओहरेहिँ परिपेल्लिओ विज्झो ॥ ७७ ॥

[ उद्वहति नवतृणांकुररोमाञ्चप्रसाधितान्यङ्गानि ।

प्रावृड्लक्ष्म्याः पयोधरेः परिप्रेरितो विन्ध्यः ॥ ]

पावस लक्ष्मी के पयोधरों का स्पर्श पाकर विन्ध्य शैल के अंग नवतृणों के रोमांच से पूर्ण हो गये ॥ ७७ ॥

आम बहला वणाली मुहला जलरङ्कुणो जलं सिसिरं ।

अण्णणईणै वि रेवाइ तह वि अण्णे गुणा के वि ॥ ७८ ॥

[ सत्यं बहला वनाली मुखरा जलरङ्कुवो जलं शिशिरम् ।

अन्यनदीनामपि रेवायास्तथाप्यन्ये गुणाः केऽपि ॥ ]

बहुत सी नदियों के तट पर वनाली है, जलचर विहंग मधुर कोलाहल करते रहते हैं और उनका जल शीतल है किन्तु रेवा को गुण कुछ और ही है ॥ ७८ ॥

एइ इमीअ णिअच्छइ परिणअमालूरसच्छहे थणए ।

तुङ्गे सत्पुरिसमणोरहे व्व हिअए अमाअन्ते ॥ ७९ ॥

[ आगच्छतास्या निरीक्षध्वं परिणतमालूरसदृशौ स्तनौ ।

तुङ्गौ सत्पुरुषमनोरथाविव हृदये अमान्तौ ॥ ]

आओ, पके बेल से उन्नत उसके स्तन देखो, वें सत्पुरुषों के मनोरथ के समान हृदय में नहीं समा रहे हैं ॥ ७९ ॥

हत्थाहत्थि अहमहमिआइ वासागमम्मि मेहेहि ।

अव्वो किं पि रहस्सं छण्णं पि णहङ्गणं गलइ ॥ ८० ॥

[ हस्ताहस्ति अहमहमिकया वर्षागमे मेघैः ।

आश्चर्यं किमपि रहस्यं छन्नमपि नभोज्जणं गलति ॥ ]

आश्चर्य है, वर्षाकालीन मेघों के द्वारा सर्पों से आकाश को छा दिया है, फिर भी वह चूता है, इसमें कुछ रहस्य अवश्य होगा ॥ ८० ॥

**केत्तिअमेत्तं होहिइ सोहगं पिअअमस्स भमिरस्स ।**

**महिलामअणछुहाउलकडक्खविकखेवधेप्पन्तं ॥ ८१ ॥**

[ क्रियन्मात्रं भविष्यति सौभाग्यं प्रियतमस्य भ्रमणशीलस्य ।

महिलामदनक्षुधाकुलकटाक्षविक्षेपगृह्यमाणम् ॥ ]

सुन्दरियों के मदन-तृषाकुल कटाक्षों के द्वारा गृहीत, भ्रमणशील प्रियतम का पता नहीं कितना बड़ा सौभाग्य होगा ? ॥ ८१ ॥

**णिअधणिअं उवऊहसु कुक्कुडसद्देन झत्ति पडिबुद्ध ।**

**परवसइवाससङ्किर णिअए वि घरम्मि, मा भासु ॥ ८२ ॥**

[ निजगृहिणीमुपगूहस्व कुक्कुटशब्देन झटिति प्रतिबुद्ध ।

परवसतिवाससङ्किन्निजकेऽपि गृहे मा भेषीः ॥ ]

कुक्कुट की आवाज सुनते ही सहमा तुम्हारी आँखें खुल गई हैं । अपनी प्रिया का आलिंगन करो । डरो मत ! तुम अपने घर में भी रहकर पराये घर की शंका क्यों करते हो ? ॥ ८२ ॥

**खरपवणरअगलत्थिअगिरिऊडावडणभिण्णदेहस्स ।**

**धुक्काधुक्कइ जीअं व विज्जुआ कालमेहस्स ॥ ८३ ॥**

[ खरपवनरयगलहस्तितगिरिकूटापतनभिन्नदेहस्य ।

धुकधुकायते जीव इव विद्युत्कालमेघस्य ॥ ]

प्रचण्ड पवन ने जिसका गला पकड़कर शैल-शृंग पर पटक दिया है, उस धायल मेघ के प्राणों के समान दामिनी धुकधुका रही है ॥ ८३ ॥

**मेहमहिस्स णज्जइ उअरे सुरचावकोडिभिण्णस्स ।**

**कन्दन्तस्स सविअणं अन्तं व पलम्बए विज्जू ॥ ८४ ॥**

[ मेघमहिषस्य ज्ञायते उदरे सुरचापकोटिभिन्नस्य ।

कन्दतः सवेदनमन्त्रमिव प्रलम्बते विद्युत् ॥ ]

इन्द्रचाप की तीखी नोक से जिसका पेट फट गया है । वेदना से व्यथित होकर कराहते हुए उस मेघ-महिष की आँत के समान चपला चमक रही है ॥ ८४ ॥

णवपल्लवं विसण्णा पहिआ पेच्छन्ति चूअरुक्खस्स ।

कामस्स लोहितउप्पङ्कराइअं हत्थभल्लं व ॥ ८५ ॥

[ नवपल्लवं विषण्णाः पथिकाः पश्यन्ति चूतवृक्षस्य ।

कामस्य लोहितसमूहराजितं हस्तभल्लमिव ॥ ]

विषण्ण पथिक काम के लोहित-रंजित भाले के समान रसाल का नवपल्लव देख रहे हैं ॥ ८५ ॥

महिलाणं चिअ दोसो जेण पवासम्मि गव्विआ पुरिसा ।

दो तिण्णि जाव ण मरन्ति ता ण विरहा समप्पन्ति ॥ ८६ ॥

[ महिलानामेव दोषो येन प्रवासे गर्विताः पुरुषाः ।

द्वे तिम्रो यावन्न म्रियन्ते तावन्न विरहाः समाप्यन्ते ॥ ]

प्रवास में भी पुरुषों का गर्व बना रहता है, इसमें महिलाओं का ही दोष है, क्योंकि जब तक दो-चार की मृत्यु नहीं होती, तब तक उनका विरह ही नहीं समाप्त होता ॥ ८६ ॥

बालअ दे वच्च लहुं मरइ वराई अलं विलम्बेण ।

सा तुज्झ दंसणेण वि जीवेज्जइ णत्थि सन्देहो ॥ ८७ ॥

[ बालक हे व्रज लघु म्रियते वराकी अलं विलम्बेन ।

सा तव दर्शनेनापि जीविष्यति नास्ति सन्देहः ॥ ]

बेटा ! शीघ्र चलो, विलम्ब मत करो, वह अबला मृत्यु शय्या पर पड़ी है ।  
मुझे देखते ही जीवित हो जायगी, इसमें रंच भी सन्देह नहीं है ॥ ८७ ॥

तम्मिरपसरिअहुअवहजालालिपलीधिए वणाहोए ।

किंसुअवणन्ति कलिऊण मुद्धहरिणो ण णिवकमइ ॥ ८८ ॥

[ ताम्रवर्णप्रसृतहुतवहज्वालालिप्रदोपिते वनाभोगे ।

किंशुकवनमिति कलयिस्त्रा मुग्धहरिणो न निष्क्रामति ॥ ]

लाल-लाल दावानल की फैली हुई प्रचण्ड लपटों से प्रदीपित, वनाली को  
पुष्पित पलाश-वन समक्ष कर मुग्ध हरिण बाहर नहीं निकलते हैं ॥ ८८ ॥

णिहुअणसिप्पं तह सारिआइ उल्लाविअं म्ह गुरुपुरओ ।

जह तं वेलं माए ण आणिमो कत्थ वच्चामो ॥ ८९ ॥



[ निधुवनशिल्पं तथा शारिकयोल्लपितमस्माकं गुरुपुरतः ।

यथा तां वेलां मातर्न जानीमः कुत्र व्रजामः ॥ ]

मैया ! सारिका ने गुरुजनों के समक्ष रति-लीला का ऐसा वर्णन किया, जिसे सुनकर उस समय मेरी समझ में नहीं आया कि मैं कहाँ जाकर छिप जाऊँ ॥ ८९ ॥

पचचरगप्फुल्लदलुल्लसन्तमअरन्दपाणलेहलओ ।

तं णत्थि कुन्दकलिआइ जं ण ममरो महइ काउं ॥ ९० ॥

[ प्रत्यग्रोत्फुल्लदलोल्लसन्मकरन्दपानलुब्धः ।

तन्नास्ति कुन्दकलिकाया यन्न भ्रमरो वाञ्छति कर्तुम् ॥ ]

प्रत्यग्र-पुष्पित दलों पर छलकते हुए मकरन्द के पान का लोभी भ्रमर कुन्दकली का क्या नहीं कर डालना चाहता ॥ ९० ॥

सो को वि गुणाइसओ ण आणिमो मामि कुन्दलइआए ।

अच्छीहिं चिचअ पाउं अहिलस्सइ जेण भमरेहिं ॥ ९१ ॥

[ स कोऽपि गुणातिशयो न जानीमो मातुलानि कुन्दलतिकायाः ।

अक्षिभ्यामेव पातुमभिलष्यते येन भ्रमरैः ॥ ]

मामी ! पता नहीं कुन्द-लता में कौन सा ऐसा श्रेष्ठ गुण है, जिससे भँवरे उसे आँखों से ही पी जाना चाहते हैं ॥ ९१ ॥

एकक चिचअ रुअगुणं गामणिधूआ समुव्वहइ ।

अणिमिसणअणो सअलो जीए देवीकओ गामो ॥ ९२ ॥

[ एकैव रूपगुणं ग्रामणोद्बुहिता समुद्बहति ।

अनिमिषनयनः सकलो यया देवीकृतो ग्रामः ॥ ]

ग्रामनायक की एकलौती पुत्री एक ही गुण को धारण करती है, उसने ( एकटक देखने वाले ) सारे गाँव को देवता बना दिया है ॥ ९२ ॥

मण्णे आसाओ चिचअ ण पाविओ पिअअमाहररसस्स ।

तिअसेहिं जेण रअणाअराहि अमअं समुद्धरिअं ॥ ९३ ॥

[ मन्ये आस्वाद एव न प्राप्तः प्रियतमाधररसस्य ।

त्रिदशैर्येन रत्नाकरादमृतं समुद्धृतम् ॥ ]

मैं समझता हूँ, देवताओं को प्रिया के अधरासन का स्वाद नहीं मिला था, जिससे उन्हें सागर से अमृत निकालना पड़ा ॥ ९३ ॥

आअण्णाअड्ढिअणिसिअभल्लमम्माहआइ हरिणीए ।

अदंसणो पिओ होहिइ त्ति वलिउं चिरं दिट्ठो ॥ ९४ ॥

[ आकर्णाकृष्टनिशितभल्लमर्माहतया हरिण्या ।

अदर्शनः प्रियो भविष्यतीति वलित्वा चिरं दृष्टः ॥ ]

कानों तक खींचकर चलाये हुए तीर से मर्माहत हरिणी प्यारे हरिण को गर्दन मोड़कर बड़ी देर तक यह सोचकर निहारती रही, कि इनका दर्शन अब मुझे दुर्लभ हो जायगा ॥ ९४ ॥

विसमट्ठिअपिवकेक्कम्बदंसणे तुज्झ सत्तुघरिणीए ।

को को ण पत्थिओ पहिआअं डिम्भे रहन्तम्मि ॥ ९५ ॥

[ विषमस्थितपक्वकाम्नदर्शने तव शत्रुगृहिण्या ।

कः को न प्रार्थितः पथिकानां डिम्भे रुदति ॥ ]

दुर्गम डाली पर लटकता हुआ पका आम देखकर जब बालक रोने लगता है, तब तुम्हारे शत्रु को पत्नी किस-किस पथिक से प्रार्थना नहीं करती ॥ ९५ ॥

मालारी ललितल्लुलिअबाहुमूलेहिं तरुणहिअआइ ।

उल्लूरइ सज्जुल्लूरिआइ कुसुमाइ दावेन्ती ॥ ९६ ॥

[ मालाकारी ललितोल्ललितबाहुमूलाभ्यां तरुणहृदयानि ।

उल्लुनाति सद्योऽवलूनानि कुसुमानि दर्शयन्ती ॥ ]

तुरन्त चुने हुए पुष्पों को दिखलाती हुई यह मालिनी अपने सुन्दर एवं विशाल भुजमूलों से तरुणों का हृदय चुन लेती है ॥ ९६ ॥

मज्झो, पिओ, कुअण्डो, पल्लिजुआणा, सवत्तीओ ।

जह जह वड्ढन्ति थणा तह तह छिज्जन्ति पञ्च वाहीए ॥ ९७ ॥

[ मध्यः प्रियः कुटुम्बं पल्लोयुवानः सपत्न्यः ।

यथा यथा वर्धते स्तनौ तथा तथा क्षीयन्ते पञ्च व्याधयः ॥ ]

जैसे-जैसे व्याध की बहू के स्तन बढ़ते हैं वैसे-वैसे कटि, पति, कुटुम्ब, गाँव के युवक, और सपत्नियाँ—ये पाँचों क्षीण होने लगते हैं ॥ ९७ ॥

मालारीए वेल्लहलबाहुमूलावलोअणसअल्लो ।

अलिअं पि भमइ कुसुमग्घपुच्छिरो पंसुलजुआणो ॥ ९८ ॥

[ मालाकार्यः सुन्दरबाहुमूलावलीकनसतृष्णः ।

अलीकमपि भ्रमति कुसुमार्घप्रश्नशीलः पांसुलयुवा ॥ ]

मालिनी के सुन्दर भुजमूल का अवलीकन करने की तृष्णा से लम्पट-युवक व्यर्थ ही पुष्पों का मूल्य पूछने के लिए घूम रहा है ॥ ९८ ॥

**अकअण्णुअ घणवण्णं घणपण्णन्तरिततरणिअरणिअरं ।**

**जइ रे रे वाणीरं रेवाणीरं पि णो भरसि ॥ ९९ ॥**

[ अकृतज्ञ घनवर्णं घनपर्णान्तरिततरणिकरनिकरम् ।

यदि रे रे वानीरं रेवानीरमपि न स्मरसि ॥ ]

रे कृतघ्न ! जिसके घने पत्रों की छाया में सूर्य की रश्मियाँ भी छिप जाती थीं, वह मेघ-सा श्यामल नीप-निकुंज यदि तुझे भूल गया तो क्या रेवा का नीर भी याद न रहा ॥ ९९ ॥

**मन्दं पि ण आणइ हल्लिअणन्दणो इह हि डड्ढगामम्मि ।**

**गह्वइसुआ विवज्जइ अवेज्जए कस्स साहामो ॥ १०० ॥**

[ मन्दमपि न जानाति हल्लिकनन्दन इह हि दग्धग्रामे ।

गृहपतिमुता विपद्यतेऽवैद्यके कस्य कथयामः ॥ ]

वह मूर्ख हल्लवाहे का पुत्र, इतना भी नहीं जानता कि इस वैद्य-हीन दुष्ट गाँव में कुलीन घर की पुत्री मर रही है, किससे कहें ॥ १०० ॥

**रसिअजणहि अअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मिइए ।**

**सत्तसअम्मि समत्तं सट्ठं गाहासअं एअं ॥ १०१ ॥**

[ रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखमुकविनिर्मिते ।

सप्तशतके समाप्तं षष्ठं गाथाशतकमेतत् ॥ ]

जिनमें हाल का प्रमुख स्थान है, उन कवियों द्वारा रचे हुये रसिकों को प्रिय सप्तशतक का षष्ठ शतक पूरा हुआ ॥ १०१ ॥



## सप्तमं शतकम्

एककक्कमपरिरक्खणपहारसँमुहे कुरङ्गमिहुणन्मि ।

वाहेण मण्णुविअलन्तवाहधोअं अणुं मुक्कं ॥ १ ॥

[ अन्योन्यपरिरक्षणप्रहारसंमुखे कुरङ्गमिथुने ।  
व्याधेन मन्युविगलद्वाष्पधौतं धनुमुक्त्तम् ॥ ]

एक दूसरे की रक्षा के लिए छूटते हुए तीर के सम्मुख कुरंग-दम्पति को खड़ा होते देख कर व्याध ने करुणा-विगलित आँसुओं से घुला हुआ धनुष त्याग दिया ॥ १ ॥

ता सुहअ विलम्ब खणं भणामि कीअ वि कएण अलमह वा ।

अविआरिअकज्जारम्भआरिणी मरउ ण भणिस्सं ॥ २ ॥

[ तत्सुभग विलम्बस्व क्षणं भणामि कस्या अपि कृतेनालमथवा ।  
अविचारितकार्यारम्भकारिणी म्रियतां न भणिष्यामि ॥ ]

क्षण भर रूको, किसी के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहती हूँ, अथवा रहने दो । जिसने बिना सोचे- समझे काम किया है, वह मर जाय, उससे कुछ कहूँगी भी नहीं ॥ २ ॥

भोइ णिदिण्णपहेणअचक्खिअदुस्सिक्खिओ हलिअउत्तो ।

एत्ताहे अण्णपहेणआणँ छीओल्लअं देई ॥ ३ ॥

[ भोगिनी दत्तप्रहेणका स्वादनदुःशिक्षितो हलिकः पुत्रः ।  
इदानीमन्यप्रहेणकानां छी इति वचनं ददाति ॥ ]

गाँव के व्यापारी की स्त्री के हाथ का बायन चख कर यह लम्पट हलवाहा दूसरे घर का बायन पाकर छिः-छिः करने लगता है ॥ ३ ॥

पच्चूसमऊहावलिपरिमलणसमूससन्तवत्ताणं ।

कमलाणं रअणिविरमे जिअलोअसिरो महम्महइ ॥ ४ ॥

[ प्रत्यूषमयूखावलिपरिमलनसमुच्छ्वसत्पत्राणाम् ।  
कमलानां रजनिविरामे जितलोकश्रीर्महमहायते ॥ ]

सूर्य की किरणों के सम्पर्क से जिनी पंखुरियाँ प्रस्फुटित हो गई हैं, रात बीतने पर उन कमलों की विश्व विजयिनी शोभा महमहा रही है ॥ ४ ॥

वाउव्वेल्लिअसाउलि थएसु फुडदन्तमण्डलं जहणं ।  
चडुआरअं पइं मा हु पुत्ति जणहासिअं कुणसु ॥ ५ ॥

[ वातोद्वेल्लितवस्त्रे स्थगय स्फुटदन्तमण्डलं जघनम् ।

चटुकारकं पतिं मा खलु पुत्रि ! जनहास्यं कुण ॥ ]

वायु में वस्त्रों के फहराने पर जिनमें अंकित दन्त-लेखा प्रकट हुई जा रही है  
उन जाँघों को तो ढक लो । बेटी ! चाटुकार पति की हँसी मत कराना ॥ ५ ॥

वीसत्थहसिअपरिसविकआणें पढमं जलज्जली दिण्णो ।  
पच्छा वहुअ गहिओ कुडम्बभारो णिमज्जन्तो ॥ ६ ॥

[ विस्रब्धहसितपरिक्रमाणां प्रथमं जलाञ्जलिर्दन्तः ।

पश्चाद्बध्वा गृहीतः कुटुम्बभारो निमज्जन् ॥ ]

बहू ने पहले ही निश्चिन्त हँसना और इधर-उधर घूमना छोड़कर डूबते हुए  
कुटुम्ब का भार सँभाला है ॥ ६ ॥

गम्मिहिसि तस्स पासं सुन्दरि मा तुरअ वडुडउ मिअङ्को ।  
बुद्धे बुद्धं मिअ चन्दिभाइ को पेच्छइ मुहं दे ॥ ७ ॥

[ गमिष्यसि तस्य पार्श्वं सुन्दरि मा त्वरस्य वर्धतां मृगांकः ।

दुग्धे दुग्धमिव चन्द्रिकायां कः प्रेक्षते मुखं ते ॥ ]

सुन्दरी ! जल्दी क्या है ? चन्द्रोदय होने दो, तब उसके पास चली जाना ।  
दूध में मिले हुए दूध के समान चाँदनी में तुम्हारा मुख कौन देख सकता  
है ॥ ७ ॥

जइ जूरइ जूरउ णाम मामि परलोअवसणिओ लोओ ।  
तह वि बला गामणिणन्दणस्स वअणे वलइ दिट्ठी ॥ ८ ॥

[ यदि खिद्यते खिद्यतां नाम मातुलादि परलोकव्यसिनको लोकः ।

तथापि बलाद्ग्रामणीनन्दनस्य वदने वलते दृष्टिः ॥ ]

भाभी ! यह परलोक व्यसिनी संसार दुःखी होता है तो होने दो । मेरी  
दृष्टि तो पुनः उसी ग्रामणी-पुत्र के मुख पर बार-बार पड़ती है ॥ ८ ॥

गेहं व वित्तरहिअं णिज्जरकुहरं व सलिलसुण्णविअं ।  
गोहणरहिअं गोटुं व तीअ वअणं तुह विओए ॥ ९ ॥

[ गृहमिव वित्तरहितं निर्झरकुहरमिव सलिलशून्यम् ।  
गोधनरहितं गोष्ठमिव तस्या वदनं तव वियोगे ॥ ]

उसका मुख तुम्हारे वियोग में धनहीन गृह जल-शून्य निर्झर-कुहर एवं गोधन रहित गोठ के समान प्रतीत हो रहा है ॥ ९ ॥

तुह दंसणेण जणिओ इमीअ लज्जाउलाइ अणुराओ ।  
दुग्गअमणोरहो विअ हिअअ च्चिअ जाइ परिणामं ॥ १० ॥

[ तव दर्शनेन जनितोऽस्या लज्जालुकाया अनुरागः ।  
दुर्गतमनोरथ इव हृदय एव याति परिणामम् ॥ ]

उस लज्जावती के हृदय में तुम्हें देखकर जो प्रणय अङ्कुरित हुआ था । वह दरिद्र के मनोरथ के समान भीतर ही भीतर परिपक्व हो गया है ॥ १० ॥

जं तणुआअइ सा तुह कएण किं जेण पुच्छसि हसन्तो ।  
अह गिम्हे मह पअई एव्वं भणिऊण ओरुण्णा ॥ ११ ॥

[ या तनूयते सा तव कृतेन किं येन पुच्छसि हसन् ।  
असौ ग्रीष्मे मम प्रकृतिरिति भणित्वावरुदिता ॥ ]

क्या सभी स्त्रियाँ तुम्हारे वियोग में दुर्बल होती हैं, जो हँसकर पूछ रहे हो ?  
“ग्रीष्म में मेरी प्रकृति ही ऐसी है,” यह कहकर वह रो पड़ी ॥ ११ ॥

वण्णक्कमरहिअस्स वि एस गुणो णवरि चित्तकम्मस्स ।  
णिमिसं पि जं ण मुञ्चइ पिओ जणो गाढमुवऊढो ॥ १२ ॥

[ वर्णक्रमरहितस्याप्येष गुणः केवलं चित्रकर्मणः ।  
निमिषमपि यन्न मुञ्चति प्रियो जनो गाढमुपमूढः ॥ ]

वर्णक्रम से शून्य होने पर भी चित्र में ही यह गुण पाया जाता है कि प्रिय-  
तम अपनी प्रेयसी का भुज-बन्धन क्षण भर शिथिल नहीं होने देता ॥ १२ ॥

अविहत्तसंधिवन्धं पढमरसुभेअपाणलोहिल्लो ।  
उव्वेलिउं ण आणह खण्डइ कलिआमुहं भमरो ॥ १३ ॥

[ अविभक्तसंधिवन्धं प्रथमरसोद्भेदपानलुब्धः ।  
उद्वेलितुं न जानाति खण्डयति कलिकामुखं भ्रमरः ॥ ]

पहले पहल निकला हुआ मकरन्द पीनेका लोभी भौरा कली की बन्द पंखु-  
रियों को खिलाना तो जानता नहीं केवल उसका मुख खंडित कर देता  
है ॥ १३ ॥

दरवेविरोरुजुअलासु मउलिअच्छीसु लुलिअचिहुरासु ।  
पुरिसाइरीसु कामो पिआसु सज्जाउहो वसइ ॥ १४ ॥

[ ईषद्वेपनशीलोरुयुगलासु मुकुलिताक्षोषु लुलितचिकुरासु ।  
पुरुषायितशीलासु कामः प्रियासु सज्जायुधो वसति ॥ ]

जिनकी दोनों जाँघें कुछ-कुछ कम्पित हो रही हैं, आँखें मुकुलित हो गई हैं एवं केश बिखर गये हैं, उन विपरीत रतशाला तरुणियों के प्रति काम का घनुष सदा चढ़ा रहता है ॥ १४ ॥

जं जं ते ण सुहाअइ तं तं ण करेमि जं ममाअत्तं ।  
अहअं चिअ जं ण सुहामि सुहअ तं किं ममाअत्तं ॥ १५ ॥

[ यद्यते न सुखायते तत्तन्न करोमि यन्ममायत्तम् ।  
अहमेव यन्न सुखाये सुभग्न तत्किं ममायत्तम् ॥ ]

जो तुम्हें पसन्द नहीं है, वह मैं न करूँगी क्योंकि यह मेरे ही वश की बात है । किन्तु प्राणेश यदि मैं ही तुम्हें अच्छी न लगूँ तो इसमें मेरा वश ही क्या है ॥ १५ ॥

वावारविसंवाअं सअलावअवाणं कुणइ हअलज्जा ।  
सवणाणं उणो गुरुसंणिहे वि ण णिरुज्जइ णिओअं ॥ १६ ॥

[ व्यापारविसंवादं सकलावयवानां करोति हतलज्जा ।  
श्रवणयोः पुनर्गुरुसंनिधावपि न निरुणद्धि नियोगम् ॥ ]

यह पापिन लज्जा, शरीर के सम्पूर्ण अवयवों का व्यापार तो बन्द कर देती है किन्तु गुरुजनों के समक्ष भी कानों को खुला ही छोड़ देती है ॥ १६ ॥

किं भणह मं सहीओ मा मर दीसिहइ सो जिअन्तीए ।  
कज्जालाओ एसो सिणेहमगो उण ण होइ ॥ १७ ॥

[ किं भणथ मां सख्यो मा अत्रियस्व द्रक्ष्यते स जीवन्त्या ।  
कार्यालाप एष स्नेहमार्गः पुनर्न भवति ॥ ]

साखियों ! तुझसे क्या कह रही हो ? “डरो मत जीवित रहोगी तो उन्हें अवश्य देख लोगी” लेकिन यह तो प्रयोजन की बात है । स्नेह का मार्ग नहीं है ॥ १७ ॥

एकल्लमओ दिट्ठीअ मइअ तह पुलइओ सअह्लाए ।

पिअजाअस्स जह धणुं पडिअं वाहस्स हत्थाओ ॥ १८ ॥

[ एकाकी मृगो दृष्ट्या मृग्या तथा प्रलोकितः सतृष्णया ।

प्रियजायस्य यथा धनुः पतितं व्याधस्य हस्तात् ॥ ]

मृगो बिछुड़ते हुए अकेले मृग को तुपित नयनों से इस प्रकार निहारने लग कि अपनी पत्नी से प्रेम करने वाले व्याध के हाथ से धनुष गिर पड़ा ॥ १८ ॥

णलिणीसु भमसि परिमलसि सत्तलं मालइं पि णो मुअसि ।

तरलत्तणं तुइ अहो महुअर जइ पाडला हरइ ॥ १९ ॥

[ नलिनीषु भ्रमसि परिमृद्गासि सप्तलां मालतीमपि नो मुञ्चसि ।

तरलत्वं तवाहो मधुकर यदि पाटला हरति ॥ ]

अरे मधुकर ! तुम कभी नलिनी पर मड़राते हो, कभी नवमालिका का उपमर्दन करते हो, और मालती को भी नहीं छोड़ते । यदि कहीं पाटला से भेंट हो जाती तो वह तुम्हारी यह सारी चंचलता दूर कर देती ॥ १९ ॥

दो अङ्गुलअकवालअपिणद्धसविसेसणीलकञ्चुइआ ।

दावेइ थणत्थलवणिणअं व तरुणो जुअजणाणं ॥ २० ॥

[ द्व्यङ्गुलककपाटपिनद्धसविशेषणीलकञ्चुकिा ।

दर्शयति स्तनस्थलवर्णिकामिव तरुणि युवजनेभ्यः ॥ ]

जिसकी कसी हुई नोली कंचुकी में दो अंगुल का द्वार बना हुआ है वह युवत मानों युवको को स्तनों को वानगी दिखला रही है ॥ २० ॥

रक्खेइ पुत्तअं मत्थएण ओच्छोअअं पडिच्छन्ती ।

अंसुहिं पहिअघरिणी ओल्लिज्जन्तं ण लक्खेइ ॥ २१ ॥

[ रक्षति पुत्रकं मस्तकेन पटलप्रान्तोदकं प्रतीच्छन्ती ।

अश्रुभिः पथिकगृहिणी आर्द्राभवन्तं न लक्षयति ॥ ]

परदेशी की प्रिया चूते हुए छप्पर का पानी अपने शिर पर रोककर नन्हें बालक को रक्षा करती है किन्तु वह यह नहीं जान पाती कि उसका शिशु उसीके आँसुओं से भीग गया है । ॥ २१ ॥

सरए सरम्मि पहिआ जलाइं कन्दोदृसुरहिगन्धाइं ।

धवलच्छाइं सअण्हा पिअन्ति दइआणं व मुहाइं ॥ २२ ॥



[ शरदि सरसि पथिका जलानि नीलोत्पलमुरभिगन्धीनि ।  
धवलाच्छानि सत्तुष्णाः पिबन्ति दयितानामिव मुखानि ॥ ]

तृपित पथिक शरत्काल में नीलोत्पल की सुरभी से सुवासित सरोवर का शुभ स्वच्छ जल श्वेत नयनों वालों प्रिया के सुगन्धित मुख के समान पी जाते हैं ॥ २२ ॥

**अभ्यन्तरसरसाओ उवरि पव्वाभबद्धपङ्काओ ।**

**चङ्कम्मन्तम्मि जणे समुस्ससन्ति व्व रच्छाओ ॥ २३ ॥**

[ अभ्यन्तरसरसा उपरि प्रवातबद्धपङ्काः ।  
चङ्क्रममाणे जने समुच्छ्वसन्तीव रथ्याः ॥ ]

तीक्ष्ण वायु से ऊपर का पंख सूख जाने पर भी जो भीतर से गीली है वे गाँव की गलियाँ लोगों के यातायात से मानों आह भर रही हैं ?! २३ ॥

**मुहुपुण्डरीअछाआइ संठिआ उअह राअहंसे व्व ।**

**छणपिट्टुकुट्टणुच्छलितधूलिधवले थणे वहइ ॥ २४ ॥**

[ मुखपुण्डरीकच्छायायां संस्थितौ पश्यत राजहंसाविव ।  
क्षणपिष्टकुट्टनोच्छलितधूलिधवलौ स्तनौ वहति ॥ ]

वह सुन्दरी, उत्सव के दिन, पीसने कूटने से उड़ी हुई धूलि से धवलित पयोधरों को मुख पद्म का छाया में बैठे हुए दो राजहंसों के समान धारण करती है ॥ २४ ॥

**तह तेणवि सा दिट्ठा, तीअ वि तह तस्स पेसिआ दिट्ठी ।**

**जह दोणह वि समअं चिअ णिव्वत्तरआइं जाआइं ॥ २५ ॥**

[ तथा तेनापि सा दृष्टा तथापि तथा तस्मै प्रेषिता दृष्टिः ।  
यथा द्वावपि सममेव निर्वृत्तरतौ जातौ ॥ ]

उसने उसे इस प्रकार देखा और उसने भी उसका ओर वैसी ही दृष्टि डाली । दोनों ने एक ही समय में रति का आनन्द उठा लिया ॥ २५ ॥

**वाउलिआपरिसोसण कुडङ्गपत्तणसुलहसंकेअ ।**

**सोहगगकणअकसवट्टु गिम्ह ! मा कह वि क्षिज्जिहिसि ॥ २६ ॥**

[ स्वल्पखातिखातिकारिशोषण निकुञ्जपत्रकरण सुलभसंकेत ।  
सौभाग्यकनककषपट्टु ग्रीष्म मा कश्चमपि क्षीणो भविष्यसि ॥ ]

छोटी तल्लियों को सुखाकर एवं निकुंजों को सघन पत्रों से सजाकर संकेत स्थान को सुलभ बनाने वाले ग्रीष्म तम मेरे सौभाग्य की कसौटी हों, कभी समाप्त न होना ॥ २६ ॥

**बुस्सिक्खअरअणपरिक्खएहिं घिट्ठोसि पत्थरे तावा ।**

**जा तिलमेत्तं वट्टसि मरगअ का तुज्झ मुल्लकहा ॥ २७ ॥**

[ दुःशिक्षितरत्नपरीक्षकैघट्टोऽसि प्रस्तरे तावत् ।

यावत्तिलमात्रं वर्तसे मरकत का तव मूल्यकथा ॥ ]

मूर्ख जौहरियों ने पत्थर पर घिस-घिस कर ही तुझे तिल-जैसा बना दिया है । अरे मरकत ! अब तेरे मूल्य की बात ही क्या रह गई है ॥ २६ ॥

**जह चिन्तेइ परिअणो आसङ्कइ जह अ तस्स पडिक्खो ।**

**बालेण वि गामणिणन्दणेण तह रक्खिआ पल्ली ॥ २८ ॥**

[ यथा चिन्तयति परिजन आशङ्कते यथा च तस्य प्रतिपक्षः ।

बालेनापि ग्रामणीनन्दनेन तथा रक्षिता पल्ली ॥ ]

बालक होने पर भी ग्रामणी पुत्र ने गाँव की सुरक्षा का भार इतनी योग्यता से संभाल लिया है कि प्रजा उसका परिश्रम देखकर तरस खाती है और शत्रु सदा शंकित रहते हैं ॥ २८ ॥

**अण्णोसु पहिअ ! पुच्छसु वाहअपुत्तेसु पुसिअचम्माइं ।**

**अम्हं वाहजुआणो हरिणेषु धणुं ण णामेइ ॥ २९ ॥**

[ अन्येषु पथिक पृच्छ व्याधकपुत्रेषु पृषतचर्माणि ।

अस्माकं व्याधयुवा हरिणेषु धनुर्न नामयति ॥ ]

अरे, पथिक ! अन्य व्याध-पुत्रों से जाकर मृग-चर्म का मूल्य पूछो । हमारे स्वामी तो मृगों पर तीर ही नहीं चलाते ॥ २९ ॥

**गअवहुवेहव्वअरो पुत्तो मे एककण्डविणिवाई ।**

**तइ सोण्हाइ पुलइओ जह कण्डकरण्डअं वहइ ॥ ३० ॥**

[ गजवधूर्वैधव्यकरः पुत्रो मे एककाण्डविनिपाती ।

तथा स्नुषया प्रलोकितो यथा काण्डसमूहं वहति ॥ ]

एक ही बाण चलाकर, हथिनियों को विधवा बनाने वाले, मेरे पुत्र को बहू ने कुछ ऐसे ढंग से देखा कि वह अब तरकश ( बाणों का पिटारा ) धारण करता है ॥ ३० ॥

विष्कारुहणालावं पल्ली मा कुणउ, गामणी ससइ ।  
पच्चज्जिविओ जइ कह वि सुणइ ता जीविअं मुअइ ॥ ३१ ॥

[ विन्ध्यारोहणालापं पल्ली मा करोतु ग्रामणीः स्वसिति ।  
प्रत्युज्जीवितो यदि कथमपि शृणोति तज्जीवितं मुञ्चति ॥ ]

अरे गाँव वालों ! विन्ध्य पर्वत पर जाकर छिप जाने की चर्चा मत करो, अभी ग्रामणी की साँसें चल रही हैं । यदि किसी प्रकार सचेत हो जाएँगे तो भी यह सुनकर उनका प्राणान्त हो जायगा ॥ ३१ ॥

अप्पाहेइ मरन्तो पुत्तं पल्लीवई पअत्तेण ।  
मह णामेण जह तुमं ण लज्जसे तह करेज्जासु ॥ ३२ ॥

[ शिक्षयति म्रियमाणः पुत्रं पल्लीपतिः प्रयत्नेन ।  
मम नाम्ना यथा त्वं न लज्जसे तथा करिष्यसि ॥ ]

मृत्युशैया पर पड़ा हुआ पल्ली पति बड़े कष्ट से पुत्र को शिक्षा दे रहा है—  
“बेटा ! वही करना, जिससे तुम्हें मेरे नाम से लज्जित न होना पड़े” ॥ ३२ ॥

अणुमरणपत्थिआए पच्चागअजीविए पिअमम्मि ।  
वेहव्वमण्डणं कुलवहूअ सोहग्गअं जाअं ॥ ३३ ॥

[ अनुमरणप्रस्थितायाः प्रत्यागतजीविते प्रियतमे ।  
वैधव्यमण्डनं कुलवध्वाः सौभाग्यकं जातम् ॥ ]

सती होने के लिए प्रस्थान करने वाली बहू के वैधव्य की भूषा पति के पुनरुज्जीवित हो जाने पर सौभाग्य-सूचक हो गई ॥ ३३ ॥

मधुमच्छिआइ दट्टं दट्टूण मुहं पिअस्स सूणोट्ठं ।  
ईसालुई पुलिन्दी रुक्खच्छाअं गआ अणमं ॥ ३४ ॥

[ मधुमक्षिकया दष्टं दृष्ट्वा मुखं प्रियस्योच्छूनोष्ठम् ।  
ईर्ष्यालुः पुलिन्दी वृक्षच्छायां गतान्याम् ॥ ]

मधु-मक्खी के डंक मार देने से सूजा हुआ प्रिय का अधर देखकर पुलिन्द युवती डاه से अन्य वृक्ष की छाया में चली गई ॥ ३४ ॥

धण्णा वसन्ति णीसङ्कमोहणे बहलपत्तलवइम्मि ।  
वाअन्दोलणओणविअवेणुगहणे गिरिग्गाम ॥ ३५ ॥

[ धन्या वसन्ति निःशङ्कमोहन बहलपत्रलवृतौ ।  
वातान्दोलनावनामितवेणुगहने गिरिग्रामे ॥ ]

जहाँ बाँसों का वन पवन के झोंकों से झुक जाता है, जो घने पत्तों से घिरा रहता है, जहाँ प्रेमियों की रति-लीला निश्चिन्त भाव से हुआ करती है, उस पर्वतीय गाँव के निवासी धन्य हैं ! ॥ ३५ ॥

**पप्फुल्लघणकलम्बा णिद्धोअसिलाअला मुइअमोरा ।  
पसरन्तोज्झरमुहला ओसाहन्ते गिरिगामा ॥ ३६ ॥**

[ प्रोत्फुल्लघनकदम्बा निर्धौतशिलातला मुदितमयूराः ।  
प्रसरन्निर्झरमुखरा उत्साहयन्ति गिरिग्रामाः ॥ ]

जहाँ घने कदम्ब खिलते हैं, शिलातल धुले रहते हैं, मयर मुदित रहते हैं, निर्झर कोलाहल करते हैं, वे पर्वतों के अंचल में बसे हुए गाँव मन में एक उत्साह उत्पन्न कर देते हैं ॥ ३६ ॥

**तह परिमलिआ गोवेण तेण हत्थं पि जाण ओल्लेइ ।  
स च्चिअ धेणू एल्लि पेच्छसु ! कुडदोहिणी जाआ ॥ ३७ ॥**

[ तथा परिमलिता गोपेन तेन हस्तमपि या नाद्रयति ।  
सैव धेनुरिदानीं प्रेक्षध्वं कुटदोहिणी जाता ॥ ]

जो कभी दुहने वाले का हाथ भी भिगो नहीं पाती थी, उसी गाय को कुशल गोप ने ऐसे ढंग से दुहा कि अब एक घड़ा दूध देने लगी । ३७ ॥

**धवल्लो जिअइ तुह कए, धवलस्स कए जिअन्ति गिट्ठीओ ।  
जिअ तम्बे ! अम्ह वि जीविण्ण गोट्टं तुमाअत्तं ॥ ३८ ॥**

[ धवल्लो जीवति तव कृते धवलस्य कृते जीवन्ति गृष्ट्यः ।  
जीव हे गौः अस्माकमपि जीवितेन गोष्ठं त्वदायत्तम् ॥ ]

तेरे लिए हो घोंरा बैल जी रहा है और घोंरे बैल के लिये प्रथम-प्रसूता गायें जीवित हैं । हे गाय ! तू जोती रह, हमारी गोशाला तेरे ही अधीन है ॥ ३८ ॥

**अग्घाइ, छिवइ, चुम्बइ, ठेवइ, हिअअम्मि जणिअरोमञ्चो ।  
जाआकवोलसरिसं पेच्छह ! पहिओ मह्हुअपुप्फं ॥ ३९ ॥**

[ आजिघ्नति स्पृशति चुम्बति स्थापयति हृदये जनितरोमाञ्चः ।

जायाकपोलसदृशं पश्यत पथिको मधूकपुष्पम् ॥ ]

प्रिया के कपोल के समान मधूक-पुष्प को देखते ही पथिक पुलकित होकर कभी उसे सूँघता है, कभी छूता है, कभी चूमता है और कभी छाती से लगा लेता है ॥ ३९ ॥

उअ ! ओल्लिज्जइ मोहं भुअंगकित्तीअ कडअलगाइ ।

ओज्झरधारासद्वालुएण सीसं वणगएण ॥ ४० ॥

[ पश्याद्रीक्रियते मोघं भुजङ्गकृत्तौ कटकलग्नायाम् ।

निर्झरधाराश्रद्धालुकेन गीर्षं वनगजेन ॥ ]

पर्वत के नितम्ब से लटकती हुई सर्प की कँचुली को झरने की धारा समझ कर बनौला हाथी व्यर्थ अपना मस्तक भिगो रहा है ॥ ४० ॥

कमलं मुअन्त महुअर पिवकइत्थाणं गन्धलोहेण ।

आलेखलड्डुअं पामरो व्व छिविऊण जाणिहिसि ॥ ४१ ॥

[ कमलं मुञ्चन्मधुकर पक्ककपित्थानां गन्धलोभेन ।

आलेख्यलड्डुकं पामर इव स्पृष्ट्वा ज्ञास्यसि ॥ ]

अरे मधुकर ! तुम पके कपित्थ की सुगन्ध के लोभ में कमल को त्याग कर मूढ़ों के समान चित्र का लड्डू छूने पर ही जान पाओगे ॥ ४१ ॥

गिज्जन्ते मङ्गलगाइआहिं वरगोत्तविण्णअण्णाए ।

सीउं व णिग्गओ, उअह ! होन्तवहुआइ रोमञ्चो ॥ ४२ ॥

[ गीयमाने मङ्गलगायिकाभिवरगोत्रदत्तकर्णयाः ।

श्रोतुमिव निर्गतः पश्यत भविष्यद्वधकाया रोमाञ्चः ॥ ]

जब स्त्रियाँ मंगल गाने लगीं तो वर का नाम जानने के लिये जिसने अपने कान लगा दिये थे, उस कन्या के रोमांच मानों संगीत सुनने के लिए बाहर निकल आये ॥ ४२ ॥

मण्णे आअण्णन्ता आसण्णविआहमङ्गलुगाइइं ।

तेहिं जुअणेहिं समं हसन्ति म वेअसकुडङ्गा ॥ ४३ ॥

[ मन्ये आकर्णयन्त आसन्नविवाहमङ्गलोद्गीतम् ।

तैर्युवभिः समं हसन्ति मां वेतसतिकुञ्जाः ॥ ]

मैं समझती हूँ, विवाह-वेला के मंगल-गीतों को सुन कर बेटों का कुंज उन युवकों के साथ मेरी हँसी उड़ा रहा है ॥ ४३ ॥

उअगअचउत्थिमङ्गलहोन्तविओअसविसेसलगोहि ।

तीअ वरस्स अ सेअंसुएहिं रुणं व हत्थोहिं ॥ ४४ ॥

[ उपगतचतुर्थीमङ्गलभविष्यद्वियोगसविशेषलगनाभ्याम् ।

तस्या वरस्य च स्वोदाश्रुभी रुदितमिव हस्ताभ्याम् ॥

आगामी चतुर्थी मंगल के दिन होने वाले वियोग की शंका से जो अधिक दृढ़ता से पकड़े गये थे, वर-वधू के वे हाथ मानों सस्वेद के आँसू बहाकर रो पड़े ॥ ४४ ॥

ण अ विट्ठि णेइ, मुहं ण अ छिविअं वेइ, णालवइ कि पि ।

तह वि हु किं पि रहस्सं णववहुसङ्को पिओ होइ ॥ ४५ ॥

[ न च दृष्टिं नयति मखं न च स्पृष्टुं ददाति नालपति किमपि ।

तथापि खलु किमपि रहस्यं नववधूसङ्गं प्रियो भवति ॥ ]

यद्यपि नव वधू सामने दृष्टि नहीं करती, मुँह का स्पर्श नहीं करने देती और बोलती भी नहीं, फिर भी पता नहीं कौन सा ऐसा रहस्य है कि उसका संग मनोहर लगता है ॥ ४५ ॥

अलिअपसुत्तवलन्तम्मि णववरे, णववहुअ वेवन्तो ।

संवेल्लिओरुसंजमिअवत्थगण्ठि गओ हत्थो ॥ ४६ ॥

[ अलीकप्रसुप्तवलमाने नववरे नववध्वा वेपमानः ।

संवेष्टितोरुसंयमितवस्त्रग्रन्थि गतो हस्तः ॥ ]

शूठमूठ सोये हुए पति के करवट लेते ही बहू का कपित हाथ सटायी हुई जाँचों से नियन्त्रित नीवी की गाँठ पर चला गया ॥ ४६ ॥

पुच्छिज्जन्ती ण भणइ, गहिआ पप्फुरइ, चुम्बिआ रुअइ ।

तुण्हक्का णववहुआ कआवराहेण उवऊढा ॥ ४७ ॥

[ पुच्छमाना न भणति गृहीता प्रस्फुरति चुम्बिता रोदिति ।

तूष्णीका नववधूः कृतापराधेनोपगूढा ॥ ]

जिसने बिना समझे-बूझे आलिंगन कर लिया है, उस अपराधी पति के बुलाने पर भी चुपचाप खड़ी हुई नव-वधू नहीं बोलती, पकड़ने पर हट जाती है और चुमने पर रोने लगती है ॥ ४७ ॥

तत्तो च्चिअ होन्ति कहा, विअसन्ति तर्हि, मर्हि समप्पयन्ति ।  
किं, मण्णे, माउच्छा ! एककजुआणो इमो गामो ? ॥ ४८ ॥

[ तत एव भवन्ति कथा विकसन्ति तत्र तत्र समाप्यते ।

किं मन्ये मातृश्वसः एकयुवकोऽयं ग्रामः ॥ ]

वहीं से बातें निकलती हैं, वहीं फँसती है, वहीं समाप्त हो जाती है, मौसी !  
मैं समझती हूँ, इस गाँव में एक ही युवक रह गया है ॥ ४८ ॥

जाणि वअणाणि अम्हे वि जम्पिओ, ताई जम्पइ जणो वि ।  
ताई च्चिअ तेण पजम्पिआई हिअअं सुहावेन्ति ॥ ४९ ॥

[ यानि वचनानि वयमपि जल्पामस्तानि जल्पति जनोऽपि ।

तान्यव तेन प्रजल्पितानि हृदयं सुखयन्ति ॥ ]

वही बात मैं बोलती हूँ और वही अन्य लोग भी बोलते हैं किन्तु वही बात  
जब उनके मुँह से निकलती है, तो हृदय तृप्त हो जाता है ॥ ४९ ॥

सव्वाअरेण मग्गह पिअं जणं जइ सुहेण वो कज्जं ।  
जं जरस हिअअदइअं तं ण सुहं जं तर्हि णत्थि ॥ ५० ॥

[ सर्वादिरेण मृगयध्वं प्रियं जनं यदि सुखेन वः कार्यम् ।

यद्यस्य हृदयदयितं तन्न सुखं यत्तत्र नास्ति ॥ ]

यदि सुखी होना चाहती हो तो आदर पूर्वक उसे ढूँढ़ो । जो जिसका हृदय  
वल्लभ हो जाती है, संसार का कोई भी ऐसा सुख नहीं, जो उसमें न हो ॥ ५० ॥

दीसन्तो दिट्ठिसुओ चिन्तिज्जन्तो मणवल्लहो, अत्ता ! ।  
उल्लावन्तो सुइसुहो पिओ जणो णिच्चरमणिज्जो ॥ ५१ ॥

दृश्यमानो दृष्टिसुखश्चिन्त्यमानो मनोवल्लभः श्वश्रु ।

उल्लप्यमानः श्रुतिसुखः प्रिय जनो नित्यरमणीयः ॥ ]

आर्ये देखने पर आँखों को सुखद, चिन्तन करने पर हृदय को प्रिय और  
बातचीत करने पर कानों को तृप्त कर देने वाले प्रेमोजन सदैव रमणीय होते  
हैं ॥ ५१ ॥

ठाणढभट्टा परिगलिअपोणआ उण्णईअ परिचत्ता ।  
अम्हे उण ठेरपओहर व्व उअरे च्चिअ णिसण्णा ॥ ५२ ॥

[ स्थानभ्रष्टाः परिगलितपीनत्वा उन्नत्या परित्यक्ताः ।

वयं पुनः स्थाविरापयोधरा इवोदर एव निषण्णाः ॥ ]

अपनी पीवरता एवं उन्नति से च्युत हो जाने पर हम लोग स्थान भ्रष्ट होकर बूढ़ा के पयोधरों के समान पेट का आश्रय ले रहे हैं ॥ ५२ ॥

**पच्छूसागअ ! रञ्जिअदेह ! पिआलोअ ! लोअणाणन्द ! ।**

**अणत्त खविअसठवरि ! णहभूसण ! दिणवइ णमो दे ॥ ५३ ॥**

[ प्रत्यूषागत रक्तदेह प्रियालोक लोचनानन्द ।

अन्यत्रक्षपितशर्वरीक नभोभूषण दिनपते नमस्ते ॥ ]

अरुणा वर्णा ! प्रियदर्शन ! नयनानन्द ! नभ भूषण ( श्लेष से नखभूषण ) अन्यत्र रात्रि बिताकर प्रत्यूषवेला में पधारे हुए दिनपति । ( श्लेष से दिन में ही पति ) तुम्हें नमस्कार है ॥ ५३ ॥

**विअरोअसुरअलेहल ! पुच्छसि मह कोस गबभसंभूइं ? ।**

**ओअत्ते कुम्भमुहे जललवकणिआ वि किं ठाइ ? ॥ ५४ ॥**

[ विपरीतसुरतलम्पट पृच्छसि मम किमिति गर्भसंभूतिम् ।

अपवृत्ते कुम्भमुखे जललवकणिकापि किं तिष्ठति ॥ ]

विपरीत-रति का रस लूटने वाले रसिक ! मुझसे गर्भ के सम्बन्ध में क्या पूछते हो ? आँधे घड़े में क्या एक बूँद भी पानी ठहर सकता है ? ॥ ५४ ॥

**अच्चासण्णविवाहे समं जसोआइ तरुणगोवीहि ।**

**वड्ढन्ते महुसहणे सम्बन्धा णिण्हुविज्जन्ति ॥ ५५ ॥**

[ अत्यासन्नविवाहे समं यशोदया तरुणगोपीभिः ।

वर्धमाने मधुमथने सम्बन्धा निन्हूयन्ते ॥ ]

बढ़ते हुए कन्हैया जब विवाह योग्य हो गये तो तरुण गोपियाँ यशोदा से अपना पुराना सम्बन्ध छिपाने लगीं ॥ ५५ ॥

**जं जं आलिहइ मणो आसावट्टीहिँ हिअअफलअम्मि ।**

**तं तं बालो व्व विही णिहुअं हसिऊण पम्हुसइ ॥ ५६ ॥**

[ यद्यदालिखति मन आशार्वातिकाभिर्हृदयफलके ।

तत्तद्वाल इव विधिर्निभृतं हसित्वा प्रोञ्छति ॥ ]

मन हृदय फलक पर आशा की तुलिका से जो कुछ भी लिख जाता है, विघाता उसे एकान्त में हँस कर बालक की तरह पोंछ देता है ॥ ५६ ॥



अणुहृतो करफंसो सअलअलापुण्ण ! पुण्णदिअहम्मि ।  
वीआसङ्गकिसङ्गअ ! एत्ति तुह वन्दमो चलणं ॥ ५७ ॥

[ अनुभूतः करस्पर्शः सकलकलापूर्णं पूर्णदिवसे ।  
द्वितीयासङ्गकृशाङ्ग इदानीं तव वन्दामहे चरणौ ॥ ]

पूर्णिमा के दिन जब तुम समस्त कलाओं से पूर्ण थे, तब मैंने तुम्हारे करों के स्पर्श का अनुभव किया था । आज द्वितीया के सम्पर्क से क्षीण हो जाने पर तुम्हारे चरणों को वन्दना करती हूँ ॥ ५७ ॥

दूरन्तरिए वि पिए कह वि णिअत्ताइँ मज्झ णअणाइँ ।  
हिअअं उण तेण समं अज्ज वि अणिवारिअं भमइ ॥ ५८ ॥

[ दूरान्तरेऽपि प्रिये कथमपि निर्वर्तिते मम नयने ।  
हृदयं पुनस्तेन सममद्याप्यनिवारितं भ्रमति ॥ ]

प्रिय के ओझल हो जाने पर मेरी आँखें तो किसी प्रकार लौट आईं किन्तु हृदय आज भी उन्हीं के साथ यात्रा कर रहा है ॥ ५८ ॥

तस्स कहाकण्टइए ! सद्दाअण्णणसमोसरिअकोवे ! ।  
समुहालोअणकम्पिरि ! उवऊढा किं पिवज्जिह्हिसि ॥ ५९ ॥

[ तस्य कथाकण्टकिते शब्दाकर्णनसमपसृतकोपे ।  
संमुखालोकनकम्पनशीले उपगूढा किं प्रपत्स्यसे ॥ ]

अरी ! तुम तो उनकी चर्चा करते ही पुलकित हो गई, शब्द सुनते ही कोप छोड़ बैठी और सम्मुख देखते ही कांपने लगी, आलिंगन करने पर तो पता नहीं, तुम्हारी क्या दशा हो जायगी ? ॥ ५९ ॥

भरणमिअणीलसाहगखलिअचलणद्धविहुअवक्खउढा ।  
तरुसिहरेसु विहंगा कह कह वि लहन्ति संठाणं ॥ ६० ॥

[ भरणमितनीलशाखाग्रस्खलितचरणार्थविधुतपक्षपुटाः ।  
तरुशिखरेषु विहंगाः कथं कथमपि लभन्ते संस्थानम् ॥ ]

भार से झुकी हुई नीली शाखाओं पर थोड़ा पैर फिसल जाने से अपना पंख फड़फड़ाते हुए विहंगी तट शिखरों पर किसी प्रकार बसेरा ले रहे हैं ॥ ६० ॥

अहरमहुपाण धारिल्लिआइ जं च रमिओ सि सविसेसं ।  
असइ अलाज्जिरि बहुसिखरि ति मा गाह ! मण्णुहिसि ॥ ६१ ॥

[ अधरमधुपानलालसया यच्च रमितोऽसि सविशेम् ।

असती अलज्जाशीला बहुशिक्षितेति मा नाथ मंस्थाः ॥ ]

अधर-मधु का पान करने की लालसा से जो तुमने मेरे साथ विशेष रमण किया है, प्राणेश ! तो मुझे कहीं व्यभिचारिणी, निर्लज्ज, और बहु शिक्षिता न समझ लेना ॥ ६१ ॥

**खाणेण अ पाणेण अ तह गहिओ मण्डलो अडअणाए ।**

**जह जारं अहिणन्दः भुक्कइ घरसामिए एन्ते ॥ ६२ ॥**

[ खादनेन च पानेन च तथा गृहीतो मण्डलीऽसत्या ।

यथा जारमभिनन्दति भुक्कति गृहस्वामिन्येति ॥

व्यभिचारिणी ने कुत्ते को खिला-पिलाकर ऐसा वशीभूत कर लिया था कि वह जार का अभिनन्दन करता था और गृह स्वामी के आने पर भूकने लगता था ॥ ६२ ॥

**कण्डन्तेण अकण्डं पल्लीमज्झम्मि विअडकोअण्डं ।**

**पइमरणाहिं वि अहिअं वाहेण रुआविआ अत्ता ॥ ६३ ॥**

[ कण्डूयता अकाण्डे पल्लीमध्ये विकटकोदण्डम् ।

पतिमरणादप्यधिकं व्याधेन रोदिता स्वश्रुः ॥ ]

गाँव में भारी घनुष को अकारण छील कर पतला करते हुए अपने पुत्र को देखकर सास इतना रोई जितना पति के मरने पर भी न रोई थी ॥ ६३ ॥

**अम्हे उज्जुअसीला, पिओ वि पिअसहि ! विआरपरिओसो ।**

**ण ह्ण अण्णा का वि गई, वाहोहा कहँ पुसिज्जन्तु ? ॥ ६४ ॥**

[ वयं ऋजुकशीलाः प्रियोऽपि प्रियसखि विकारपरितोषः ।

न खल्वन्या कापि गतिर्बाष्पौघाः कथं प्रोञ्छयन्ताम् ॥ ]

मैं हाव-भाव से वंचित बिल्कुल भोली हूँ और मेरे पति कृत्रिम हाव-भाव से ही सन्तुष्ट रहते हैं। हाय ! कोई चारा नहीं है, आँखों के उमड़े हुए आँसू कैसे पोंछू ? ॥ ६४ ॥

**धवलो सि जइ वि सुन्दर ! तह वि तुए मज्झ रज्जिअं हिअअं ।**

**राअभरिए वि हिअए सुहअ ! णिहत्तो ण रत्तो सि ॥ ६५ ॥**

[ धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर तथापि त्वया मम रञ्जितं हृदयम् ।

रागभृतेऽपि हृदये सुभग निहितो न रक्तोऽसि ॥ ]

यद्यपि तुम उज्ज्वल हो, प्राणेश ! फिर भी तुमने मेरा हृदय रंजित कर दिया है और मैंने तुम्हें आरक्त हृदय में छिपाकर रखा तो भी तुम अनुरक्त नहीं हुए ॥ ६५ ॥

**चञ्चुपुडाअविअलिअसहआररसेण सित्तदेहस्स ।**

**कीरस्स मग्गलग्गं गन्धन्धं भमइ भमरउलं ॥ ६६ ॥**

[ चञ्चुपुटाहतविगलितसहकाररसेन सिक्तदेहस्य ।

कीरस्य मार्गलग्नं गन्धान्धं भ्रमति भ्रमरकुलम् ॥ ]

चंचु पुटों के आघात से विगलित, रसाल के रस से, जिसका सम्पूर्ण शरीर अभिषिक्त हो गया है, सुगन्ध से अन्धे होकर भौंरे उस कीर के पीछे उड़ रहे हैं ॥ ६६ ॥

**एत्थ णिमज्जइ अत्ता, एत्थ अहं, परिअणो सअलो ।**

**पन्थिअ ! रत्तीअन्धअ ! मा महँ सअणे णिमज्जिहिसि ! ॥ ६७ ॥**

[ अत्र निमज्जति श्वश्रूत्राहमत्र परिजनः सकलः ।

पथिक रात्र्यन्धक मा मम शयने निमङ्क्षयासि ॥ ]

यहाँ सास सोती है, यहाँ मैं और यहाँ सब नीकर-चाकर । बटोही ! तुम्हें रतौंधी होती है, देखना, मेरी शैया पर न आ जाना ॥ ६७ ॥

**परिओससुन्दराइं सुरएसु लहन्ति जाइँ सोक्खाइं ।**

**ताइं च्चिअ उण विरहे खाउग्गिण्णाइँ कीरन्ति ॥ ६८ ॥**

[ परितोषसुन्दराणि सुरतेषु लभन्ते यानि सौख्यानि ।

तान्येव पुनर्विरहे खादितोद्ग्रीणानि कुर्वन्ति ॥ ]

सुन्दरियाँ सुरत में जो सन्तोषपूर्ण सुन्दर सुख प्राप्त करती हैं, विरह में उन्हीं का वमन करती हैं ॥ ६८ ॥

**मग्गं च्चिअ अलहन्तो हारो पीणुण्णआणँ थणआणं ।**

**उव्विग्गो भमइ उरे जमुणाणइफेणपुञ्जो व्व ॥ ६९ ॥**

[ मार्गमिवालभमानो हारः पीनोन्नतयोः स्तनयोः ।

उद्विग्नो श्रमत्युरसि यमुनानदीफेनपुञ्ज इव ॥ ]

हार, ऊँचे उठे हुए पीन उरोजों पर मानों मार्ग न पाकर यमुना के फेन—पुंज सा, वक्षःस्थल पर उदास फिर रहा है ॥ ६९ ॥

एवकेण वि वडबीअंकुरेण सअलवणराइमज्झम्मि ।  
तह तेण कओ अग्पा जह सेसदुमा तले तस्स ॥ ७० ॥

[ एकेनापिवटबीजाङ्कुरेण सकलवनराजिमध्ये ।  
तथा तेन कृत आत्मा यथा शेषदुमास्तले तस्य ॥ ]

नन्हें से वट-बीज से निकले हुए अकेले अंकुर ने सम्पूर्ण वन में ऐसा विस्तार कर लिया कि अब सारे वृक्ष उसके नीचे आ गये ॥ ७० ॥

जे जे गुणिणो, जे जे अ चाइणो, जे विडड्हविण्णाणा ।  
वरिद्द ! रे विअक्खण ! ताणँ तुमं साणुराओ सि ॥ ७१ ॥

[ ये ये गुणिनो ये ये च यत्यागिनो ये विदग्धविज्ञानाः ।  
दारिद्र्य रे विचक्षण तेषां त्वं सानुरागमसि ॥ ]

हे दारिद्र्य ! तुम बड़े ही बुद्धिमान हो क्योंकि जितने गुणी, त्यागी, रसिक और विद्वान् हैं, उन पर अधिक स्नेह करते हो ॥ ७१ ॥

जह कोत्तिओ सि सुन्दर ! सअलतिहीचंददंसणसुहाणं ।  
ता मसिणं मोइजजन्तकञ्चुअं पेक्खसु मुहं से ॥ ७२ ॥

[ यदि कौतुकिकोऽसि सुन्दर सकलतिथिचन्द्रदर्शनमुखानाम् ।  
तन्मसृणं मोच्यमानकञ्चुकं प्रेक्षस्व मुखं तस्याः ॥ ]

प्यारे ! तुम्हें यदि सभी तिथियों के चन्द्र-दर्शन का सुख पाने का कौतुक हो तो धीरे-धीरे कंचुक उतारने वाली महिला का मुख देखो ॥ ७२ ॥

अइरा होहिनत्ति पहा मणोरहाणं पि दुल्लंघा ॥ ७३ ॥

[ समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्द-मन्दसञ्चाराः ।  
अचिराद्भविष्यति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लब्ध्याः ॥ ]

जिन पर ऊँचो-नीची भूमिका भेद मिट गया है और पथिक जहाँ धीरे-धीरे चलते हैं, शीघ्र ही उन बरसाती मार्गों को मनोरथ भी लाँघ न सकेंगे ॥ ७३ ॥

अइदीहराईं बहुए ! सीसे दीसन्ति वंसवत्ताईं ।  
भणिए भणामि अत्ता ! तुम्हाणँ वि पण्डुरा पुट्ठी ॥ ७४ ॥

[ अतिदीर्घाणि वध्वाः शीर्षे दृश्यन्ते वंशपत्राणि ।  
भणिते भणामि श्वश्रु युष्माकमपि पाण्डुरं पृष्ठम् ॥ ]

‘बहू को वेणी में बाँस के बड़े-बड़े पत्ते फँसे दिखायी देते हैं, यह सुनकर वह बोली—आर्ये ! तुम्हारी पीठ भी पाण्डुर ( फल से उजला है ) ॥ ७४ ॥

अत्थक्करुसणं खणपसिज्जं अलिअवअणणिब्बन्धो ।

उम्मच्छरसंतावो पुत्तअ ! पअवी सिणेहस्स ॥ ७५ ॥

[ आकस्मिकरोषकरणं क्षणप्रसादनमलीकवचनानिबन्धः ।  
उन्मत्सरसंतापः पुत्रक पदवी स्नेहस्य ॥ ]

आकस्मिक रोष करना, क्षण भर में प्रसन्न होना, झूठे वचनों से आग्रह करना और ईर्ष्या से सन्तप्त होना यही प्रेम का मार्ग है ॥ ७५ ॥

पिज्जइ कण्णज्जलिहिं जणरवमिलिअं वि तुज्ज संलावं ।

बुद्धं जणसमिलिअं सा बाला राअहंसि व्व ॥ ७६ ॥

[ पिबति कर्णाञ्जलिभिर्जनरवमिलितमपि तव संलापम् ।  
दुग्धं जलसंमिलितं सा बाला राजहंसीव ॥ ]

वह बाला जनक में मिले हुए भी तुम्हारे वचन कानों की अंजलि में भर कर वैसे ही पी रही है जैसे जल में मिले हुए दूध को राजहंसी पीती है ॥ ७६ ॥

अइ उज्जुए ! ण लज्जसि पुच्छिज्ज्वन्ती पिअस्स चरिआइं ।

सव्वङ्गसुरहिणो मरुवअस्स किं कुसुमरिद्धीहि ? ॥ ७७ ॥

[ अयि ऋजुके न लज्जसे पृच्छन्ती प्रियस्य चरितानि ।

सर्वाङ्गसुरभेर्मरुवकस्य किं कुसुमद्विभिः ॥ ]

अरी सरले ! तू प्रिय का चरित पूछते हुए लज्जित नहीं होती जिसके सभी अंग सुरभिपूर्ण हैं, उस मरुवक ( मरुआ ) का पुष्पों से क्या प्रयोजन ? ॥ ७७ ॥

मुद्धे ! अपत्तिअन्तो पवालअंकुरअवण्णलोहिअए ।

णिद्धोअधाउराए कीस सहत्थे पुणो धुअसि ? ॥ ७८ ॥

[ मुग्धेऽप्रत्ययन्ती प्रवालान्ङ्कुरवर्णलोहितौ ।

निर्धातधातुरागौ किमिति स्वहस्तौ पुनर्धावयसि ॥ ]

मुग्धे ! जिसमें लगा हुआ लाल रंग घुल जाने पर भी तुझे विश्वास नहीं हो रहा है, उन नव पल्लव के समान अरुण हाथों को बार-बार क्यों धो रही हो ? ॥ ७८ ॥

उअ ! सिन्धवपव्वअसच्छहाइं धुअतूलपुञ्जसरिसाइं ।  
सोहन्ति सुअण्ण मुक्कोअआइं सरए सिअष्भाइं ॥ ७९ ॥

[ पश्य सैन्धवपर्वतसदृक्षाणि धुततूलपुञ्जसदृशानि ।  
शोभन्ते सुतनु मुक्तादकानि शरदि सिताभ्राणि ॥ ]

सुन्दरी ! देखो, शरद् में पानी बरसा कर जो रिक्त हो गये हैं वे शुभ्र मेघ  
यों शोभित हो रहे हैं, जैसे नमक के पहाड़, धुती हुई रूई की राशि ॥ ७९ ॥

आउच्छन्ति सिरैहिं विवलिहिं उअ ! खडिएहिं णिज्जन्ता ।  
णिप्पच्छिमवलिअपलोइएहिं महिसा कुडङ्गाइं ॥ ८० ॥

[ आपृच्छन्ति शिरोभिर्विवलितैः पश्य खड्गिकैर्नीयमानाः ।  
निःपश्चिमवलितप्रलोकितैर्महिषाः कुञ्जान् ॥ ]

देखो, पशु-भक्षियों के द्वारा ले जाये जाते हुए भैसे अपनी गरदन मोड़ कर  
जन्म-भूमि के कुंजों को अन्तिम बार घूम-घूमकर, निहारते हुए विदा माँग  
रहे हैं ॥ ८० ॥

पुसउ मुहं ता पुत्ति ! अ वाहोअरणं विसेसरमणिज्जं ।  
मा एअं चिअ मुहमण्डणं त्ति सो काहिइ पुणो वि ॥ ८१ ॥

[ प्रोच्छस्व मुखं तत्पुत्ति च (पुत्रिके) वाष्पोपकरणं विशेषरमणीयम् ।  
मा इदमेव मुखमण्डनमिति करिष्यसि पुनरपि ॥ ]

बेटी ! आँसुओं की भूषा से जो विशेष रमणीय हो गया है, अब वह मुख  
पोंछ डालो किन्तु आँसुओं को ही मुख का शृंगार समझ कर उससे फिर कभी  
अपना मुख न सजाना ॥ ८१ ॥

मज्झे पअणुअपद्ध अवहोवासेसु साणचिक्खिललं ।  
गामस्स सीससीमन्तअं व रच्छामुहं जाअं ॥ ८२ ॥

[ मध्ये प्रतनुक पद्धमुभयोः पार्श्वयोः श्यातकर्दमम् ।  
ग्रामस्य शीर्षसीमन्तमिव रथ्यामुखं जातम् ॥ ]

जिसके बीच में थोड़ा सा पंक रह गया है और दोनों किनारे सूख गये हैं ।  
वह गली गाँव के शीर्ष-सीमन्त ( माँग ) सी हो गई है ॥ ८२ ॥

अवरङ्गागअजामाउस्स विउणेइ मोहणुक्कण्ठं ।  
वहुआइ घरपलोहरमज्जणपिसुणो वलअसद्दो ॥ ८३ ॥

[ अपराह्लागतजामातुद्विगुणयतिगुणयति मोहनोत्कण्ठाम् ।  
वध्वा गृहपश्चाद्भागमज्जनपिशुनो वलयशब्दः ॥ ]

घर के पिछवाड़े नहान की सूचना देने वाली बहू के कंकणों की झनकार दोपहर के बाद आये हुए दामाद की सूरत-तृष्णा दूनी कर देती है ॥ ८३ ॥

**जुज्झचवेडामोडिअज्जरकण्णस्स जुण्णमल्लस्स ।  
कच्छाबन्धो च्चिअ भीरुमल्लहिअअं समुक्खणइ ॥ ८४ ॥**

[ युद्धचपेटामोटितजर्जरकर्णस्य जीर्णमल्लस्य ।  
कक्षाबन्ध एव भीरुमल्लहृदयं समुत्खनति ॥

जिसके कान युद्ध की चपेट में उखाड़ने से जर्जर हो गये हैं, उस पुराने पहलवान को काछ बाँधते देखकर ही डरपोक प्रतिद्वन्द्वी का हृदय फट जाता है । ८४ ॥

**आणत्तं तेण तुमं पइणो पहएण षडहसद्देण ।  
मल्लि ! ण लज्जसि ? णच्चसि दोहग्गे पाअडिज्जन्ते ॥ ८५ ॥**

[ आज्ञप्तं तेन त्वां पत्या प्रहतेन पटहशब्देन ।  
मल्लि न लज्जसे नृत्यसि दौर्भाग्ये प्रकटीक्रियमाणे ॥ ]

अरी पहलवान की पत्नी ! पति के बजाये हुए ढोल के द्वारा तुम्हारे दुर्भाग्य की सूचना मिलने पर भी तुम नाचती ही रहती हो, लज्जित क्यों नहीं होती ? ॥ ८५ ॥

**मा वच्चइ वीसम्भं इमाणं बहुचाडुकम्मणिउणाणं ।  
णिव्वत्तिअकज्जपरम्मुहाणं सुणआणं व खलाणं ॥ ८६ ॥**

[ मा व्रजत विस्रम्भमेषां बहुचाडुकर्मनिपुणानाम् ।  
निर्वर्तितकार्यंपराड्मुखानां शूनकानामिव खलानाम् ॥ ]

जो कुत्तों की तरह खुशामद करना खूब जानते हैं और काम पूरा हो जाने पर मुँह फेर लेते हैं, उन खलों के पास विश्वस्त होकर मत जाओ ॥ ८६ ॥

**अण्णगामपउत्था कद्धन्ती मण्डलाणं रिउछोळि ।  
अक्खण्डिअसोहग्गा वरिससअं जिअउ मे सुणिआ ॥ ८७ ॥**

[ अन्यग्रामप्रस्थिता कर्षयन्ती मण्डलानां पंक्तिम् ।  
अखण्डितसौभाग्या वर्षशतं जीवतु मे शूनी ॥ ]

दूसरे गाँव को जाते समय जो अपने पीछे कुत्तों का झुण्ड लेकर चलती है, वह सदासुहागिन मेरी कुतिया सैकड़ों वर्ष जीती रहे ॥ ८७ ॥

सच्चं साहसु देअर तह तह चहुआरण सुणएण ।  
णिव्वत्तिअकज्जपरम्महत्तणं सिक्खिअं कत्तो ॥ ८८ ॥

[ सत्यं कथय देवर तथा चाटुकारकेण शुककेन ।  
निर्वीतितकार्यपराङ्मुखत्वं शिक्षितं कस्मात् ॥ ]

देवर ! सच बताओ, काम पूरा होने पर मुँह फेर लेना किस खुशामदी कुत्ते से सीखा है ॥ ८८ ॥

पिप्पणसस्सरिद्धी सच्छन्दं गाइ पामरो सरए ।  
दलिअणवशालितण्डुलधवलमिअङ्कासु राईसु ॥ ८९ ॥

[ निष्पन्नसस्यऋद्धिः स्वच्छन्दं गाइ पामरः शरदि ।  
दलितनवशालितण्डुलधवलमृगाङ्कासु रात्रिषु ॥ ]

जिसकी खेतो पक गई है, वह किसान तुरन्त कूटे हुए नये चावल के समान शुभ्र चाँदनी रात में स्वच्छन्द होकर गा रहा है ॥ ८९ ॥

अलिहिज्जइ पङ्कअले हलालिचलणेण फलमगोवोए ।  
केआरसोअरुम्भणत सट्ठिअ कोमलो चलणो ॥ ९० ॥

[ आलिख्यते पङ्कतले हलालिचललेन कलमगोप्याः ।  
केदारस्रोतोवरोधतिर्यक् स्थितः कोमलश्चरणः ॥ ]

घान की रखवाली करने वाली तरुणी का कोमल चरण—जो क्यारी में पानी भरा होने के कारण कीचड़ में तिरछा पड़ा हुआ था—हल जोतते समय मिटा जा रहा है ॥ ९० ॥

दिअहे दिअहे सूसइ सङ्केअअभङ्गवडिअसङ्का ।  
आवण्डुणअमुही कलमेण समं कलमगोवी ॥ ९१ ॥

[ दिवसे दिवसे शुष्यति सङ्केतकभङ्गवर्धिताशङ्का ।  
आपाण्डुरावनतमुखी कलमेन समं कलमगोपी ॥ ]

जिसे 'सहेट' के उजड़ जाने की चिन्ता है, पीला मुँह झुकाये वह शालि-रक्षिका घान के साथ दिन-दिन सूखती जा रही है ॥ ९१ ॥



णवकस्मिण हृषामरेण दट्ठूण पाउहारीओ ।  
मोत्तव्वे जोत्तअपगगहम्मि अवहासिणी मुक्का ॥ ९२ ॥

[ नवकर्मिणा पश्य पामरेण दृष्ट्वा भक्तहारिकाम् ।  
मोक्तव्ये योक्त्रमग्रहेऽवहासिनी मुक्ता ॥ ]

नये हलवाहे ने भात लाने वाली को देख कर जोत की रस्सी खोलने के बजाय नाथ ही खोल दी ॥ ९२ ॥

दट्ठूण हरिअदीअं गोसे णरजूरए हलिओ ।  
असईरहस्समगं तुसारधवले तिलच्छेत्ते ॥ ९३ ॥

[ दृष्ट्वा हरितदीर्घं प्रातर्नोतिखिद्यते हलिकः ।  
असतीरहस्यमार्गं तुषारधवले तिलक्षेत्रे ॥ ]

सबेरे ओस के कणों से उज्ज्वल तिल के खेत में, व्यभिचारिणी का हरा-हरा लम्बा-सा रहस्य मार्ग देखकर हलवाहा दुःखी नहीं होता ॥ ९३ ॥

सङ्केल्लिओ व्व णिज्जइ खण्डं खण्डं कओ व्व पीओ व्व ।  
वासागमम्मि मगो घरहुत्तसुहेण पहिएण ॥ ९४ ॥

[ सङ्कोचित इव नीयते खण्डं खण्डं कृत इव पीत इव ।  
वर्षागमे मार्गो गृहभविष्यत्सुखेन पथिकेन ॥ ]

भावी सुख की कल्पना से उस बटोही ने मानों राह ही छोटी बना दी, उसे पी लिया या उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ॥ ९४ ॥

धण्णा बहिरा अन्धा ते च्चिअ जीअन्ति माणुसे लोए ।  
ण सुणंति पिसुणवअणं खलाणं ऋद्धिं ण पेवखन्ति ॥ ९५ ॥

[ धन्या बधिरा अन्धास्त एव जीवन्ति मानुषे लोके ।  
न शृण्वन्ति पिशुनवचनं खलानामृद्धिं न प्रेक्षन्ते ॥ ]

मनुष्य लोक में वे बहरे और अन्धे लोग धन्य हैं जो दुष्टों की चुगली को नहीं सुनते और जो उनको समृद्धि को न देखते हुये जीवन जीते हैं ॥ ९५ ॥

एण्ह वारेइ जणो तइआ मूइल्लओ कंहि व्व गओ ।  
जाहे विसं व्व जाअं सव्वङ्गपहोळिरं पेम्म ॥ ९६ ॥

[ इदानीं वारयति जनस्तदा मूलकः कुत्रापि वा गतः ।  
यदा विषमिव जात सर्वाङ्गघूणितं प्रेम ॥ ]

जब प्रेम बिष की भाँति सर्वांग में फैल जाता है तब लोग उसका वारण करते हैं। ये लोग तब कहीं चले गये थे जब वह प्रारम्भ हो हुआ था ॥ ९६ ॥

**कहँ तंपि तुइ ण णाअं जह सा आसन्दिआणँ बहुआणं ।**

**काऊण उच्चवचिअं तुह दंसणलहला पडिआ ॥ ९७ ॥**

[ कथं तदपि त्वया न ज्ञातं यथा सा आसदिकानां बहूनाम् ।

कृत्वा उच्चावचिकां तव दर्शनलालसा पतिता ॥ ]

क्या तुमने इसे जाना कि तुम्हें देखने की लालसा में एक के ऊपर एक आसन्दी लगाकर चढ़ते हुये मैं गिर पड़ी थी ? ॥ ९७ ॥

**चोराणँ कामुआणँ अ पामरपहिआणँ कुक्कुडो वअइ ।**

**रे रमह वहह वाहयह एत्थ तणुआअए रअणी ॥ ९८ ॥**

[ चौरान्कामुकांश्च पामरपथिकांश्च कुक्कुटो वदति ।

रे रमत पहत वाह्यत अत्र तन्वी भवति रजनी ॥ ]

चोरों, कामीजनों और पथिकों को मुर्गा बांग देते हुये यह कहता है कि अब थोड़ी सी रात शेष रह गई है अतः वे क्रमशः चोरो का माल ले जायें, रमण कर लें और अपनी यात्रा पर चल दें ॥ ९८ ॥

**अण्णोण्णकडक्खन्तरपेसिअमेलीणदिट्ठिपसरणं ।**

**दो च्चिअ मण्णे कअभण्डणाइँ समहं पहसिआइँ ॥ ९९ ॥**

[ अन्योन्यकटाक्षान्तरप्रेषितमिलित्तदृष्टिप्रसरौ ।

द्वावपि मन्ये कृतकलहौ समकं प्रहसितौ ॥ ]

आपस में झगड़ने के बाद नायक और नायिका एक दूसरे को कटाक्ष से देखते और आँखें मिलते हुये मानो एक साथ ही हँस पड़े ॥ ९९ ॥

**संझागहिअजलञ्जलिपडिमासंकन्तगोरिमुहकमलं ।**

**सलिअं चिअ फुरिओट्टु विअलिअमन्तं हरं णमह ॥ १०० ॥**

[ संध्यागृहीतजलाञ्जलिप्रतिमासंक्रान्तगौरौमुखकमलम् ।

अलीकमेव स्फुरितोष्ठं विगलितमंत्रं हरं नमत ॥ ]

संध्या हेतु ली गई जलाञ्जलि में पार्वती के मुख को देखकर मिथ्या ही मंत्रविहीन कँपकँपाते होठों वाले शिव को नमन करो ॥ १०० ॥

इअ सिरि ह्यालविरए पाउअकव्वम्मि सत्तसए ।

सत्तमसअं समत्तं गाहाणं सहावरमणिज्जं ॥ १०१ ॥

[ इति श्रीहालविरचिते प्राकृतकाव्ये सप्तशते ।

सप्तमशतं समाप्तं गाथा स्वभावरमणीयम् ॥ ]

इस प्रकार श्रीहाल विरचित प्राकृत काव्य सप्तशतक का सुन्दर सप्तम शतक समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥



ॐ एसो कइणामंकिअ गाहापडिवद्धवडिढआमोओ ।

सत्तसअओ समत्तो सालाहणविरइओ कोसो ॥

[ एव कविनामाङ्कितगाथाप्रतिबद्धवर्षितामोदः ।

सप्तमशतकः समाप्तः शालवाहनविरचितः कोषः ॥ ]

इति पाठान्तरम् ॥

## हमारे महत्वपूर्ण प्रकाशन

1. Studies in Jain Philosophy — Dr. Nathmal Tatia Rs. 100.00
2. Jain Temples of Western India — Dr. Harihar Singh Rs. 200.00
3. Jain Epistemology — I. C. Shastri Rs. 150.00
4. Concept of Panchashila in Indian Thought —  
Dr. Kamala Jain Rs. 50.00
5. Concept of Matter in Jain Philosophy —  
Dr. J. C. Sikdar Rs. 150.00
6. Jaina Theory of Reality — Dr. J. C. Sikdar Rs. 150.00
7. Jaina Perspective in Philosophy and Religion —  
Dr. Ramjee Singh Rs. 100.00
8. Aspects of Jainology, Vol.1 to 5 ( Complete Set ) Rs. 1100.00
9. An Introduction to Jaina Sadhana —  
Dr. Sagarmal Jain Rs. 40.00
10. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास ( सात खण्ड ) सम्पूर्ण सेट Rs. 560.00
11. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास ( दो खण्ड ) Rs. 340.00
12. जैन प्रतिमा विज्ञान - डॉ० मारुतिनन्दन तिवारी Rs. 120.00
13. जैन महापुराण - डॉ० कुमुद गिरि Rs. 150.00
14. वज्जालग ( हिन्दी अनुवाद सहित ) - पं० विश्वनाथ पाठक Rs. 80.00
15. धर्म का मर्म - प्रो० सागरमल जैन Rs. 20.00
16. प्राकृत हिन्दी कोश - सम्पादक डॉ० के० आर० चन्द्र Rs. 120.00
17. स्याद्वाद और सप्तभंगी नय - डॉ० भिखारी राम यादव Rs. 70.00
18. जैन धर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ -  
डॉ० हीराबाई बोरदिया Rs. 50.00
19. मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म -  
डॉ० ( श्रीमती ) राजेश जैन Rs. 160.00
20. जैन कर्म-सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास -  
डॉ० रवीन्द्रनाथ मिश्र Rs. 100.00
21. महावीर निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श -  
भगवतीप्रसाद खेतान Rs. 60.00
22. गाथासप्तशती ( हिन्दी अनुवाद सहित ) -  
पं० विश्वनाथ पाठक Rs. 60.00
23. सागर जैन-विद्या भारती भाग १, २  
( प्रो० सागरमल जैन के लेखों का संकलन ) Rs. 200.00
24. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन - डॉ० फूलचन्द जैन Rs. 80.00
25. स्याद्वाद और सप्तभंगी - डॉ० भिखारी राम यादव Rs. 70.00
26. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन - डॉ० शिवप्रसाद Rs. 100.00

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी - ५